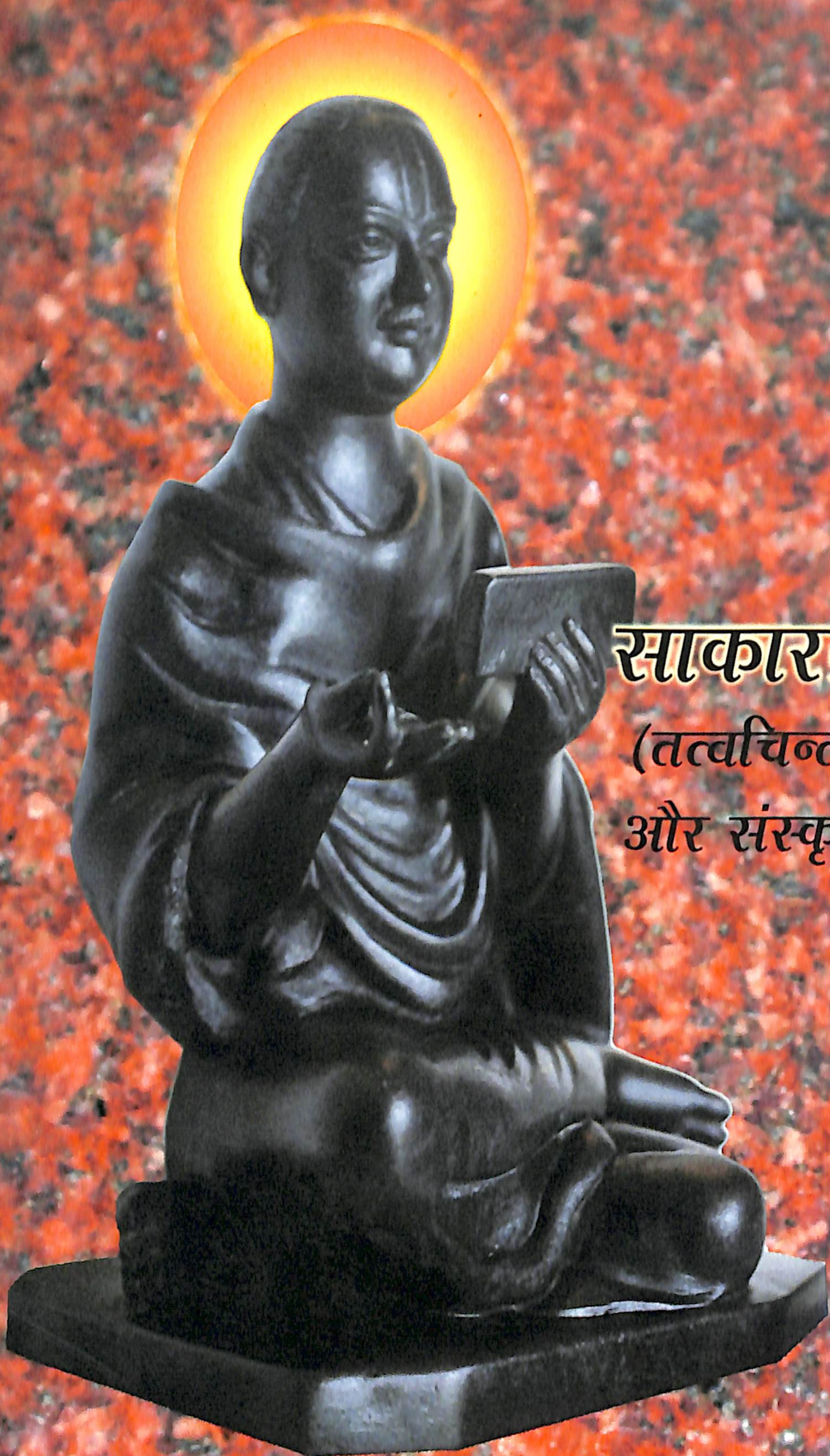


साकारब्रह्मवाद

(तत्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श)

गोस्वामी श्याममनोहर

साकार ब्रह्मवाद

साकार ब्रह्मवाद

(तत्त्वचिन्तन भक्ति संस्कृति विमर्श)

गोस्वामी श्याम मनोहर

साकार ब्रह्मवाद



साकार ब्रह्मवाद

(तत्त्वचिन्तन भक्ति संस्कृति विमर्श)

गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक : श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट,
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पुणे-बेंगलोर रोड़, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र. ४१६ ००८.

आलेखप्रस्तुति : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : भाद्रपदकृष्णा षष्ठी वि.सं. २०६६

कुल प्रति : १०००
(५०० प्रति अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के हेतु)

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : रमा आर्ट्स्,
४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.

पुरोवाक्

भारतीय परम्परामें दार्शनिक चिन्तनका सम्प्रदायकेन्द्रित बहुध्रुवीय विकास जितनी दिशाओंमें हुआ है, उन सभीको वेद-वेदांग, स्मृति और पुराणों में मूलित बताया जा सकता है. वैसी दार्शनिक परम्परायें जो अपनेको उपर्युक्त आर्ष स्रोतोंमें मूलित नहीं मानती हैं, उनमें भी सर्वज्ञप्रोक्त स्वतन्त्र आगमोंका विकास कालान्तरमें हुआ ही है. इस सन्दर्भमें महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय दर्शनोंकी ऐसी मूलगामी प्रतिबद्धताके बावजूद भी यहां परस्पर विरोधी और समानान्तर विचारोंका पल्लवन भी निर्बाध गतिसे होता रहा है और उन सबको उचित सम्मान तथा प्रश्रय भी मिला है. वास्तवमें देखा जाय तो पूर्वपक्षके प्रति स्वस्थ सहिष्णुता एवं सहृदयता को भारतीय दार्शनिक परम्पराकी अनुपम विशेषता कही जा सकती है. भारतीय परम्परामें धार्मिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक मान-मर्यादाओंकी सहिष्णुता रही है. इसका एक अन्तर्निहित कारण भारतीय दर्शनोंके मौलिक स्रोतोंका न्यूनाधिक रूपसे निर्वैयक्तिक प्रकृतिका होना है. 'निर्वैयक्तिक-प्रकृति'से हमारा तात्पर्य केवल अपौरुषेय मूलसे नहीं बल्कि पौरुषेय मूलसे भी है. ज्ञानके पौरुषेय स्रोतोंके प्रति भी निर्वैयक्तिक अभिनिवेश भारतीय दर्शनकी एक अनन्य विशेषता है जो सामी परम्पराके धर्मो एवं तदनुषंगी दर्शनों में दृष्टिगत नहीं होती. इसीके चलते भारतीय दर्शनोंकी सम्प्रदायकेन्द्रित लेकिन परस्पर खंडन-मंडनसे युक्त सुदीर्ध विकासमात्रामें गतिरोध कभी दार्शनिक कारणोंसे उत्पन्न नहीं हुआ, जब कि दार्शनिक दृष्टियां यहां लम्बे समय तक वाचिक परम्परामें नैष्ठिक रूप धारणकर जीवन पाती रही हैं.

उपर्युक्त टिप्पणीके द्वारा हम जिस बातकी ओर संकेत करना चाहते हैं वह यह कि भारतीय मूलके अधिकांश दार्शनिक सम्प्रदायोंके

साथ 'भारतीय' विशेषणका अर्थ क्या है और सम्प्रदाय किस अर्थमें भारतीयताका प्रतिनिधित्व करते हैं? सम्प्रति सार-संक्षेपमें इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनके अधिकांश सम्प्रदाय भारतीयताका प्रतिनिधित्व उसके भौगोलिक परिधिमें होनेके अर्थमें ही करते हैं. इसका अपवाद केवल वेदान्तकी विचारधारा और भावधारा प्रतीत होती है, जिसने भौगोलिकताकी सीमाको पार कर भारतीयताको तदात्मक प्रतिनिधित्व प्रदान किया है. दार्शनिक दृष्टिसे वस्तुत: भारतीयताका विशेषण 'वेदान्त' नहीं है बल्कि वेदान्तका विशेषण ही 'भारतीयता' बनती है. यही कारण है कि भारतके सांस्कृतिक जीवन और दार्शनिक मानस में वेदान्तकी प्रतिष्ठा एक दार्शनिक धर्मके रूपमें हुयी है. इस विचारधाराकी मूलभूत मान्यताओंमें मानवीय अनुभव और उसकी अतिक्रम्यता के लिये अपेक्षाकृत व्यापकतर अवकाश है. मनुष्यकी गरिमा और उसके गन्तव्य की जिज्ञासाके साथ-साथ लोकमंगलके लिये सर्वतोभद्र तत्परता एवं अद्‌भुत सैद्धान्तिक लचीलापन है. इसमें मानवीय चेतनाके ज्ञानात्मक इच्छात्मक और भावनात्मक, तीनों ही, अभिवृत्तियोंको एकसाथ और अलग-अलग रूपोंमें भी परमत्व प्राप्त होनेके अवकाश हैं. ऐसी मूलगामिता यदि भारतीय मूलके किसी अन्य दर्शनमें रही तो वह हीनयानमें नहीं बल्कि महायान बौद्ध दर्शनमें देखी जा सकती है. परन्तु अद्वैत वेदान्तद्वारा उसका दार्शनिक सात्मीकरण किये जाने तथा कतिपय सांस्कृतिक विरोधोंके कारण और साथ ही साथ लोकजीवनसे समंजस पुरुषार्थमीमांसीय दृष्टिका अभाव और कुछ ऐतिहासिक विपदाओंके कारण महायान बौद्ध दर्शन उतना प्रतिष्ठित नहीं हो सका जितना कि सांस्कृतिक स्वीकरण वेदान्तको मिला.

यद्यपि वेदान्तकी वेदमूलकता तथा वाचिक भावधारा के रूपमें उसकी प्राचीनतासे इन्कार किसी भी तरहसे नहीं किया जा सकता. लेकिन लिखित विचारधाराके रूपमें इसके इतिहासके आरम्भिक सूत्र समंजस रूपमें उपलब्ध नहीं होते. यत्र-तत्र प्राप्त कुछ ग्रन्थगत साक्ष्योंके

संकेतनमात्रसे वेदान्तदर्शन-परम्पराके बृहद् वाङ्मय होनेका आभास अवश्य मिलता है. इसके बावजूद भी वेदान्तदर्शनका शंकरपूर्व और शंकरपश्चात् जैसा भी इतिहास उपलब्ध है, उसके आधारपर वेदान्तको भारतीय परम्पराका सर्वाधिक गतिशील दर्शन और उसी अनुपातमें सांस्कृतिक परिव्याप्ति रखनेवाला जीवनदर्शन कहा जा सकता है. वैसे तो भारतीय परम्परामें अद्वैतवादी दार्शनिक प्रवृत्तियोंका प्राधान्य शुरुसे ही रहा है. व्याकरण बौद्ध और शैव परम्परा भी अपने-अपने तरीकेसे अद्वैतवादकी पुरस्कारक परम्परायें रही हैं. परन्तु वेदान्तकी परम्परामें औपनिषदिक कालसे लेकर आधुनिक युग तक उसके जितने दार्शनिक संस्करणोंका विकास और पुनर्रचना हुयी है वह अपने आपमें अतुलनीय है. वेदान्तके ऐसे अनेकविध संस्करणों एवं पुनर्रचनाओंके आपसी विवाद और मतभेद भी कम नहीं रहे हैं. यहां तक कि अद्वैतके प्रकारों एवं उसके परिनिष्ठित चूडान्त स्वरूपको लेकर बलाबलका प्रदर्शन आज तक भी रुका नहीं है, फिर भी सबकी आत्मा एक है.

वेदान्तकी आत्मा है : ''**एकमेवाद्वितीयम्**''. इसीके साथ उसके सभी सम्प्रदायोंने अपनी-अपनी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न श्रुतियोंका योगायोग दिखाकर अपने-अपने दार्शनिक प्रस्थानोंको विकसित किया है. यद्यपि वेदान्तके चार प्रस्थान बहुत प्रसिद्ध हैं. लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टिसे वेदान्तके प्रस्थानोंकी संख्याको द्वादश प्रारूपों तक विकसित किया जा सकता हैं. आचार्यप्रवर पूज्य बाबा(गोस्वामी श्याम मनोहर)जी अपने लेखनमें वेदान्तके द्वादशप्रारूपीय तार्किक संभावनाओंकी चर्चा अक्सर किया करते हैं. अतएव कहा जा सकता है ''**रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल-नानापथ-जुषाम्...**''की सर्वसमावेशी वैचारिकता और भावभूमि पर वेदान्त ही भारतका राष्ट्रीय दर्शन और धर्म है, विश्वजनीन सांस्कृतिक प्रेरणाका अक्षयस्रोत. यही भारतकी आध्यात्मिक वैचारिक विरासत है जो आज भी हम भारतीयोंकी जीवनप्रतिमामें बहुविधरूपमें सर्वाधिक अभिव्यक्ति पाती है.

इस तरह देखा जाय तो भारतीय परम्परामें वेदान्त एक कल्पवृक्षके समान है, जिसकी बहुविध शाखायें न केवल भारतमें दार्शनिक उत्कर्षकी हेतु बनी हैं; बल्कि भारतकी धार्मिक चेतना भी इन्हींसे अनुप्राणित है. अतएव वे ही समय-समयपर भारतके सांस्कृतिक नवजागरणकी हेतु भी बनी हैं. प्राचीनकालसे लेकर अब तक वेदान्तदर्शनके विविध सम्प्रदायोंमें शंकरवेदान्त रामानुजवेदान्त निम्बार्कवेदान्त मध्ववेदान्त वल्लभवेदान्त एवं चैतन्यवेदान्त बहोत ही प्रसिद्ध हैं. इसके अतिरिक्त आधुनिक समयमें दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, रमन महर्षि तथा स्वामीनारायण सम्प्रदाय एवं उड़ीसाके महिमाद्वैत सम्प्रदाय इत्यादिके माध्यमसे भी वेदान्तचिन्तनकी परम्पराका ही पल्लवन और परिवर्धन होता रहा है.

इस प्रसंगमें एक दार्शनिक प्रश्न आवश्यकरूपसे उपस्थापित होता है कि वेदान्तके बहुविध सम्प्रदाय यदि वेदान्तरूपी कल्पवृक्षकी अनेक शाखायें हैं तो उस कल्पवृक्षका स्वरूप अपने आपमें क्या है? यद्यपि वेदान्तके सभी सम्प्रदाय उस परम्परा और दर्शन के वास्तविक और एकमात्र उत्तराधिकारी होनेका दावा करते हैं परन्तु इस दावेकी प्रामाणिकता और परख उतनी आसान नहीं जितनी कि समझी जाती है. यदि इस प्रश्नका उत्तर पूज्य बाबाजीके विचारसरणीमें सोचा जाय तो वे '**ब्रह्मवाद**'को वेदान्तका सामान्य लक्षण मानते हैं; क्योंकि ''**एकमेवाद्वितीयम्**'' श्रौत आदर्श वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंका समानरूपसे स्वीकृतपक्ष है. परन्तु इसके साथ जिन अलग-अलग श्रुतियोंका योग दिखाकर श्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजाचार्य श्रीमध्वाचार्य और श्रीवल्लभाचार्य अपने-अपने वेदान्तप्रस्थानोंकी आधारशीलाको एक-दूसरेसे अलग करते हैं, वह भिन्न-भिन्न हो जाता है. शांकर वेदान्त '**एकमेवाद्वितीयम्**'के साथ ''**नेह नानास्ति किञ्चन**''का योग दिखाकर पारमार्थिक अद्वैत और मायिक द्वैत प्रतिपादित करते हुए केवलाद्वैतकी प्रतिष्ठा करता है. रामानुजीय वेदान्त '**एकमेवाद्वितीयम्**'के साथ ''**यः सर्वभूतेषु तिष्ठन्...**''का योग कर विशिष्ट अद्वैत और

विशेषण-विशेष्यके द्वैत रूपमें विशिष्टाद्वैतका प्रतिपालन करता है. माध्व वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्'के साथ "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ"का योग दिखाकर औपचारिक अद्वैत और पारमार्थिक द्वैत रूपमें केवलद्वैतका विधान करता है. वाल्लभ वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्'के साथ "तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय"का योग दिखाकर स्वाभाविक अद्वैत और ऐच्छिक द्वैत को उद्घाटित कर शुद्धाद्वैतकी अवधारणा प्रकट करता है.

अब यदि यह पूछा जाय कि इनमेंसे कौन एक सम्प्रदाय ब्रह्मवादका या कहें औपनिषद ब्रह्मवादका सर्वतोभावेन प्रतिपादन करता है? तो समुचितरूपसे इसका श्रेय वाल्लभ वेदान्तको ही दिया जा सकता है. इसपर यदि कोई यह कहे कि भारतमें दार्शनिक प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक स्वीकरण तो शांकर वेदान्तको ही सर्वाधिक प्राप्त हुआ है तो यह उचित ही है. परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि दार्शनिक प्रसिद्धि और सांस्कृतिक स्वीकरण की परिव्याप्तिको वेद-उपनिषदादि द्वारा पुरस्कृत ब्रह्मवादके यथाभूत स्वरूपके उत्तराधिकारी होनेका प्रमाण नहीं माना जा सकता. द्रष्टव्य है कि महाप्रभु वल्लभाचार्यका ब्रह्मवाद सर्ववादानवसर और सर्ववादानुरोधि भी है :

"सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद्।
अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमद्॥"

इसलिये उसे ब्रह्मवादका सर्वतोभावेन विश्वतोमुख प्रतिपादन कहा जा सकता है. यही कारण है कि इसे 'शुद्धाद्वैत' और 'साकार-ब्रह्मवाद' नामोंसे अभिहित किया जाता है.

इस रूपमें ब्रह्मवादके प्रतिपादनको महाप्रभु वल्लभाचार्यकी कोई मौलिक सूझ भी नहीं कही जा सकती. वास्तवमें यह उपनिषद् गीता

ब्रह्मसूत्र और भागवत की सहज समन्वित और प्रामाणिक व्याख्यासे प्रसूत साकार ब्रह्मवाद है. स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य अपने अभिमतको स्वयंकी मौलिक सूझ मानते भी नहीं हैं :

''अर्थोयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव।।

यद्यपि वेदान्तके अन्यसम्प्रदाय भी अपनेको श्रुति स्मृति और पुराणादि सम्मत व्याख्यानरूप ही मानते हैं लेकिन वास्तविकता व्याख्यानमात्र होनेकी नहीं. महाप्रभु वल्लभाचार्यके व्याख्यान और वेदान्तके अन्य सम्प्रदायोंके व्याख्यानमें मूलगामी अन्तर इतना है कि पहलेमें जहां श्रौती उत्प्रेक्षाका प्रयोग न्यूनतम है वहीं दूसरोंमें श्रौती उत्प्रेक्षा ही अनेक प्रतिपाद्यके लिये साधकतम आधार हो जाती है. अतएव शुद्धाद्वैती साकार ब्रह्मवाद वस्तुतः श्रुति स्मृति और पुराणों के माध्यमसे उपबृंहित विचारपरम्पराकी अभिधा है, महाप्रभु वल्लभाचार्यकी कोई मौलिक दार्शनिक उत्प्रेक्षा नहीं. इस अर्थमें शुद्धाद्वैतको तो वेदान्तके अन्य सम्प्रदायोंकी तरह एक सम्प्रदाय भी नहीं कहा जा सकता. क्योंकि महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके अनुगामी आचार्यगण व्याख्यानप्रक्रियामें वेदान्तके अन्य सम्प्रदायविदों और उनकी उत्प्रेक्षाओंके साथ यथावसर न्यूनाधिक रूपसे वाद करते हुए प्रतीत होते हैं. यह तो स्वाभाविक ही है. इसलिये ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्यकी व्याख्या भी शांकर रामानुजादि के समानान्तर वेदान्तकी एक केवल वैकल्पिक दृष्टि और पुनर्व्याख्या है, जबकि वास्तवमें ऐसा है नहीं. हां भारतीय दर्शनधाराओंमें एक प्रमुखतम धाराका प्रतिनिधित्व करनेवाले दर्शनका सर्वाधिक सुसंगतरूप है, ये अवश्य कहा जा सकता है.

पूज्य बाबाजी महाप्रभु वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतको ऐसी ही मूलगामितामें देखते हैं. ''तेन मोहेन मुग्धत्वात्...'' शुद्धाद्वैतकी इसी मूलगामिताको

उद्घाटित करनेके लिये उन्होंने २०वीं-२१वीं शताब्दीमें उपष्टम्भककी भूमिका निभाई है. इनका सम्पूर्ण जीवन, मानो प्रायोजित रूपसे, शुद्धाद्वैतकी चतुरस्र प्रतिष्ठाको समर्पित है. इन्होंने वाल्लभवेदान्तके आकरग्रन्थों और परवर्तीकालके प्रकरणात्मक लेखोंका सम्पादन और प्रकाशन जिस प्रामाणिकताके साथ किया है, उससे शुद्धाद्वैती वाङ्मयको उज्जीवन प्राप्त हुआ है. इधर विगत कुछ वर्षोंमें पूज्य बाबाजीने अपने प्रयासोंसे वाल्लभ वेदान्तको एक नया आयाम देनेका अत्यन्त ही सराहनीय प्रयास किया है. यह आयाम उनकेद्वारा आयोजित अद्भुत अकादमिक सहवेदनशीलताके साथ विद्वत्परिचर्चाके रूपमें फलीभूत हुआ है.

अपने इस प्रयासमें पूज्य बाबाजीके स्वकीय निर्देशनमें : शब्दप्रमाण, कार्यकारणभाव, अन्यख्यातिवाद, प्रत्यक्षप्रमाण, अन्धकारवाद, अधिकारविचार पुष्टिमार्गीय-साधनाप्रणाली, प्रतिबन्ध और जघन्याधिकार जैसे विषयोंपर राष्ट्रीयस्तरकी संगोष्ठियां आयोजित हुयी हैं. इन संगोष्ठियोंका विशेष उद्देश्य वाल्लभ वेदान्तके विभिन्न प्रकरणोंपर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन एवं यथासम्भव पाश्चात्य दर्शनके भी सन्दर्भोंमें तुलनात्मकरूपसे विचार करना था. पूज्य बाबाजी एवम् उनके अनन्य सहयोगी पूज्य शरदबाबा के अथक प्रयाससे उपर्युक्त संगोष्ठियोंके पुस्तकाकार प्रकाशनद्वारा एक तरहसे वादशैलीमें शुद्धाद्वैतकी विस्तारशील योजना फलीभूत हुयी है. इसके अतिरिक्त पूज्य बाबाजीने स्वयं अपनी लेखनीसे शुद्धाद्वैती दार्शनिक दृष्टि और साधनाप्रणाली पर सुविचारित रूपसे प्रभूत लेखन भी किया है. पूज्य बाबाजीका अध्यवसायक्षेत्र इतना व्यापक है कि उससे वेदान्तकी मूलभूत संरचना न केवल उद्घाटित होती है बल्कि उसे चूडान्त प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है. वे लिखनेके लिये जितने मर्मस्पर्शी विषयोंका चयन करते है, उनका प्रतिपादन भी उतना ही अन्तरार्थको प्रकट करनेवाला होता है. इनके द्वारा समय-समयपर लिखे गये शताधिक आलेख एक-एक प्रकरणग्रन्थके समान हैं और उस विषयपर प्रथमस्तरीय प्रौढ़ प्रतिपादनसे अभिहित किये जा सकते हैं. पूज्य बाबाजीकी स्वाभाविक

भाषा तो संस्कृत है, और साथ ही साथ वे कयी भाषाओंमें समानरूपसे अधिकार रखते हैं लेकिन अपने महत्त्वपूर्ण लेखनको उन्होंने हिन्दीमें प्रस्तुत कर, न केवल राष्ट्रभाषाको समृद्ध किया है बल्कि आगामी पीढ़ीके समक्ष हिन्दीमें गम्भीर दार्शनिक लेखनके लिये एक मानदण्ड भी प्रस्तुत किया है.

पूज्य बाबाजीकी यह प्रस्तुत कृति उनकी मूलगामी शुद्धाद्वैती दृष्टिके विस्तृत फलक और उसके विस्तीर्ण ओर-छोर को परखनेवाला एक उत्कृष्ट नमूना है. इसमें उन्होंने शुद्धाद्वैती साकार ब्रह्मवादकी आधारिक संरचनाको तत्त्वज्ञान भक्ति और संस्कृति मूलक दृष्टिसे उद्घाटित किया है. इसपर कोई टिप्पणी करना तो मेरे वशकी बात नहीं है. हमारा सम्पूर्ण प्रयास तो पूज्य बाबाजीसे उन्मीलित होनेमें ही गतार्थ हो जाता है.

इस ग्रन्थके प्रथम दो आलेखोंमें ('महाप्रभु वल्लभाचार्यका दर्शन और मार्ग' और 'ब्रह्मवादकी तात्त्विक सहिष्णुता')में साकार ब्रह्मवादकी तात्त्विक संरचना और उसके नानावादानुरोधी स्वरूपपर प्रकाश डाला गया है. इन दोनों आलेखोंका अनुपम वैशिष्ट्य इस बातमें निहित है कि पूज्य बाबाजीने ब्रह्मवादके प्रतिपादनार्थ आधुनिक वैज्ञानिक विश्वदृष्टिको बेबाक ढंगसे पूर्वपक्ष बनाया है. एक ओर जहां आजकलके धार्मिक-दार्शनिक व्यक्ति अपनी धार्मिकता और दार्शनिकता को येन-केन प्रकारसे विज्ञानसम्मत बतानेमें गर्वका अनुभव करते हैं. वहीं दूसरी ओर पूज्य बाबाजी माइन्ड् और मेटर् के अन्तहीन द्वंद्वमें उसके आधुनिक भौतिकी सीमाओंका संकेत करते हुवे औपनिषद 'ब्रह्म'का इस रूपमें विधान करते हैं, जो भौतिक और अभौतिक दोनों तरहके रूप एवं व्यावहारों का अधिष्ठान बन पाये. परन्तु पूज्य बाबाजी ब्रह्मतत्त्वका इस रूपसे विधान करते हुवे इस बातसे भी भलीभांति अवगत हैं कि किस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान और उससे प्रेरित पश्चिमके दार्शनिक चिन्तनमें कान्ट्से

लेकर वियेना सर्कल्के दार्शनिकों तक तत्त्वमीमांसीय उपस्थापनायें न केवल उपेक्षित रही बल्कि अर्थहीन भी घोषित की गयी हैं. इन सब प्रवृत्तियोंकी जांच पड़ताल करते हुवे पूज्य बाबाजीने औपनिषद ब्रह्मवादके उस स्वरूपको प्रकट किया है जो वैज्ञानिकवाद अज्ञेयवाद संदेहवाद और तर्कीयप्रत्यक्षवाद जैसी विस्थापक दार्शनिक प्रवृत्तियोंका न केवल अविरोधी है बल्कि आकाशकी तरह उन सबको निर्विघ्न अवकाश प्रदान करनेवाला हो. वास्तवमें निखिलरूपताकी ब्राह्मिक स्वीकृति ही साकार ब्रह्मवादकी परात्पर कोटि है और तब सर्ववादानवसर और नानावादानुरोधी होना उसका स्वरूपलक्षण बन जाता है. आश्चर्य होता है कि इस औपनिषद ब्रह्मवादके ऐसे स्वरूपकी ओर महाप्रभु वल्लभाचार्यके अतिरिक्त वेदान्तके अन्य सम्प्रदायों और उनके आचार्योंका ध्यान गया ही नहीं, जबकि अनेकों श्रुतियां इस गूढ़ार्थको बहुविध रूपमें बारंबार कहती रही हैं. आज पूरी दुनिया जब एकान्तिक विचारोंके संघर्षकी युद्धभूमि बनी हुयी है तब बौद्धोंके सर्वदृष्टिप्रहाणवादी और जैनियोंकी अनेकान्तवादी वैचारिक सहिष्णुतासे भिन्न औपनिषद ब्रह्मवादकी परात्पर सहिष्णुताको आधुनिक अध्येतृताके समक्ष उजागर कर पूज्य बाबाजीने बड़ा ही उपकार किया है. यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे 'पार्लमिन्ट् ओफ् वर्ल्ड रिलिजन्स्'के मंचसे भारतके पक्षरूपमें रखा जाना चाहिये.

इस ग्रन्थका तीसरा आलेख प्रत्यक्षविचारसे सम्बन्धित है. इसमें पूज्य बाबाजीने साकार ब्रह्मवादकी दृष्टिसे प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रस्थिति और भूमिका पर चकित कर देनेवाली मौलिकताके साथ विचार करते हुए महाप्रभु वल्लभाचार्यके इस वचनका सालंकार भाष्य किया है कि **''चक्षुः न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छया 'एवं मां सर्वे पश्यन्तु!' इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम्''** यह वक्तव्य प्रत्यक्षकी ज्ञानमीमांसीय भूमिकाके सम्बन्धमें दिया गया एक तत्त्वमीमांसीय अभिकथन है जो एक विशेष प्रकारकी तत्त्वमीमांसीय प्रागपेक्षामें प्रत्यक्षके घटित

होनेको संकेतित करता है. अद्वैतवादी प्रकारके दर्शनोंके लिये यह बात विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसाकी पृष्ठभूमिमें प्रत्यक्षकी ऐसी व्याख्या जो अन्तर्वैयक्तिक अनुभवसे सुसंगत हो; इनके लिये आवश्यक होता है. पूज्य बाबाजी अद्वैतवादी दर्शनोंकी इस आवश्यकताको इस रूपमें देखते हैं कि लौकिक विषयोंके तात्त्विक स्वरूप (शास्त्रगम्य)के बारेमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य अवनसरपराहत होनेपर भी उस तात्त्विकताके लौकिक स्वरूपके बारेमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य स्वीकार ही करना पड़ता है. अन्यथा उस तात्त्विकता-विषयक शाब्दी प्रमाकी उपपत्ति भी शास्त्रवचनके द्वारा नहीं हो पायेगी. वस्तुतः यह बात श्रुति और प्रत्यक्ष में तारतम्यकी अपेक्षाका दिग्दर्शन कराती है. अब यहां द्रष्टव्य है कि अद्वैतवादी प्रकारके दर्शनोंमें प्रत्यक्षकी अवधारणा विषयक मूलभूत अन्तर इस बातसे निर्धारित होता है कि उनके द्वारा स्वीकृत अद्वैत तत्त्वके स्वस्वरूपमें विषय-विषयी-भावका स्फुरण किस प्रकार होता है और स्फुरित विषय एवं विषयी की एक-दूसरेके प्रति अभिवृत्ति (एटिट्युड्र) किस प्रकारकी होती है. पूज्य बाबाजीने इस आलेखमें अभूतपूर्व मौलिकताके साथ विषय और विषयी की पारस्परिक अभिवृत्तिकी, ग्रहण आरोपण एवं सृजन रूपी, अनेक वैकल्पिक सम्भावनाओंको इदंप्रथमतया अन्वेषित करते हुए प्रत्यक्षके ऐसे षड्विध प्रारूपोंको पूर्वपक्ष बनाया है. ये षड्विध पूर्वपक्ष अपने-आपमें इतने व्यापक हैं कि इनमें प्रमुख भारतीय एवं कतिपय पाश्चात्य दर्शनधाराओंकी प्रत्यक्षसम्बन्धी अवधारणाओंका समाहार हो जाता है. अन्तमें सातवें विकल्प अर्थात् उत्तरपक्षके रूपमें पूज्य बाबाजी साकार ब्रह्मवादी दृष्टिसे विषय और विषयी के प्रथमस्फुरण तथा दोनोंकी अन्योन्य अभिवृत्तिकी विशद व्याख्या करते हुए इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि वाल्लभ वेदान्तके अनुसार प्रत्यक्षानुभूति, विषय और विषयी में निगूढ़ गुणधर्मोकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली, वास्तविकता या अभिव्यक्ति है.

इस ग्रन्थका चौथा आलेख निगम और आगम शास्त्रोंके तुलनात्मक

स्वरूप और प्रामाण्य तथा उनकी एकवाक्यतासे सम्बन्धित है. द्रष्टव्य है कि इस आलेखका विचारक्षेत्र जितना व्यापक है उतना ही गहन भी है. परन्तु यह पूज्य बाबाजीके ही सामर्थ्यकी बात है कि उन्होंने प्रकृत समस्याके लगभग सभी पहलुओं और उससे सम्बन्धित यावद् विवादास्पद आकर सन्दर्भोंका पुंखानुपुंख विवेचन किया है. नैगमिक-आगमिक परम्पराके शास्त्रोंका स्वरूप और प्रामाण्य तो उन-उन शास्त्रोंके अनुयायीयोंने अपने-अपने तरीकेसे स्वीकार ही किया है लेकिन उनकी एकवाक्यता साम्प्रदायिका निष्ठाकी रूढ़ धारणाके चलते आज भी अत्यन्त विवादास्पद बनी हुयी है. परन्तु पूज्य बाबाजीने असाधारण पाण्डित्यका प्रदर्शन करते हुए इस रूढ़िको तोड़ा है और चतुष्तलीय प्रामाण्यव्यवस्था ([१]शास्त्रतात्पर्य - जिज्ञासाकालीन तल [२]तात्पर्यबोधोत्तरकालीन तल [३]ब्रह्मसाक्षात्कारोत्तरकालीन तल और [४]भगवदावतारकालीन तल) की मौलिक सूझके आधारपर श्रौत शास्त्रों एवं पाञ्चरात्रादि आगमशास्त्रों के स्वरूप, प्रामाण्य और एकवाक्यता का पर्यवसान उन्होंने शुद्धाद्वैती साकार ब्रह्मवादमें दिखाया है. रूढ़ हुयी साम्प्रदायिक निष्ठाओंके बीच पूज्य बाबाजीकी यह समन्वयकारी उपस्थापना अपने-आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण है और भारतीय वाङ्मयकी एकवाक्यताको एक नये सिरेसे उद्घाटित करती है.

इस ग्रन्थका पांचवां आलेख मनुस्मृतिकी दार्शनिक अवधारणासे सम्बन्धित है. द्रष्टव्य है कि भारतीय परम्परामें धर्म नीति और आचार के व्यवस्थापकमें मनुस्मृतिको सर्वातिशायी महत्त्व प्राप्त है. इसे अतएव 'मानव-धर्मशास्त्र'की संज्ञासे अभिहित किया गया है. मनुस्मृति सृष्टिके मूलमें ही एक नैतिक व्यवस्था देखती है. इसलिये सामाजिक सांस्कृतिक धरातलपर भी धर्म-नीतिके स्वरूप और उसके व्यवस्थापक की अवधारणा समुदायाचारके रूपमें नहीं बल्कि एक सुचिन्तित तत्त्वदृष्टिको आधारमें रख कर की गयी है. अब प्रश्न उठता है कि मनुस्मृतिकी तत्त्वदृष्टि क्या है? द्रष्टव्य है कि विभिन्न व्याख्याकारोंने अपनी-अपनी साम्प्रदायिक

निष्ठा और तदनुरूप उत्प्रेक्षाओं के अनुसार मनुस्मृतिकी तत्त्वदृष्टि विवेचित करनेका प्रयास किया है. विशेषरूपसे राघवानन्द और गोविन्दराज ने केवलाद्वैती शांकर सम्प्रदायानुसारी एवं कुल्लूक भट्टने भेदाभेदवादी भास्करीय मतानुसार मनुस्मृतिकी व्याख्या की है. अब पूज्य बाबाजीके सामने यह प्रश्न है कि यदि श्रुति स्मृति और पुराणों की आधारभूत वैचारिक संरचना साकार ब्रह्मवादमें पर्यवसित होती हो तो मनुस्मृतिकी तत्त्वदृष्टि भी साकार ब्रह्मवादी ही होनी चाहिये. परन्तु महाप्रभु वल्लभाचार्यने मनुस्मृतिकी ऐसी व्याख्या की नहीं है. इस आलेखके माध्यमसे पूज्य बाबाजीने मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायके अन्तर्गत वर्णित सृष्टिकी प्रागवस्था और बारहवें अध्यायमें वर्णित सर्वात्मभावकी मीमांसा करते हुए यह दिखलाया है कि षण्मतप्रतिष्ठापक शंकरमत और भास्करमत से मनुस्मृतिकी संगति बैठती नहीं है. वास्तवमें यह ब्राह्म सम्प्रदायके अन्तर्गत शुद्धाद्वैतवादी दार्शनिक विचारधारा और तत्त्वदृष्टि का पोषक ग्रन्थ है. वाल्लभ शुद्धाद्वैत जहां कृष्णभक्त्यर्थ है वहीं मनुस्मृतिका शुद्धाद्वैत वर्णाश्रमधर्मार्थ है.

इस ग्रन्थका छठा आलेख महाप्रभु वल्लभाचार्यसे पूर्वके शुद्धाद्वैतवादी दार्शनिकों और उनके सम्प्रदायों से सम्बन्धित है. इसके अन्तर्गत पूज्य बाबाजीने भास्कराचार्यके भेदाभेदवाद, काश्मीर शैवदर्शनके शिवाद्वयवाद एवं कर्णाटकके विशेषाद्वैती शैवमत का शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिसे तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह दिखानेका प्रयास किया है कि भारतीय परम्परामें महाप्रभु वल्लभाचार्यसे पूर्व भी शुद्धाद्वैती दार्शनिक प्रवृत्तिकी अन्तःसलिला प्रवाहित हो रही थी और उसीका सुसंगत एवं समुन्नत रूप महाप्रभु वल्लभाचार्यका साकार ब्रह्मवाद है. पूज्य बाबाजीने भास्कराचार्यके स्वाभाविक अभेद और औपाधिक भेद पर टिप्पणी करते हुए उचित ही कहा है कि स्वाभाविक अभेदका पक्ष तो उभयसम्मत है लेकिन भास्कराचार्य जहां भेदको औपाधिक मानते है वहीं महाप्रभुने इसे ऐच्छिक माना है. वास्तवमें औपचारिक भेदकी अवधारणापर जब यह प्रश्न उठाया

जाता है कि वह उपाधि स्वयं ब्रह्मात्मक है या नहीं तो दोषोकी एक शृंखला शुरु हो जाती है. इस दोषशृंखलाकी विश्रांतिके लिये स्वाभाविक अभेद और ऐच्छिक द्वैत मानना आवश्यक प्रतीत होता है. शिवाद्वयवादके सन्दर्भमें इसी तरह पूज्य बाबाजी यह दिखाते हैं कि जड़जीवात्मक जगत् और परमशिव के बीच तादात्म्यकी अवधारणा दोनों ही दर्शनोंको एक-दूसरेके बहोत निकट ले आती है क्योंकि जगत् और शिव के बीच न तो अतिद्वैत है और न अतिअद्वैत. वास्तवमें देखा जाये तो शांकर विवर्तवाद तथा वाल्लभ परिणामवाद दोनोंसे बचते हुए काश्मीरशैव दर्शन एक विलक्षण शैलीमें शुद्धाद्वैतको स्वीकारता है. वाल्लभ शुद्धाद्वैतवादकी रीतिसे इस काश्मीर शुद्धाद्वैतवादमें भी द्वैत ऐच्छिक है, मायिक नहीं. अतएव वाल्लभ मतमें जैसे "**आनन्दांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति**" कहा जाता है वैसे ही यहां भी "**सोऽहम्**"या "**शिवोऽहम्**"की भावनावाली प्रत्यभिज्ञासे पुरुषमें परमशिवभाव पुनः सिद्ध होता है. ऐसे ही पूज्य बाबाजी वीरशैवमतके अनुसार ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखनेवाले श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके विशेषाद्वैतवादका विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्षपर पहुंचते है कि भास्कराचार्यकी तुलनामें श्रीपतिका अभिमत वाल्लभ मतके अधिक निकट है यद्यपि श्रीपति जगत्को ब्रह्मके स्वरूपका परिणाम नहीं मानते बल्कि ब्रह्मशक्तिका परिणाम मानते है. पुनः मुक्तात्मा और परमात्मा के बीच द्वैतका अत्यन्ताभाव श्रीपतिको भले ही मान्य हो परन्तु सृष्टिप्रलयकालमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच द्वैत और तद्विरोधी भावरूप तादात्म्य सम्बन्धको स्वीकार करना उनके दर्शनकी आन्तरिक संगतिके लिये आवश्यक प्रतीत होता है.

पूज्य बाबाजीके इस आलेखसे अवान्तररूपमें इस तथ्यपर भी प्रकाश पड़ता है कि श्रुति स्मृति एवं पुराणादि सम्मत वेदान्तकी चिन्तनधारामें केवलाद्वैत उसका मध्यपाती प्रतिनिधित्व ही करता है, क्योंकि शांकरपूर्व एवं शांकरपश्चात् वेदान्तकी चिन्तनधारा किसी न

किसी रूपमें सद्वादका ही पोषक रही है और वही द्वैताद्वैतवैलक्षण्य-वादी शुद्धाद्वैतके रूपमें उच्चस्तरीय संगतिके साथ अभिव्यक्त हुआ है.

इस ग्रन्थका सातवां आलेख पश्चिमी दर्शनपरम्परामें शुद्धाद्वैतवादी अथवा मिलते-जुलते दार्शनिक चिन्तनकी खोजबीनसे सम्बन्धित है. आश्चर्यजनकरूपसे पूज्य बाबाजीने यह दिखानेका प्रयास किया है कि जिस प्रकार भारतीय दर्शन परम्परामें शुद्धाद्वैती दार्शनिक चिन्तनकी एक प्रसरणीय धारा रही है. उसी प्रकार पश्चिमी दर्शनमें शुद्धाद्वैती प्रकारकी एक दार्शनिक प्रवृत्ति, एक काल विशेष तक, विकासोन्मुख है. प्रारम्भिक युनानीदर्शनमें इसे अनॅक्सिमेंदर्से प्लातो अरस्तु पर्यन्त बीजरूपमें देखा जा सकता है. प्लातोके चिन्तनमें अद्वैतवादी प्रवृत्ति तो स्पष्टरूपसे झलकती है लेकिन अरस्तुके द्वैतवादी होनेपर भी पूज्य बाबाजीने उसके चिन्तनमें यह देखा है कि किस प्रकार वह अपने गुरु प्लातोके विपरीत यह मानता है कि वस्तुका प्रत्यय वस्तुके बाहर नहीं बल्कि वस्तुके भीतर ही निहित रहता है. अन्यथा अपने आदर्श स्वरूपकी ओर उसका विकास सम्भव ही नहीं हो पायेगा. इस दृष्टिसे अरस्तुके चिन्तनमें भौतिक द्रव्य और अभौतिक प्रत्यय के बीच एक प्रकारके लचीले अभेदकी स्थापनाका प्रयास स्पष्टरूपसे दिखाई पड़ता है. इसके अनन्तर पूज्य बाबाजीने प्लोटिनस् एरिजेना ब्रूनो इत्यादिके दार्शनिक ईश्वरवादमें निहित शुद्धाद्वैती दार्शनिक प्रवृत्तियोंको उनके वक्तव्यों और महाप्रभु वल्लभाचार्यकी पंक्तियों को आमने-सामने रखकर उद्घाटित किया है. अन्तमें पूज्य बाबाजी पश्चिमी शुद्धाद्वैती चिन्तनका पार्यन्तिकरूप स्पिनोज़ाके दर्शनमें देखते हैं. इस प्रसंगमें प्रोफेसर् रमाकान्त त्रिपाठीकी प्रसिद्ध पुस्तक ‘स्पिनोज़ा इन् द् लाइट् ऑफ् वेदान्त’का स्मरण आना स्वाभाविक है. जिसमें उन्होंने स्पिनोज़ाके दर्शनकी व्याख्या केवलाद्वैती दृष्टिसे की है लेकिन ठीक इसके विपरीत पूज्य बाबाजी स्पिनोज़ाके सर्वेश्वरवादको महाप्रभु वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतके अधिक निकट पाते हैं. वस्तुत: स्पिनोज़ाकी द्रव्यकी अवधारणा निश्चितरूपसे अद्वैतवादी

है, लेकिन जब वह गुणको परिभाषित करता है तो उसके अद्वैतवादकी द्विविध व्याख्यायें सम्भाव्य हो जाती हैं. स्पिनोज़ा गुणको परिभाषित करते हुए कहते हैं "By attribute i understand that which intelect conceives as constituting essence of substance" इस परिभाषामें दो घटक (Intelect conceives और Constituting essence)ऐसे हैं. जिसमें पहले घटकपर बल देनेसे स्पिनोज़ाका सर्वेश्वरवाद तुलनीयरूपमें केवलाद्वैतकी ओर तथा दूसरे घटकपर बल देनेसे वह शुद्धाद्वैतकी ओर झुकता है. अब इसमें तुलनीयरूपसे कौनसी व्याख्या उचित है इसका निर्धारण मेरे सामर्थ्यसे बाहरकी बात है. स्पिनोज़ाके पाश्चात्य व्याख्याकार भी आजतक दो खेमोंमें बंटे ही हुए है.

इस ग्रन्थमें आगेके दो आलेख कर्म ज्ञान भक्ति प्रपत्ति एवं योग के विविधरूपोंसे सम्बन्धित हैं. भारतीय परम्परामें विचारके ये सभी पहलु आश्रम और पुरुषार्थ व्यवस्थासे युक्त होकर अभ्युदय एवं निःश्रेयसके मार्गरूपमें अतिशय महत्त्व रखते हैं. पूज्य बाबाजीने उपर्युक्त सभी विषयोंपर साकार ब्रह्मवादी दृष्टिसे बड़े ही समंजस रूपमें विचार किया है. कर्म ज्ञान और भक्ति के सन्दर्भमें प्रपत्तिकी स्वायत्तता पर विचार करते हुए पूज्य बाबाजीने अत्यन्त मार्मिकताके साथ इस तथ्यको उद्घाटित किया है कि "**एकमपि आस्थितः सम्यग् उभयोर् विन्देत फलम्**" अर्थात् कर्म ज्ञान भक्ति और प्रपत्ति ये सभी पृथक्-पृथक् और स्वतन्त्र मार्ग हैं तथापि किसी एक मार्गको पूरी अनन्यनिष्ठाके साथ अपनानेपर शेषमार्गोंका फल स्वयं ही प्राप्त हो जाता है. अब जहांतक प्रपत्तिकी स्वायत्तता और उसके वैशिष्ट्य का प्रश्न है तो पूज्य बाबाजीके अनुसार एक ओर कर्मयोग ज्ञानयोग एवं भक्तियोग में परमात्मबोधके माहात्म्यज्ञानकी प्राथमिकता सुतरां स्वीकार्य होनेसे 'प्रपत्ति' इन त्रिविध योगोंका पूर्वांग बन जाती है तो दूसरी ओर कर्म ज्ञान भक्ति रूप उपायोंमें यदि पूर्ण निष्ठाका अभाव भी हो तो केवल माहात्म्यज्ञानमूलक परमात्मनिष्ठाके सुदृढ़ होनेपर प्रपत्ति

स्वतन्त्रतया भी सर्वार्थ सर्वफलदायक बन जाती है. वस्तुतः गीतामें श्रीकृष्णने "**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**" कह कर इसी गुह्यतम उपदेशको उपदिष्ट किया है. अब यहां प्रश्न उठता है कि परमात्मनिष्ठारूपी माहात्म्यज्ञानकी सुदृढ़ता और पुष्टिका प्रतिबन्धक क्या है जबकि जीवात्मा सच्चिदानन्द ब्रह्मका साक्षात् चिदंशभूत है. वस्तुतः ब्रह्म ही अपने चिदंशमें अविद्याशक्तिके द्वारा अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास देहाध्यास और स्वरूपाज्ञान को प्रकट करता है. अविद्याके यही पांचो पर्व प्रतिबन्धक होते हैं और इनका नाश भी पंचपर्वा विद्याके द्वारा ही होता है. पंचपर्वा विद्याके अन्तर्गत वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति आदि परिगणित किये गये हैं. महाप्रभु वल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतमें योगके विविधरूपोंका मूलाधार यही पंचपर्वा विद्या है.

इस ग्रन्थके दसवें आलेखमें पूज्य बाबाजीने वैष्णवी आस्था और उसके सामने उभरती आधुनिक चुनौतियांके सम्बन्धमें विचार किया है. ऐसा प्रतीत होता है जेसे पूज्य बाबाजीने इस प्रश्नको साम्प्रदायिक और तदनुरूप नैष्ठिक जीवनचर्याकी परिसीमामें उठाया है और एतद्द्वारा उन्हीं व्यक्तियोंको सम्बोधित करना चाहते हों जो साम्प्रदायिक स्वीकृतिपूर्वक इस परिसीमामें आते हों. परन्तु इस विचारसे सम्बन्धित समसामयिक चिन्ताओंको और भी व्यापक तथा गहरे रूपमें उठाया जाना चाहिये था. अच्छी बात ता यह है कि पूज्य बाबाजीने पूर्वके कयी आलेखोंमें इसके लिये सैद्धान्तिक आधार भी निर्मित किया है. द्रष्टव्य है कि पूज्य बाबाजी साकार ब्रह्मवादको भारतीय विचार और संस्कृति को तदात्मकरूपसे प्रतिनिधित्वरूप प्रदान करनेवाले विचारकी बृहत्परम्पराके रूपमें देखते हैं. परन्तु वाल्लभ सम्प्रदायका प्रचार-प्रसार संस्कृतिकी बृहत्परम्पराके रूपमें क्यों नहीं हुआ? जबकी इसकी शुरुआत एक सांस्कृतिक आन्दोलनके रूपमें ही कही हुयी थी. ऐसा तो नहीं कि भारतीय अद्वैतदृष्टि, सामी एकेश्वरवादी दृष्टिके विपरीत, बहुदेववादकी विरोधी नहीं है. इसीलिये साकार ब्रह्मवादके उपास्यका देवप्रभेदपूर्वक

विभिन्न प्रारूपोंमें अभिव्यक्त होना उसकी विवशता है और यह विवशता उसका स्वातन्त्र्य भी है ही! अतएव साकार ब्रह्मवादके उपास्यका देवप्रभेदपूर्वक साम्प्रदायिक निष्ठाओंका पनपना स्वाभाविक ही है. यावत् साम्प्रदायिक निष्ठायें साकार ब्रह्मवादमें अविरोधतया ही सहावस्थानी हो जाती हैं. यही तो साकार ब्रह्मवादका अत्युच्च वैशिष्ट्य है!

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'साकार ब्रह्मवाद' श्रुति स्मृति और पुराणानि के माध्यमसे प्रसरणशील विचारपरम्पराकी आधारिक संरचना है. वेदान्तके विविध सम्प्रदाय इसी आधारिक संरचनाके विशिष्टरूप कहे जा सकते हैं. इसमें वाल्लभ सम्प्रदाय साकार ब्रह्मवादका कृष्णायणावतार है और इसकी पुंखानुपुंख रूपरेखा पंचम वेदस्वरूप भागवत महापुराणके माध्यमसे प्रकाशित हुयी है. वस्तुतः भागवत पुराणमें दोनों संरचनाएं अर्थात् साकार ब्रह्मवादकी आधारित संरचना और उसपर आरुढ़ उसका कृष्णभक्त्यर्थ कृष्णायणी विशिष्टरूप दोनों साथ-साथ चलते हैं. 'श्रीभागवतीय स्थानलीलाका औपनिषद सन्दर्भ' शीर्षक आलेखके माध्यमसे पूज्य बाबाजीने विस्तारपूर्वक कृष्णायणी साकार ब्रह्मवादके भागवतीय स्वरूपको इस तरह उद्घाटित किया है जैसे कि भागवत महापुराण "**श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा**"का साक्षात् वाग्विग्रह हो. पूज्य बाबाजीने अपने उपसंहार वक्तव्यमें भागवत पुराणके दशविध वर्ण्यविषयों—सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय—का निर्धारण और निरूपण करते हुए इसी निहितार्थको प्रकट किया है. वास्तवमें भागवतके ये दशविध वर्ण्यविषय परस्पर लक्षण और लक्ष्यरूप में विभक्त होकर निबद्ध किये गये हैं. अर्थात् पूर्वके नौ विषय लक्षणरूप हैं, जिनका निरूपण भागवतके तृतीय स्कन्धसे लेकर एकादश स्कन्ध तक हुआ है, अन्तिम वर्ण्यविषय 'आश्रयतत्त्व' लक्ष्यभूत है, जिसका निरूपण द्वादश स्कन्धमें हुआ है. अब यहां विचारणीय हो जाता है कि भागवतके दशविध वर्ण्यविषयोंके मध्य किस प्रकारका लक्षणलक्ष्यभाव है? पूज्य बाबाजीने यहां अपनी व्याख्यानकौशलसे नौ

लक्षणोंको विशोधककी भूमिकामें रखकर लक्ष्यभूत 'आश्रयतत्त्व'के विशोधनकी विभिन्न सम्भावनाओंपर विचार किया है. साथ ही साथ प्रकृत लक्षणलक्ष्यभावमें तात्पर्यविषयके विशोधनकी केवलाद्वैती विशिष्टाद्वैती केवलद्वैती अवशिष्ट द्वैताद्वैती विशेषाद्वैती और अविभागाद्वैती प्रक्रियाओंका अध्याहार और उसकी समीक्षा कर उपादान-उपादेयरूप लक्षणलक्ष्यभावको साकार ब्रह्मवादके भागवतोक्तरूपसे संगत बताया है.

श्रीकृष्णजन्माष्टमी, ११ सितम्बर २०१०,
विश्वविद्यालय परिसर, सागर. ४७० ००३.

अम्बिकादत्त शर्मा



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

भूमिका

(महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका दर्शन और मार्ग)

सांख्य मतके चिन्तकोंने प्रकृति और पुरुष के संयोगसे चलते इस जगत्की तुलना अंधे और पंगु के परस्पर सहयोगसे चलनेके उदाहरणद्वारा समझाई है. अंधा चल सकता है पर देख नहीं सकता. चलनेके प्रयासमें ठोकर खा कर शायद गिर पड़ेगा. पंगुको दिखलाई देता है पर चल नहीं सकता. एक जड़ और दूसरा चेतन, पर दोनों परस्पर सहयोग करें तो दोनोंको ही एक-दूसरेकी सामर्थ्यका लाभ मिल सकता है. कुछ ऐसा ही सम्बन्ध श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके साकार-ब्रह्मवाद और पुष्टिभक्ति में भी है. पुष्टिभक्तिमें यह शक्ति है कि इसके सहारे जीवात्मा पुष्टिमार्गपर चलकर परमात्मा तक पहुंच सकती है. परन्तु परमात्मा है कहां? यदि परमात्माकी ओर कदम बढ़ाने है तो परमात्माकी दिशाका बोध आवश्यक है. साकार-ब्रह्मवादी दृष्टि हमें दिशाबोध प्रदान करती है. यों साकार-ब्रह्मवाद और पुष्टिभक्ति परस्पर एक-दूसरेके पूरक बन जाते है.

साकार-ब्रह्मवादके बिना हमारी पुष्टिभक्तिके अन्धश्रद्धामें बदल जानेकी सम्भावना है तथा पुष्टिभक्तिके बिना साकार-ब्रह्मवादी दृष्टि हमारे पंगुविश्वासकी द्योतक होगी. आवश्यकता है अतः पुष्टिभक्तिके मार्गपर साकार-ब्रह्मवादी दृष्टिसे सम्पन्न हो कर चलनेकी.

चलना है तो देखते हुए चलना पड़ेगा पर कहीं हम देखते ही न रह जाय इसलिये चलते भी रहना चाहिये!

आखिर क्या आवश्यकता है चलनेकी? क्या चले बिना रहा नहीं जा सकता? क्या कहीं रुका नहीं जा सकता? हां रुका जा सकता है पर हमारी रुकनेसे चलनेकी क्रिया नहीं रुक जायेगी. हम पृथ्वीपर रुक सकते है पर हमें अस्तित्व प्रदान करनेवाली पृथ्वी निरन्तर चलती रहेगी; और हम रुके हुए भी चल रहे होंगे! यहां सब कुछ चल रहा है जो स्थिर लगता है वह भी किसी दूसरी अपेक्षाओमें चल रहा है पर चल तो रहा ही है. हमारे भौतिक देहमें निरन्तर रक्तका परिभ्रमण चल रहा है. अणुमें परमाणुओंका परिभ्रमण चल रहा है. हमारे आसपास-इर्दगिर्द हवा चन्द्रमा तारे आदि सभी तो चल रहे है. फिर रुका कैसे जायेगा? प्रतिजन्मोमें आत्मा चलकर एक देहसे दूसरे देहकी ओर जा रही है फिर कैसे कहीं रुका जा सकता है?

कुछ आधुनिक दर्शन हमारी चेतनाकी भौतिकवादी व्याख्या करना चाहते हैं. भौतिक विज्ञान किन्तु भौतिक पदार्थोकी भी ऐसी परतें खोल रहा है की जो उनके निरन्तर अभौतिक स्वभावकी गवाही देने जा रही है. जब शरीरशास्त्र शरीरके अभौतिक चेतनाप्रयुक्त व्यवहारोंकी भौतिक-रासायनिक व्याख्या दे रहे है तभी स्वयं भौतिकशास्त्र भौतिक पदार्थोके अभौतिक पक्षके संकेत दे रहा है. अत एव बर्ट्रन्ड् रसेल् कहते थे "what is mind? No matter; what is matter? never mind!" परन्तु माइन्ड् और मॅटर् के झगड़े अभी तक निपट नहीं पाये.

भौतिकवाद कहता है कि आत्माकी कोई आवश्यकता नहीं. भौतिक नियमोंके आधारपर सभी वस्तुओं तथा व्यवहारों की व्याख्या सम्भव है. परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान कहता है कि भौतिक द्रव्य निष्क्रिय नहीं-स्वतः सक्रिय है. भौतिक पदार्थोंकी परस्पर क्रियाओंका प्रभाव एक-दूसरेपर पड़ता है. तदनुरूप प्रतिक्रिया भी उनमें प्रकट होती

है. एक जड़ पदार्थ जब दूसरे जड़ पदार्थोंके प्रभावोंको ग्रहण कर तदनुरूप प्रतिक्रिया जो व्यक्त कर सकता हो तो फिर वही तो प्रक्रिया कुछ थोडी ओर जटिल बनकर चेतनाके लक्षणके रूपमें प्रकट होती है. ऐसा जड़ फिर जड़ नहीं किन्तु चेतन ही है.

कुछ अभौतिकवादी चिन्तक कहते थे कि तर्कशक्ति इच्छास्वातन्त्र्य और नैतिक विवेक जड़ पदार्थोंसे पृथक आत्माके अस्तित्वके अकाट्य प्रमाण है. जड़यन्त्र स्वयंचलित हो सकता है परन्तु उनमें तर्कशक्ति इच्छास्वातन्त्र्य या नैतिक विवेक सम्भव नहीं है. परन्तु ये सारे करतब यदि किसी विकसित कम्प्युटरने कर दिखलाये तो चेतनाकी क्या आवश्यकता रह जायेगी? और चेतनाकी तर्कशक्ति इच्छास्वातन्त्र्य या नैतिक विवेक की विकासवादी विज्ञान और मनोविज्ञान ने आत्माकी कल्पनाके बिना ही जब सम्पूर्ण व्याख्या दे दी तो अभौतिकचेतनाके अस्तित्वकी क्या आवश्यकता रह जायेगी?

आज भौतिकवाद (materialism)की विचारशैली और अभौतिक विज्ञानवाद (idealism)की विचारशैली अपनी - अपनी ढपली और अपने - अपने राग ही केवल बन गई है. प्रकृति-पुरुष, जड़-चेतन या mind-matter के द्वैत जगत्की पूर्ण व्याख्या देनेमें असमर्थ है. कुछ निषेधात्मक चिन्तनप्रेमी विचारक अतएव जगत्के मूलतत्त्वको अभौतिक - अनात्मिक (neither material nor mental) कहना अधिक पसंद करते है. विधानात्मक रुचि होनेपर मूलतत्त्वको उभयरूप जड़ - जीवात्मक (material-cum-mental) भी माना जा सकता है. आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक व्यवहार जगत्के मूल पदार्थके उभयात्मक होनेके प्रमाण भी माने जा सकते है. एक ऐसा व्यापक तत्त्व जो भौतिक और अभौतिक दोनों तरहके रूप एवं व्यवहारों का आधार बन पाये. उस व्यापक तत्त्वको उपनिषद् 'ब्रह्म' कहते हैं. ब्रह्म यानी व्यापक.

ब्रह्मकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति का अनुभव जब हमें स्थूल अभिव्यक्त रूपोंमें होता हो तो हमें लगता हैं कि सारे ब्रह्मांडकी भौतिक नियमोंमें व्याख्या संभव है. हम ऑकमके तर्कका प्रयोग करने लग जाते है कि जब केवल भौतिक जड़ पदार्थोंकी सत्ताको स्वीकार कर ब्रह्मांडके सभी तरहके व्यवहारोंकी व्याख्या दी जा सकती है तो व्यर्थ ही दूसरे किसी अभौतिक पदार्थकी कल्पना क्यों करनी चाहिये ?

इसके विपरीत अभौतिक-विज्ञानवादी कहते है कि यह तर्क यदि उचित है तो सारे जगत्की व्याख्या मनकी कल्पनाओंके रूपमें दी जा सकती है फिर व्यर्थ ही अमानसिक भौतिक पदार्थकी सत्ता क्यों स्वीकारी जाये ?

यह जगत् जिस रूपमें अनुभवगोचर होता है उस रूपमें तो यहां सभी तरहके द्वैत दिखलाई देते है.

बुद्धि कहती है कि जो जड़ है वह चेतन नहीं हो सकता. आंखे कहती है कि काला सफेद नहीं हो सकता. नाक कहती है कि सुगन्ध दुर्गन्ध नहीं हो सकती. नैतिकबोध कहता है कि ऋत अनृत नहीं हो सकता है. धर्मबोध कहता है कि पाप पुण्य नहीं हो सकता. सौंदर्यबोध कहता है कि कुरूप सुरूप नहीं हो सकता है. हृदय कहता है कि हमारा अप्रिय शत्रु प्रिय मित्र नहीं हो सकता है. अद्वैतवादी कहते हैं कि एक अनेक नहीं हो सकता है. मायावादी कहते है कि जगत् सत्य नहीं हो सकता. निराकारवादी कहता है कि परमात्मा साकार नहीं हो सकता है.

परन्तु ऐसी सभी द्वैतघटित धारणाओंकी उपयोगिता केवल कामचलाउ ही लगती है, इससे अधिक ओर कुछ भी नहीं.

कुछ अनात्मवादी चिन्तकोंने आत्माका अस्तित्व सिद्ध न हो जाय इस लिये आत्माके सभी गुण व्यवहार एवं प्रभाव जड़ पदार्थोंमें भी मान्य कर लिये है. उधर कुछ आत्मवादी चिन्तकोंने आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेकी धुनमें उसे सभी तरहके गुण धर्म विशेषताओं रहित निर्गुण निर्धर्मक और निर्विशेष मान लिया है. कोई बेचारा भौतिकवादी ऐसी निर्गुण-निर्धर्मक-निर्विशेष आत्माके अस्तित्व खंडन करे तो कैसे करे! ऐसी आत्माके होने या न होनेमें किसी भी एक पक्षकी उपपत्ति या दूसरे पक्षकी अनुपपत्ति खोजी नहीं जा सकती!

ईसाईओंने परमात्माका भी रंग गोरा-श्वेत माना. क्योंकि उनका ईश्वर काला नहीं हो सकता था. इस बातपर केशिअस् क्ले 'महमद् अलि' बन गया! क्योंकि गोरा परमेश्वर कालोंके मनोभावोंको समझ नहीं पायेगा.

यदि सचमुच दुर्गन्ध सुगन्ध नहीं हो सकती होती तो एक ही सेन्ट् या अत्तर एकको अच्छा और दूसरेको बुरा कैसे लग सकता था? यदि सचमुच अनृत ऋत नहीं हो सकता होता तो अनृत अपनी सभी देश-काल-परिस्थितिके उदाहरणोंमें अनृत ही रहेता. शास्त्रविहित धर्म भी देश-काल-व्यक्तिके सन्दर्भमें ही किसी कृत्यको धर्म और किसी कृत्यको अधर्म के रूपमें मान्यता प्रदान करते हैं. सभी कृत्य सभी देश-कालमें सभी व्यक्तियोंके लिये धर्म नहीं होते. हम कुरूप और सुरूप का भेद तो करते है परन्तु रुचि संस्कार या अभ्यास के अलावा आज तक कोई ठोस परिभाषा सुरूपता या कुरूपता की दी नहीं जा सकी है. हमारी प्रशंसा हमें हमारे अप्रिय शत्रुके द्वारा कि गई भी प्रिय लगती है पर हमारी निन्दा हमें प्रिय मित्रके द्वारा कि गई भी अप्रिय लगती है.

हथेली एक होती है पर अंगुलियां पांच. एकेश्वरवादी आजतक

समाधान नहीं दे पाये कि सर्वसमर्थ-सर्वहितैषी-सर्वकर्ता परमेश्वर और शैतान एक है या अनेक. ब्रह्म और माया के बीच द्वैत है या अद्वैत? इन प्रश्नोंको या तो अनुत्तरित रखा जाता है या फिर इनके बीच अनिर्वचनीय सम्बन्ध मान लिया जाता है. कारणको निराकार मानना तो सरल है पर कार्यमें आकार कहांसे आया यह दिखला नहीं पाते. किसी ऐसे हेतुकी कल्पना कर लेते हैं जो न है और न नहीं है. सदसद्विलक्षण! हमने प्रश्नको टाल दिया उसके उत्तरको खोजनेके बजाय.

परन्तु उपनिषदोंने इन द्वैतोंका समाधान एक ऐसे अद्वैतमें खोजना चाहा है कि जो एककी अनेकताकी उद्घोषणा करता है. एक ही ब्रह्म अनेक नाम-रूपोंको धारण कर सकता है. एक ही परमात्मा हमसे साधु कर्म कराता है हमारी उन्नतिके लिये और वही हमसे बुरे कर्म भी कराता है हमारी अधोगतिके लिये. फिर भी वह असंग उदासीन और शुभतम ही है. क्योंकि वह व्यापक है. उपर-नीचे आजु-बाजू सर्वत्र वही है. वह हमें नहीं ऊपर उठाता किन्तु स्वयंके अंशको ऊपर उठाता है. वह हमें नीचे नहीं गिराता पर स्वयंके अंशको नीचे गिराता है. जहांसे ऊपर उठाता है और जहांतक ऊपर उठाता, दोनो जगह वह है. जहांसे नीचे गिराता है और जहांतक नीचे गिराता है दोनो जगह वह है. वह निराकार है और सर्वाकार भी. वह अणुसे अणुतर है और व्यापकसे व्यापकतर भी. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते है "ब्रह्म अणु होनेपर भी व्यापक है. कृष्ण मां यशोदाकी गोदमें बैठा हुआ ही समूचे ब्रह्मांडका आधार है!"

श्रीमहाप्रभु इसे 'विरूद्धधर्माश्रयता' कहते हैं. और श्रीशंकराचार्य 'विरुद्धधर्मसमवायिता'. बृहदारण्यक उपनिषद्के भाष्यमें श्रीशंकराचार्य इसे बहुत प्रभावशाली शब्दोंमें प्रतिपादित करते है "मेरे ब्रह्मदुर्गमें तार्किक राजाकी चापलुसी करनेवाले भाडूती सैनिकों जैसे विचारक प्रविष्ट नहीं

हो पायेंगे. यहां तो अतः निर्भय हो कर रहा जा सकता है. जिनपर शास्त्र एवं गुरु की कृपा न हो ऐसे लोग भी यहां बस नहीं पायेंगे. क्योंकि यह ब्रह्म चल है और अचल है, समीप है और दूर है, तार्किकोंकी बुद्धिकों चकरा देनेवाले ऐसे अनेक विरुद्ध गुणधर्म इस ब्रह्ममें समवेत है.''

जगत्की सभी दार्शनिक मान्यताएं तत्तद् रूपोंमें इसी एक ब्रह्मके अनेक पक्षोंका वर्णन करती है. कोई इसे प्रकृति कहता है, कोई परमाणु, कोई माया, कोई अदृष्टकर्म, कोई वासना, कोई काल, कोई स्वभाव, कोई शून्य, कोई शिव, कोई शक्ति, कोई विष्णु, कोई यहोबा, कोई अल्लाह. महाप्रभु कहते हैं **''तदेव एतत्प्रकारेण भवति इति श्रुतेः मतम्''** वही इन सभी रूपोंको कभी विचारकोंकी बुद्धिमें धारण करता है तो कभी बहार भी. एकांगी दृष्टिकोणसे देखनेपर इनमेंसे कोई भी दार्शनिक मान्यता समग्र ब्रह्मका प्रतिपादन कर नहीं पाती है. अतः आपसमें इन्हे टकरानेपर यें मान्यताएं टूट जाती हैं. यदि यथायोग्य इन्हे जोड़कर देखा जाय तो पता चलेगा कि ये सभी मान्यताएं ब्रह्मके एक-एक हिस्सेका चित्र प्रस्तुत कर रही थी **''सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्''** महाप्रभु इस कारिकाकी व्याख्यामें कहते हैं :

> **''विभिन्न दार्शनिक मतवाद भिन्न-भिन्न दार्शनिकोंके मनकी कल्पनाओंके अनुसार चाहे प्रकृतिको मूलतत्त्व मानें या परमाणुओंको, मायाको अथवा शून्यको, कालको अथवा स्वभावको, इन प्रकृति, परमाणु, माया आदिके चित्र उनकी कल्पनाओंमें उभरते हैं, ब्रह्मके एक-एक हिस्सोंके चित्रके रूपोंमें ही समग्र ब्रह्मके दिखलाई न देनेके कारण अन्ततः इन आंशिक चित्रोंकी सहायतासे ही मूलतत्त्वको**

पहचाननेका प्रयत्न करते हैं. और अंशत: सफल भी हो जाते हैं. यह ठीक ही है कि प्रकृति परामाणु नहीं हो सकती. परमाणु माया नहीं हो सकते. सत् और असत् और सदसद् से विलक्षण माया चतुष्कोटी विर्निमुक्त शून्य नहीं हो सकती. निष्क्रय शून्य सक्रिय काल नहीं हो सकता. और ये परस्पर विरुद्धमत सत्य नहीं हो सकते. ब्रह्म, परन्तु सबकुछ हो सकता है प्रकृति परमाणु माया शून्य काल कर्म स्वभाव पुरुष इत्यादि.''

अत: कोई भी दार्शनिक स्थापना अप्रामाणिक नहीं किन्तु अपूर्ण है. मान्यता तो मनके दुराग्रहों और पूर्वाग्रहों से घिरी रहती है. अत: मिथ्या हो सकती है. पर वाणी तो उस अनन्तमूर्ति ब्रह्मकी एक-एक मूर्तियोंका ही वर्णन कर रही है! अत: बात सभीकी ठीक है पर मान्यतामें गड़बड़ी हो जाती है.

कुछ तर्कशास्त्री कहते है कि माना तो कुछ भी जा सकता है पर वाणीसे व्यक्त करने जाओगे तो व्याकरण और तर्क शास्त्रके नियम लागू हो जायेंगे. श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि मान्यता पूर्वग्रहोंसे जकडी हुई होती है अत: अप्रामाणिक भी हो सकती है. पर वाणीसे उसे व्यक्त करोगे तो सत्यके ही किसी न किसी पहलुको उसे उजागर करती हुई पाओगे! वाग्देवता कभी मिथ्या नहीं हो सकती. अत: सभी वादोके विवादसे ऊपर होनेपर भी ब्रह्म वाग्देवताके अनुरोध पर सभी वादोंके स्तरपर उतर जाता है.

ब्रह्म एकमेवाद्वितीय है पर यह अद्वैत किसी जड़ पदार्थका अद्वैत नहीं है कि वह परमसत्ता अपने-आपको ज्ञान और ज्ञेय के द्वैतमें विभक्त न कर पाये. हां, ब्रह्म निष्क्रिय है परन्तु इस अर्थमें कि उसमें प्रकट होती क्रियाओंका कर्म स्वयम् उसके अलावा अन्य

कोई हो नहीं सकता. कुरान कहती है ''लम् यलिद व लम् यूलद्'' न वह किसीका बेटा है न उसका कोई बेटा है. हमारे यहां भी तो कहा गया है ''**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**'' न वह किसीका कार्य है और न उसका कोई कार्य है. बात तो पतेकी कही है वेदने भी और कुरानने भी. पर अर्थ उसका समझना पड़ेगा. ब्रह्मका ब्रह्मसे भिन्न न कोई कारण है न कार्य ही. ब्रह्म परन्तु स्वयं कार्य और कारण नहीं बन पाये. या बाप और बेटा नहीं बन पाये इतना असमर्थ वह नहीं है.

द्वैत और अद्वैत के झगडे हमारे पूर्वाग्रह और सीमित दृष्टिकोणसे उभरती विवक्षाके कारण चलते रहते हैं. जब हम एक राष्ट्रके रूपमें अपना वर्णन करना चाहते हैं तो हमारी विवक्षामें अद्वैत होता है हम भारतके रूपमें एक राष्ट्र बन जाते हैं. और यही एकत्व जनसंख्याकी विवक्षा होनेपर साठकरोड़ भी बन सकता है. एक और दो, या सचाईसे कहें तो शून्यकी संख्या भी, परस्पर सापेक्ष धारणायें हैं. बर्फ जमनेके तापमानको हमने शून्य मान लिया तो अधिक ठंड पड़नेपर कहना पड़ता है 'शून्यसे तीन डिग्री नीचे' क्या कह रहे हो? शून्यके बाद संख्या कैसी? यहां परन्तु शून्य बराबर सौ हो सकता है? और हम हैं कि एक या दो के झगड़ेमें उलझे हुए हैं! अद्वैतके खंडन करनेपर द्वैत भी खंडित हो जायेगा और द्वैतके खंडन करनेपर अद्वैत भी. शून्यके भी अस्तित्वको इन्कारनेपर एक नहीं मिलेगा तो दो तीन की तो बात ही क्या? परन्तु पूर्वाग्रहसे ग्रस्त धारणा द्वैत और अद्वैत की बिल्लियोंके झगडेमें बहुधा शून्यके बन्दरको न्यायका निकष मान लेती है!

परमात्मा वस्तुतः 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व है, जब हमारी विवक्षाका विषय ब्रह्म होता है; और परमात्मा वस्तुतः 'सर्वं खलु इदम्' है जब हमारी विवक्षाके विषय उसके अनन्त नाम-रूप होते हैं.

उपनिषदोंमें ब्रह्मको अतएव 'सच्चिदानन्द' कहा गया है. वह है और एक बीमार बेहोश व्यक्तिकी तरह नहीं किन्तु अपने होनेके पूरे होशके साथ है. अत: वह न केवल सत् है अपितु चित् भी है. न उसकी सत्तामें कोई न्यूनता या सीमा है और न उसकी चेतनामें ही. देश-काल-द्रव्यके परिच्छेदोंसे रहित उसकी असीम सत्ता और चेतना में कहीं कोई विसंवाद (disharmony) नहीं है. विभिन्न स्वर उस असीम ध्रुवपदमें अस्थायी अन्तरा संचारी और आभोग बन जाते हैं. देश-काल-द्रव्य उसकी सत्ताके ही तीन पहलु हैं. उससे स्वतन्त्र नहीं हैं. द्रव्य (matter) ब्रह्मसे भिन्न नहीं है किन्तु ब्रह्मकी सत्ताका ही अन्यतम रूप है. काल (time) भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं किन्तु ब्रह्मके क्रियाशील होनेकी चेष्टा है. देश (space)को श्रीमहाप्रभु द्रव्यके ही अन्तर्गत गिनते हैं स्वतन्त्रतया नहीं. ये द्रव्य और काल जैसें सदंश हैं वैसे ही कर्म (kinetic energy)और स्वभाव (potential energy) भी ब्रह्म की ही अदृश्य सत्ता हैं. इन्हीं कर्म और स्वभाव के कारण कालमें द्रव्य गतिशील या स्थितिशील होता है. यों ब्रह्मकी सत्ताके मौलिक चार पक्ष है : (१)द्रव्य (२)काल (३)कर्म और (४)स्वभाव.

इन चारोंका तन्त्र जड़यन्त्रकी तरह स्वयञ्चालित नहीं किन्तु सत्-चित्-आनन्द ब्रह्मके चिदंशरूप चेतनाद्वारा चालित होता है. वह चेतना सदंशमें छिपी हुई रहती है. अत: बाहरसे देखनेपर लगता है कि द्रव्य-काल-कर्म-स्वभाव स्वयञ्चालित हैं पर परमात्मा इन्हें बाहरसे नहीं अन्दरसे चालित करता है. अतएव उपनिषद् कहते हैं **''य: सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो, यं सर्वाणि भूतानि न विदु: यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, य: सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृत:''** —जो सभी भौतिक पदार्थोमें स्थित है जो सभी पदार्थोके भीतर है जिसे कोई भौतिक पदार्थ जान नही पाता—सभी भौतिक पदार्थ जिसके शरीरकी तरह हैं—जो सभी भौतिक पदार्थोंका नियमन उनके भीतर रह कर करता है. वही

आत्मा तुम्हारा भी अन्तर्यामी अमृत है. जो ब्रह्मकी चेतना भौतिक पदार्थोंके स्वयञ्चालित होनेका भान पैदा करती है वही ब्रह्मचेतना हमारे भीतर भी आंशिक रूपमें विद्यमान है. पर तथाकथित अचेतन भौतिक पदार्थोंमें वह छिपी हुई है. अत: वे जान नहीं पाते उनकी अपनी सत्ताको. आधिभौतिक पदार्थोंमें ब्रह्मकी सत्ता ही केवल प्रकट हुई है. चेतना छिपी हुई रहती है. जब कि हमारे स्वरूपमें सत्ता और चेतना दोनों ही अंशत: प्रकट है. अत: हमें अपने अस्तित्वका भान रहता ही है. यही अन्तर है भौतिक पदार्थ और जीवात्मा में. सभीको वही अंशी चेतना चला रही है. कहीं प्रकट हो कर और कहीं छिप कर. जहां चेतना अपनेको छिपाती नहीं उस सत्ताके रूपको 'पुरुष' या 'जीवात्मा' कहा जाता है. इसी तरह द्रव्यका दूसरा नाम प्रकृति है चेतना जहां जड़के भीतर छिप गई है.

यह काल-कर्म स्वभाव-प्रकृति-पुरुषका तन्त्र सच्चिदानन्द परमात्माकी चेतनाद्वारा चालित है, स्वयं निजके आनन्दकी उपलब्धिकी दिशाकी ओर. अतएव उपनिषद् कहता है "**ये सभी जड़-चेतन रूप उस आनन्दमेंसे प्रकट हुए हैं—आनन्दमें स्थित हैं—और पुन: आनन्दमें ही लीन हो जायेंगे. उस आनन्दको पहचानो. वह आनन्द ब्रह्म है.**" ब्रह्म जब अपनी सत्ताकी अनेक सम्भावनाओंके प्रति स्वयं निजकी चेतनामें सचेत होता है तो वे सम्भावितरूप सत्तामें घनीभावकी प्रक्रियाद्वारा साकार बन जाते हैं. इसी तरह आनन्दकी विभिन्न सम्भावनाओंके प्रति सचेत होनेपर आनन्दांशमें भी घनीभावकी प्रक्रियाके द्वारा आकार उभरने लगते है. घनीभूत साकार सत्ता यह सारा क्षर जगत् है और घनीभूत साकार आनन्द क्षराक्षरातीत पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं. चेतना जो इन क्षर एवम् पुरुषोत्तमके रूपोंके प्रति सचेत होती है वह 'अक्षरब्रह्म' या 'अक्षरपुरुष' कहलाती है. हमारी जीवचेतना भी इस अक्षरपुरुषकी आंशिक अभिव्यक्ति होनेके कारण 'पुरुष' कहलाती है. चेतनामें घनीभाव नहीं होता अतएव अक्षरब्रह्म और उसकी अंशभूत जीवात्मा निराकार

माने जाते हैं. हमारा पाञ्चभौतिक देह सत् है, इस देहके भीतर हमारी आत्मचेतना सच्चित् है; और उसके भीतर छिपा हुआ परमात्मा सच्चिदानन्द अन्तर्यामी है.

जड़ हो या जीव सभीके भीतर यह आनन्द छिपा हुआ है और सभीका नियमन भीतरसे करता है. बाहरसे देखनेपर लगता है कि जल बहता है—हवा चलती है—पेड़ उगता है—आग जलती है—फूल खिलते हैं और फिर खिर जाते हैं. पर भीतरसे वह जलको बहाता है—वह हवाको चलाता है—वह फूलोंको खिलाता है और वही खिराता भी है. वह अन्तर्यामी है अतएव वस्तुएं बहारसे देखनेपर स्वयसञ्चालित प्रतीत होती हैं. स्वयं जीवोंकी भी सभी तरहकी ज्ञान एवम् क्रिया शक्तियोंका नियन्त्रण वही अन्तर्यामी परमात्मा भीतरसे करता है. हमें लगता हैं कि हम यह जानते है—हम यह करते हैं—हम सुखी हुए या दुःखी हुए हैं. दरअसल वह हमारे भीतर ज्ञान इच्छा प्रयत्न कृति और सुख-दुःखकी अनुभूति पैदा करता है. वही अन्तर्यामी जो जड़-चेतन सभीका भीतरसे नियमन कर रहा है. अतएव बाहरसे जड़में स्वयञ्चालितताकी भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक बात है. हमारी चेतनामें भी तो इसी तरह ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न-कृति-फलानुभूतिकी स्वतन्त्रताकी भ्रान्ति पैदा होती ही है. क्योंकि बाहरसे चलाये तो चलनेकी क्रियामें पराधीनता लगेगी. वह तो अन्दरसे हमें चला रहा है. फिर चलनेमें हमें अपनी स्वतन्त्रताका अनुभव क्यों न हो!

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं "**इदं तत्त्वं न नाना किन्तु सर्वेषाम् एकमेव तत्त्वम्. तत्र सर्वं पञ्चांगम्. तेषां पञ्चानां (काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषाणां) यदि भगवानेव तत्त्वं तदा तत्कार्याणां सुतरां तदेव तत्त्वं भवति**" यह तत्त्व नाना नहीं है किन्तु नाना रूपोंमें यही एक तत्त्व है. काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषके नानात्वको यदि एक भगवान्के ही पांच रूपोंमें परखा जा सके तो फिर इनके जो

कार्य होंगे, उन्हें भी उस परमतत्त्वके विभिन्न रूपोंकी तरह पहचान पाना सरल हो जायेगा.

सत् और चित् के इन अनेक नाम-रूपोंका विकास ब्रह्ममें किसी बाहरी माया जैसे तत्त्वोंके दबाव या प्रभाव वश नहीं होता है. नाम-रूपोंका यह विलास ब्रह्मके निज स्वभावके आन्तरिक दबावसे ही होता है. और ब्रह्मके इस निज स्वभावको ही 'आनन्द' कहा जाता है. इस आनन्दमय स्वभावको कभी आत्मरति, तो कभी आत्मक्रीडा, कभी आत्ममिथुन, तो कभी भूमासुख, कभी आत्मकाम, तो कभी आप्तकाम. और कभी अनन्त तो कभी मोद-प्रमोद भी कहा जाता है. इस आनन्दके सागरमें ही नाम-रूप, ज्ञाता-ज्ञेय, कार्य-कारण, रति-विरति, शान्ति-श्रान्ति, आकार-निराकार के ज्वार-भाटे आते रहते हैं. द्वैतोंकी ये लहरे उठती हैं. इसी आनन्द-अद्वैतके सागरमें. अनेकविध द्वैतकी लहरोंमें लहराता हुआ आनन्दके अद्वैतका सागर है परमात्मा. महाप्रभु कहते हैं कि यह आनन्दका स्वभाव ही है कि सारे विरुद्ध धर्म यहां आश्रय पाते हैं. अतएव ऋग्वेदमें कहा गया है **''सर्वे होतारो यत्र एकनीडं भवन्ति''**.

ब्रह्मसे सृष्टिकी बात सुनकर कुछ दार्शनिक अधीर हो जाते हैं. आक्षेप करने लग जाते हैं कि यदि सृष्टि निष्प्रयोजन बनाई गई तो ब्रह्मको बुद्धिमान नहीं माना जा सकता और यदि किसी प्रयोजनकी पूर्तिके लिए ब्रह्मने ब्रह्मांडकी रचना की तो ब्रह्मको अपूर्ण मानना पड़ेगा. यदि सृष्टिके रूपमें ब्रह्म स्वयम् परिणत हुआ तो विकृत हो जायेगा अन्यथा ब्रह्मके अलावा सृष्टिके दूसरे उपादान कारणकी कल्पना की तो ब्रह्मका अद्वैत खण्डित हो जायेगा.

महाप्रभु कहते हैं कि सृष्टिकी उत्पत्तिके विचारमें उसकी सप्रयोजनता या निष्प्रयोजनता का विचार अप्रासंगिक है. सृष्टि ब्रह्मकी एक क्रीड़ा

है, लीला है. लीला न तो किसी प्रयोजनके अधीन की जा सकती है और न निष्प्रयोजन ही. जैसे तादात्म्यके सम्बन्धमें (सुवर्णकुण्डल=सुवर्ण या ३=१+२) न तो पूर्णतया भेद ही माना जा सकता हैं और न अभेद ही. यदि पूर्ण अभेद मानते हैं तो सम्बन्ध खतम हो जायेगा, क्योंकि सम्बन्ध किन्हीं दोके बीच ही होता है. यदि पूर्णतया भिन्न माना जाये तो तादात्म्य कैसा? अत: तादात्म्य होना उसके चैतन्यमण्डलकी परिधिमें पैदा होती अनुभूतियां हैं. केन्द्रमें तो प्रत्येक चेतनाके एक अव्यक्त आनन्द छिपा हुआ रहता ही है (को ह्येव **अन्यात्? कः प्राण्यात्? यद् एष आकाशे आनन्दो न स्यात्**).

जैसे ध्रुव-प्रदेशोंके समीप सागरमें हिमानी द्वीप जम जाते हैं. सागरकी उपरी सतहपर वे सागरके हिस्से होनेपर भी सागरसे पृथक् प्रतीत होते हैं. बर्फकी परतमें छेद करके देखा जाये तो नीचे सागरका जल मिल सकता है. इसी तरह व्यापक अक्षरब्रह्ममें जड़ और जीवात्मा हिमानी द्वीपकी तरह प्रकट हो जाते हैं. ये अक्षरब्रह्मके सागरमें अक्षरब्रह्मसे प्रकट हुए अक्षरब्रह्मके अंशरूप अक्षरब्रह्मात्मक हिमानी द्वीप हैं. असीम अक्षरब्रह्मके सागरमें जमते और पिघलते इन असंख्य ब्रह्माण्डोंके हिमानी द्वीपोंको उससे न तो भिन्न और न अभिन्न ही माना जा सकता है. इनके जमनेसे न तो सागरमें कोई विकृति आती है और न पिघलनेसे विनाश ही. हिमका रूप ऐसा नहीं होता कि उसे जमा हुआ जल माननेमें कोई अड़चन आये और न पिघल जानेपर उसे शेष सागरसे पृथक् ही किया जा सकता है. जमनेकी प्रक्रियामें जल कारण लगेगा और हिम कार्य. पिघलनेकी प्रक्रियामें हिम कारण लगेगा और जल कार्य! कौन किसका कारण है? दोनोमें परस्पर तादात्म्य है—दोनों है— दोनों ही एक-दूसरेके कभी कार्य बनते हैं और कभी कारण भी. फिर भी दोनो न तो सर्वथा भिन्न है न सर्वथा अभिन्न ही. तादात्म्य सम्बन्ध किन्हीं दो भिन्न वस्तुओंके बीच होता है कि किसी अकेली वस्तुका वह स्वरूप है, ऐसे अयुक्त प्रश्न

पूछ कर तादात्म्यको ठुकराया नहीं जा सकता है. जैसे श्यामवर्णकी श्वेत अथवा अश्वेत में हम पूर्ण व्याख्या दे नहीं पाते. क्योंकि श्वेत वह होता नहीं है और अश्वेत तो हरे-नीले आदि अनेक रंग हैं जो श्वेत नहीं हैं. इसी तरह लीलाको सप्रयोजन कृति नहीं मानी जा सकती और न निष्प्रयोजन कहनेसे ही लीलाका पूर्ण स्वरूप हृद्गत हो पायेगा. पेशेवर खिलाडी धन कमानेके लिये खेलते है किन्तु शौखिया खिलाडीका हम उपहास नहीं कर सकते. हम उससे यह नहीं कह सकते कि यदि वह धन कमानेके लिये नहीं तो धन खोनेके लिये खेलता है. सृष्टिक्रीडाको भी ब्रह्मके शौक़की तरह ही समझना चाहिये. क्रीडा अपने आपमें प्रयोजन होती है. हम क्रीडाका प्रयोजन पूछ नहीं सकते हैं.

स्टील्के बर्तन बन जानेपर भी स्टील् तो स्टील् ही रहता है. इसी तरह जड़-जीव रूप धारण करनेपर भी ब्रह्म तो ब्रह्म ही रहता है, विकृत नहीं होता. प्रश्न उठ सकता है कि अखंड चैतन्यरूप ब्रह्म जड़ कैसे बन सकता है; और अखंड आनन्दरूप ब्रह्म सुख-दुःख-मोह-ग्रस्त-जीव कैसे बन सकता है. महाप्रभुका कहना है कि जड़ पदार्थोंका चेतनाहीन होना केवल बाहरी रूप है. भीतर प्रत्येक जड़ पदार्थोंमें भी चेतना विद्यमान है. इसी तरह सचेतन जीवका सुख-दुःख-मोह आदिसे ग्रस्त होना बाहरी रूप है. भीतर तो वह भी आनन्दस्वरूप ही है.

जब किसी वस्तु या घटना का वाणीसे हम वर्णन करते हैं तो अर्धनारीश्वर शिव-पार्वतीकी तरह वाणी और अर्थ परस्पर आलिंगनबद्ध हो जाते हैं. कभी वाणीसे वाणीके बारेमें जब हम कुछ अभिव्यक्त करना चाहते है तो बड़ी अटपटी स्थिती पैदा हो जाती है. लिख कर व्यक्त करना हो तो एक उपाय हमने खोज लिया है (१)रामायणमें रामकी लीलाका वर्णन है. (२)'रामायण' रामकी लीलाका वर्णन है.

(१)में 'रामायण' शब्द ग्रन्थवाची है. (२)में 'रामायण' शब्द रा-मा-य-ण ध्वनियोंके समूहसे बननेवाले 'रामायण' शब्दका स्वयं स्ववाची बन जाता है. लिखकर व्यक्त करनेमें समस्या उद्धरण चिह्नसे हल हो गई कि शब्द स्वयं स्ववाची बन गया. पर कभी वाणी स्वयं "अनृतं वै वाग् वदति" कहे तो क्या अर्थ समझना चाहिये? यह विधान स्वयं सत्य है या असत्य? यदि इसे सत्य माना जाये तो सिद्ध नहीं होगा कि वाणी जो कुछ कहती है वह अनृत ही होता है क्योंकि स्वयं यह वाणी सत्यका निरूपण कर रही है. अत: यह विधान गलत सिद्ध हो जाता है! फलत: इसे असत्यका निरूपण माना जाये तो सिद्ध होगा कि वाणी सत्यका निरूपण करती है. ऐसी स्थितीमें यह पुन: गलत सिद्ध हो जायेगा क्योंकि इसमें तो कहा गया है कि वाणी असत्यका निरूपण करती है!

वाणीसे वाणीके निरूपणमें ऐसी गड़बड़ी पैदा हो जाती हैं. उपनिषद् कहता है "**येन इदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्? विज्ञातारम् अरे केन विजानीयाद्!**" जिस वाणीसे सभी वस्तुओंका निरूपण करते है उस वाणीका किस वाणीसे निरूपण किया जा सकता है!

इसी तरह स्वयं आनन्दरूप परमात्माका सृष्टि रचनेका प्रयोजन क्या था? यह पूछना प्रयोजनके प्रयोजनकी जिज्ञासा है. जो परमात्माका आनन्द सृष्टिके समस्त क्रिया-कलापोंका प्रयोजन है ऐसे परमात्माका सृष्टि बनानेमें क्या प्रयोजन था? यह क्या कोई प्रश्न है?

जिस आनन्दोपलब्धिके प्रयोजनसे प्राणी जीता है संघर्ष करता है, जीतता हो या हारता हो पर जीना चाहता है. यदि मरता भी है तो इसी आनन्दको ओर अधिक उपलब्ध करनेके लिए उस आनन्दने यदि सृष्टि बनाई तो हम कैसे पूछ सकते हैं कि प्रयोजन क्या था? प्रयोजनका प्रयोजन किस प्रयोजनसे पूछा जाता है?

''पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेव अशिष्यते'' ब्रह्म पूर्ण है, पूर्ण आनन्दरूप है. अपने इस पूर्ण आनन्दके स्वभावके प्रति उसका सजाग होना ही सृष्टिक्रमका सूत्रपात है. स्वयम् अपने पूर्ण आनन्दके अनुभवके लिये वह अपूर्ण जैसे रूप धारण कर लेता है. जड़में चिदंशको तिरोहित कर तथा जीवमें आनन्दांशको तिरोहित कर. वह एक रूपवती स्त्रीकी तरह अपने आनन्दांशके सौंदर्यका प्रतिबिम्ब निजके सदंश जड़के दर्पणमें निहारना चाहता है. क्यों? क्या रूपको निहारनेसे रूप बढ़ जाता है? नहीं! क्या रूपको निहारा न जाये तो रूप घट जायेगा? नहीं! फिर भी रूपको नयनोंसे निहारना पड़ता है. नयन रूप चाहते हैं और रूप नयन!

कृतज्ञताज्ञापन

प्रस्तुत ग्रन्थमें विगत कुछ वर्षोंमें विभिन्न विचारगोष्ठियोंमें प्रस्तुत किये गये आलेखपत्र अथवा मौखिक वक्तव्य संकलित किये गये हैं. इन्हें मुद्रणार्थ संकलित एवं सम्पादित क्रमबद्ध करनेका श्रेय श्रीपरेश शाह तथा श्रीमती मनीषा परेश शाह दम्पतीके सक्रिय उत्साह एवं अथक श्रम के ही कारण शक्य हुवा. महाप्रभुके सिद्धान्तोंकी सेवा करनेको इन दोनोंकी तत्परता नितान्त अभिनन्दनीय है! यह कार्य जब इन दोनोंने मिल कर सम्पन्न किया तो प्रकाशनार्थ सहमत होनेके बाद प्राक्कथन किससे लिखवाना यह अपेक्षा उभरी. तब भारतीय दर्शनके अध्ययन-अध्यापन-गवेषणा और साहित्यप्रकाशन की तपस्यामें निरन्तर निरत प्राध्यापक श्रीअम्बिकादत्त शर्माजीकी सुधी आनी सर्वथा स्वाभाविक कथा ही थी. श्रीशरद् गोस्वामीके नितान्त अभिनन्दनीय उत्साहवश आयोजित होती वाल्लभ वेदान्तकी विगत सभी विचारगोष्ठियोंमें श्रीशर्माजी बौद्ध दर्शन और वाल्लभ वेदान्त के तुलनात्मक विमर्शार्थ एक श्लाघ्यतम वक्ताके रूपमें संमिलित हो कर विचारगोष्ठियोंको गौरवान्वित करते रहे हैं! और यह परम हर्षका विषय है कि इस ग्रन्थके

प्राक्कथनलेखनार्थ अनुरोध करनेपर श्रीशर्माजीने अपनी अत्यधिक व्यस्तताके बावजूद न केवल प्राक्कथनके लेखनार्थ अपनी सहमति प्रदान की अपितु जिस अखिल भारतीय दर्शन परिषद् संस्थाके शर्माजी महामन्त्री है उसकी दार्शनिक चिन्तन सृजन ग्रन्थमालाके तत्त्वावधानमें इसे प्रकाशित करनेकी भी अपनी अभिरुचि प्रकट की. एतदर्थ प्रस्तुत लेखक श्रीशर्माजीके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता है. इसका मुद्रापणोपयोगी समग्र उत्तरदायित्व हमारे अन्यान्य अनेक प्रकाशनोंकी तरह श्रीमनीष बाराईने ही वहन किया है. साथ ही साथ श्रीवल्लभविद्या.पी.श्रीविट्ठलेश प्र.आ.हो.न्यासने मुद्रणार्थ आर्थिक भार वहन किया तदर्थ न्यासके प्रति भी प्रस्तुत लेखक अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता है.

भाद्रपदकृष्णा षष्ठी
वि.सं.२०६६. मुंबई.

गोस्वामी श्याम मनोहर



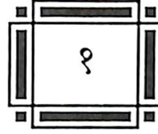
विषयानुक्रमणिका

आलेखक्रम | पुटक्रम



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



ब्रह्मवादी चिन्तनकी सहिष्णुता

(मंगलाचरण)

''आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि सर्वाणि. सर्वं ब्रह्म औपनिषदम्. मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद्. अनिराकरणं मे अस्तु. तद् अनिराकरणं मे अस्तु. तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु मयि सन्तु. ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'' (केनोप.शां.पा.).

(उपक्रम)

''अन्धकार और विरोधाभास से ग्रस्त हो जानेकी दिशामें मानवीय तर्क सत्वर तत्पर रहता है... क्योंकि जिन धारणाओं या सिद्धान्तों का वह उपयोग करना चाहता है, वे अनुभवोंकी मर्यादाओंसे अतीत होते हैं. वे हमारे इन्द्रियजन्य अनुभवोंपर आश्रित निरीक्षण या परीक्षण के विषय बन नहीं पाते. यों इन अन्तहीन विवादोंकी युद्धभूमिको ही 'पराभौतिकी' या 'तत्त्वशास्त्र' कहा जाता है. एक समय था कि जब पराभौतिकी सभी विज्ञानोंकी महारानी मानी जाती थी... अब तो समयके दिशा बदलते प्रवाहके वश इस भद्र महिलाके प्रति तिरस्कारका अतिरेक बढ़ गया होनेसे वह हेकुबाकी तरह विलाप करती सी लगती है कि ''मैं अपने यशकी गरिमाके शिखरपर अनेक

पुत्रोंके रहते भी निर्वासित भटक रही हूं'' ('शुद्ध-उपपत्तिमीमांसा'के प्रथम संस्करणके उपोद्घातमें इमानुएल कान्ट)

(आधुनिक विज्ञान और अज्ञेयवादी तत्त्वमीमांसा)

जर्मनीके महान् दार्शनिक इमानुएल् कान्टने बाह्य पदार्थ या वस्तु को अज्ञेय; जबाके, यथावभात वस्तुको हमारे भीतर वस्तुके अवभासनकी जो अपरिहार्य कारणसामग्री उपलब्ध रहती हैं, उनकी मर्यादाओंके अनुसार ही अवभासित होती होनेसे ऐसे अवभासनका याथार्थ्य अशक्य मान लिया है.

यहां यह विचारणीय लगता है कि बाह्य पदार्थ या वस्तु के बारेमें जैसी धारणा हम घड़ते हैं, बाह्य वस्तुका सर्वथा तदनुरूप होना अथवा हमारी अनुभूतियोंका ही बाह्य वस्तुओंके सर्वथा अनुरूप होना निश्चित हो भी सकता है और नहीं भी. फिरभी बाह्य पदार्थोंके साथ स्वयं हमारे दैनन्दिन व्यवहारोंके उदाहरणोंमें अपनी अभिलाषा अपेक्षा आवश्यकता या योजना के अनुरूप क्या हम बाह्य वस्तुओंका आविष्कार पुनर्निर्माण परिवर्तन या परिवर्धन कर नहीं पाते क्या! वस्तुतः तो आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखाओंने इस दिशामें नित्य-नूतन वैज्ञानिक अन्वेषण और नित्य-नूतन आविष्कारों द्वारा मानवीय चेतनाको न केवल चकित प्रत्युत झकझोर सा ही दिया है. अतः हमारी चेतनाके अन्यतम व्यापार अभिलाषा अपेक्षा आवश्यकता या योजना के अनुरूप यदि बाह्य पदार्थ प्रकट हो पाते हों या घड़े जा सकते हों तो, उसी चेतनाके अन्यतम आयामरूप अनुभूति या अवधारणा रूपी व्यापारोंको बाह्य पदार्थानुरूप स्वीकार लेनेमें भी, किसी तरहकी आपत्ति तो उठनी नहीं चाहिये. यह अनुभूतिरूप या अवधारणारूप चेतनाव्यापार जैसे वस्तुतन्त्र हो सकता है वैसे ही अनुभूतिकी जनक जो करणसामग्री होती हैं उनके आधीन औपाधिक भी हो सकता

है. हमारी अभिलाषाके अनुरूप बाह्य पदार्थोंके ढल पानेकी केवल एक हकीकत ही, स्वयं बाह्य पदार्थ और आन्तरिक अवधारणाओं के बीच मानी जाती तथाकथित ऐकान्तिक अननुरूपताको अप्रामाणिक सिद्ध कर देती है.

कौन नहीं जानता कि प्रारम्भमें अनवगत परन्तु बादमें न केवल भलीभांति अन्विष्ट; प्रत्युत, मेंदेलेव सदृश वैज्ञानिकों द्वारा सभीके इलेक्ट्रॉन्स् न्यूट्रॉन्स् एवं प्रोटॉन्स् के विविध आणविक भारोंकी सारणीद्वारा सुव्यवस्थापित प्रकृतिसिद्ध ९४ तत्त्वोंके आईसोटोप्स्के अलावा भी संप्रति वैज्ञानिकों द्वारा कृत्रिम १४ या १५ आईसोटोप्स्, मस्तिष्कके भीतर केवल प्रत्ययोंके रूपमें नहीं प्रत्युत प्रकृतिसिद्ध अन्यान्य तत्त्वोंकी तरह ही मस्तिष्कसे बाहर विद्यमानतया स्वीकारे गये हैं अथवा प्रकट किये गये हैं.

माइक्रोस्कॉपिक् सूक्ष्मतम संरचनावाले एककोशीय जीवाणु रासायनिकाणु भौतिकाणु जैसे पदार्थोंकी तरह, सुदूरतर बाह्य अवकाशमें अवस्थित टेलिस्कॉपिक स्थूलतर ब्रह्माण्ड कृष्णविवर तारा उल्कापिण्ड जैसे पदार्थोंको भी; अथवा, हमारे भीतर ज्ञानोपकरणतया भरी हुयी सामग्रिओंकी संरचनाओंको भी पहले कभी हम तदोपलब्ध ज्ञानोपकरणोंके सहारे तो कथमपि जान नहीं पाते थे.

नेत्रपटल भी तो, अपनी प्रतिबिम्बग्राहिणी संरचनाके आधीन, दृष्टिगोचर होनेवाले बाह्य पदार्थोंको दिशाव्यत्यय द्वारा, अर्थात् दृष्यवस्तुके उपरी भागको नीचे और दायें भागको बायें ही, गृहीत करता है. फिरभी मस्तिष्क उसे बाह्य देशमें यथावस्थित ही प्रदर्शित करता है, नकि अपरिहार्य ज्ञानोपकरणोपहित दृश्यरूपकी आभासित रीतिके अनुसार.

वैसे आज तो ऐसे सभी बाह्य पदार्थोंको जान पानेके अनेकविध वैज्ञानिक उपकरण, नामतः, एक्सरे इन्फ्रारेड और अल्ट्रावायोलेट रैस्

सोनोग्राफी एम.आर.आई. माइक्रोस्कोप टेलीस्कोप राडार आदि भी आविष्कृत हो चुकें हैं. इन नूतन आविष्कृत उपकरणोंके कारण ज्ञानोपकरणकी सामग्रियोंकी कार्यप्रणाली, उनके मस्तिष्कान्तर्वर्ती केन्द्रों या नाड़ियों की तरह उनमें प्रयुक्त होनेवाले जैवरसायनों, आदिका भी इदमित्थं ज्ञान प्राप्त होने लगा है. न केवल इतना अपितु उनके भलीभांति कार्यक्षम न हो पानेपर जेनेटिकल पुनर्निर्माण भी दिनानुदिन शक्य बनता जा रहा है. इससे आगे बढ़ कर इन जैविक ज्ञानोपकरणकी सामग्रियोंके अनुकरण द्वारा अजैविक डिजिटल तकनीकी जड़यन्त्र — आंख तरह काम करते डिजिटल केमेरा, कानकी तरह काम करते माईक, मुखकी तरह काम करनेवाले स्पीकर, नाककी तरह गन्धग्राही उपकरण, मस्तिष्कके विचारोंको पढ़-जान पानेवाले उपकरण, चरण, हस्त आदि — भी आविष्कृत हुवे हैं.

अतः स्वयं अज्ञेयवाद, अर्थात् एग्नोस्टिसिज़म, ही अपनी अनेकानेक अकाट्य उपपत्तियोंके साथ महारानी हेकुबाकी तरह विलाप करता सा अब प्रतीत होने लगा है!

अतएव वस्तुतः तो बाह्य पदार्थके अंशात्मना या पूर्णतया अज्ञेय होनेकी अवधारणा भी, दोनोंके बीच किसी न किसी तरहके आदान-प्रदानात्मक अन्तर्व्यवहारका सबल प्रमाण मानी जानी चाहिये; बाह्य पदार्थके अज्ञेयतया समवधारित होनेके कारण ही. अतएव आत्यन्तिकी अननुरूपता या इतरेतरासहिष्णु विसंवादिता युक्तिसंगत नहीं लगती है.

निष्कर्षतया कहा जा सकता है कि विज्ञानतया अभिमत अनेकविध विद्याओंकी महारानी पराभौतिकीका, हेकुबाकी तरह अकारण, विलाप करते रहनेका अब कोई औचित्य शेष नहीं रह गया है. फिरभी पराभौतिकीके लिये भी, अपने प्रशास्य प्रदेशोंकी परिधिओं या परिसीमाओं का प्रशासनौपयिक सन्देहरहित आकलन कर लेना आवश्यक ही नहीं

अपितु अनिवार्य हो गया है. अतः अनेक पुत्रोंके विद्यमान रहनेपर भी, निर्वासित होनेकी आत्मग्लानि या कुण्ठा से अकारण त्रस्त या ग्रस्त होनेके बजाय विकसमान अद्यतन विविध विज्ञानोंके सूचनोंको दत्तकविधानकी प्रक्रियाद्वारा अपने पुत्रतया मान्य करनेका औदार्य उसे प्रकट करना चाहिये. तभी वह सर्वविध त्रास एवं कुण्ठा से मुक्ति पा सकेगी!

(आधुनिक विज्ञानके सन्दर्भमें कर्ममीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसा का द्वैत)

अपने देशमें भी, जर्मनदेशीय इमानुएल् कान्ट्की तरह ही, तत्त्वमीमांसाके क्षेत्रमें यद्यपि केवलाद्वैतवादका परन्तु प्रामाण्यमीमांसाके क्षेत्रमें द्वैतवादका अवलम्बन करनेको भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने भी—

> ''कर्म, लौकिक हों या वैदिक, उन्हें करना हो तो किया जा सकता है, न करना हो तो न भी करना शक्य है; और इसी तरह किसी अन्यथा प्रकारसे करना हो वह भी शक्य है. यों तीनों प्रकारके विकल्प शक्य होते हैं... ऐसे, किन्तु, वस्तुके बारेमें होने न होने या अन्यथा भी होनेके विकल्प शक्य नहीं. विकल्पना तो, क्योंकि, पुरुषकी बुद्धि अपेक्षाके अनुसार ही होती है. किसी भी वस्तुके याथात्म्यका ज्ञान जबकि पुरुषकी बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखता. तो उसे क्या अपेक्षा रहती है? वह तो केवल वस्तुके आधीन ही उत्पन्न होता है... इसी तरह पूर्वसिद्ध वस्तुओंके अनुभवका भी प्रामाणिक होना वस्तुओंके आधीन ही होता है''[१].

ऐसे प्रतिपादनोंमें चेतनाशील पुरुषके लिये निजकर्तव्यका प्रमाबोध किसी कर्मको करने, न करने अथवा अन्यथा करने के बौद्धिक संकल्पके अधीनतया मान्य किया है. इसके विपरीत बाह्य वस्तुके याथार्थ्यके

अवबोधमें बुद्धितन्त्रताके बजाय वस्तुतन्त्रताका सिद्धान्त प्रस्तुत किया है. यों प्रमाणमीमांसामें द्वैतवाद पुरस्कृत किया सिद्ध हो जाता है.

इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि वस्तुतः तो चेतनाशील पुरुषमें भी स्वभावजन्य, अथवा आधुनिक शरीरशास्त्रीय परिभाषाके अनुसार कहना हो तो ओटॉनोमस् नर्वस् सिस्टम्के कारण, उदाहरणतया, श्वासोच्छ्वास, शयनावस्थामें पार्श्वपरिवर्तन, पक्ष्मपातन, जागरण, रोदन-हास्य, नाडिओंमें रक्ताभिसंचरण इत्यादि अनेकविध क्रियायें बौद्धिक संकल्पके बिना ही सजीवशरीरके स्वभाववश भी प्रकट होती दिखलायी देती हैं. अतः शरीरोद्भूत क्रिया अथवा कार्यों का बौद्धिक संकल्पसे नियततया जन्य होना ही विवादके घेरेमें घिरा हो तब उनके कर्तव्य अकर्तव्य या अन्यथाकर्तव्य होनेका प्रमाबोध भी संकल्पमूलक कैसे रह पायेगा ?.

इसी तरह भूकम्प बाढ़ अंधड़ आदि प्राकृतिक प्रभावोंके वश असंकल्पित, उदाहरणतया, गिरना बहना चलते-चलते अचानक ऊपर उड़ जाना आदि, क्रियायें शरीरमें प्रकट होती ही हैं. इन क्रियाओंमें ग्रस्त शरीरी अपने खण्डित अहंकारवश उन्हें असंकल्पित क्रिया मानता हो तो माने परन्तु ''मैं गिर रहा हूं—मैं बह रहा हूं—मैं उड़ रहा हूं'' ऐसी अनुभूतियोंका शरीरमें प्रकट होना तो इन्कारा नहीं जा सकता है. इसी तरह शरीरको प्रभावित करनेवाले शीतातपवर्षाजन्य रोग आदि हेतुओंके प्रभाववश भी, उदाहरणतया, अंगकम्पन वमन अतिरेचन प्रलाप आदि अनेकविध क्रिया बिना ही किसी संकल्पके ही हमारे शरीरमें प्रकट होती दिखलायी नहीं देती क्या ? ऐसी स्थितिमें इन अनेकविध क्रियाओंके बारेमें हमें न तो संकल्पजन्यता और न कर्तव्यताका ही बोध होता है. अतः भूतवस्तु न होनेपर भी इन क्रियाओंमें भी वस्तुतन्त्र प्रमाबोध स्वीकारना ही पड़ता है.

ऐसी स्थितिमें समान शरीरमें कुछ क्रियायें संकल्पित होती हैं

तो बहोत सारी क्रियायें असंकल्पित भी होती हैं, ऐसा अर्धजरतीयन्याय स्वीकार लेना ही युक्तिसंगत लगता है.

न केवल इतना प्रत्युत प्रत्यक्षावभासन भी, कुछ उदाहरणोंमें, संकल्पतन्त्र होता है तो अन्य कुछ उदाहारणोंमें वस्तुतन्त्र भी. असंकल्पित प्रत्यक्षोंके उदाहरणतया जैसे विद्युत्प्रकाशन मेघगर्जन आदिकी चाक्षुष या श्रावण प्रत्यक्षानुभूति वस्तुतन्त्रतया प्रकट होती हैं, वैसे ही इच्छाजन्य या प्रयत्नजन्य क्रियायें भी प्रकट होती ही हैं. क्योंकि मुखके असंकल्पित प्रत्यक्षावभासनके कालमें भी केवल नासिकादर्शन नयनगोलकदर्शन कपोलचिबुक आदिमें अवस्थित तिलकालक के संकल्पजन्य दर्शन या एकाग्र अनुदर्शन सुकर होते ही हैं. इन उदाहरणोंमें अक्रियारूप अर्थात् ज्ञानरूप होनेपर भी संकल्पतन्त्रता सर्वजनविदित सन्देहातीत तथ्य है. इसी तरह गीतश्रवणकालमें भी षड्जादिस्वरश्रुतिओंका भलीभांति एकाग्र अनुश्रवण भी, इच्छा संकल्प या प्रयत्न के वश, होता भी पाया जाता है. भूमि आदिपर समुपवेशनके समय भूमि आदिमें अवस्थित तीक्ष्ण कण्टक आदिकी तीक्ष्णताका स्पार्शन आकलन भी इच्छा या प्रयत्न के कारण ही शक्य हो पाता है.

अतः शरीरमें प्रकट होनवाली सभी क्रियायें न तो कर्तव्यतया अभिप्रेत होती हैं न अकर्तव्यतया ही; और, न ज्ञान ही अपने सर्वविध प्रकारोंमें सर्वदा अचिकीर्षित या अकर्तव्य होनेके कारण वस्तुतन्त्रतया ही प्रकट होता है.

अतः क्रियाबोधकी केवल संकल्पतन्त्रता और रूपादिबोधकी केवल वस्तुतन्त्रता के द्वैतके बारेमें भी औत्सर्गिक या आपवादिक विषयव्यवस्था अपेक्षित है ही. अतः इस विषयमें कोई साधारण नियम घड़ा या स्वीकारा नहीं जा सकता है. वेदके संहिता ब्राह्मण एवं उपनिषदों में भी, अतएव, प्रजापति विष्णु अग्नि आदि यज्ञदेवताओंको तथा ब्रह्मको सिद्ध तथा साध्य उभयरूप स्वीकारा गया है :

क. ''जो भी कोई सतरह प्रकारके प्रजापतिको यज्ञमें अनुगत स्वीकार पाता है''.

ख. ''वह (प्रजापति) यज्ञ बन कर यज्ञका कारण स्वयं ही बना'', ''विष्णु यज्ञरूप भी है और यज्ञदेवता भी''.

ग. ''नाम रूप कर्म वैसे तो तीन होते हैं... ब्रह्म किन्तु इन सभी नामोंका... रूपोंका... कर्मोंका भरण करता है. अतः ये तीन होनेपर भी आत्माके रूपमें एक होते हैं. इसी तरह आत्मा भी एक होनेपर भी तीन होती है...''[२].

अतः क्रिया एवं ज्ञान के बीच पुरस्फूर्तिक रूपमें यद्यपि परस्पर 'अस्ति-भवति', अर्थात् Being-Becoming , के जैसा प्रभेद या तारतम्य प्रकट होता है. परन्तु स्वयं 'अस्ति' (Being)ही तो कालप्रवाहकी क्षणरूप उपाधियोंमें प्रकट हो जाता है इसके अलावा 'भवति' (Becoming) और क्या है? यदि अपने घरकी खिड़कीमेंसे बाहर दिखलायी देते असीम आकाशको केवल खिड़कीकी सीमामें दिखलायी देनेके अपराधवश भिन्न या खण्डित न मानना हो तो. अतएव महर्षि यास्क निरुक्तनिघन्टुमें कहते हैं:

''क्रियापदमें प्रधानता भाव (अर्थात् अस्थिर क्रिया होने) की होती है. नामपदमें, जबकि, प्रधानता स्थिर सत्ताकी होती है... सत्तावान् पदार्थोंका निर्देश 'यह गाय है', 'यह घोड़ा है', 'यह पुरुष है' 'यह हाथी है' ऐसा (अंगुलीनिर्देशपूर्वक) किया जाता है. इसके विपरीत भावका निर्देश 'यह हो रहा है' इस तरहके शब्दोंमें 'बैठ रहा है'-'सो रहा है'-'जा रहा है'-'खड़ा हो रहा है' ऐसे किया जाता है... इस भावके छह विकार होते हैं, ऐसा वार्ष्यायणि ऋषिका अभिप्राय है : 'पैदा होता

है', 'है', 'विपरिणत होता है', 'बढ़ता है', 'घटता है' और 'विनष्ट हो जाता है'... इनके अतिरिक्त जो भी कोई विकार होते हैं, उन्हें भी इन्हीं विकारोंमें अन्तर्भूत समझ लेना चाहिये, ऐसा वार्ष्यायणिने कहा है''[३].

अतएव ब्रह्मको नित्य निर्विकल्प मान लेना, क्योंकि विकल्प तो क्षयिष्णु कर्मोंमें ही शक्य हो सकते हैं, यह धारणा मूलमें भगवद्गीताके ''कर्ममें, यदि, ऐसी ब्रह्मसमाधि सिद्ध हो जाये तो अर्पण भी ब्रह्मरूप हो जाता है, हवि भी ब्रह्मरूप, अग्नि भी ब्रह्मरूप, अर्पणकर्ता भी ब्रह्मरूप और जिसे अर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्मरूप है''[४] वचनसे विपरीत प्रतीत होती है. क्रियोपकारक कर्ता कर्म करण सम्प्रदान और अधिकरण रूपी पांच कारकोंसे सम्पन्न होती क्षयिष्णु क्रिया भी उसके सभी कारकोंमें ब्रह्मभावदृष्टि रख कर अनुष्ठित हो पाती हो तो वह क्षयिष्णु होनेके बजाय अक्षय ब्रह्मात्मिका कर्मसमाधि बन जाती है, ऐसा भगवद्गीता तो आश्वासन प्रदान करती ही है. अतः अकारण ही कर्मके वास्ते अब्रह्मबुद्धिके वश असहिष्णु बरताव नहीं करना चाहिये.

(विश्लेषणवादके सन्दर्भमें परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील तत्त्वोंका स्वरूप)

अस्तु. मस्तिष्कविज्ञानकी अभी तक विकसित शाखाने पराभौतिकी द्वारा प्रशासित जिन प्रदेशोंको पदाक्रान्त बनाया है, वह सजीव प्राणिओंमें प्रकट होती स्वाभाविक या प्राभाविक क्रियाओं एवं संवेदनाओं का क्षेत्र है. इस क्षेत्रमें निरीक्षण तथा परीक्षण प्रचुर हुवे हैं. शारीरिक क्रिया या संवेदना क्षेत्रोंके विमर्शमें मस्तिष्कके भीतर अवस्थित विभिन्न केन्द्रोंके नक्शोंके निर्माण तथा उनके अनुकरण द्वारा वैसे जड़ या जैविक यन्त्रोंका भी निर्माण एवं प्रयोग, पराभौतिकी तत्त्वशास्त्र द्वारा प्रशासित प्रदेशोंको हथिया लेनेके वास्ते, आधुनिक विज्ञानका सर्वथा

अद्यतन पादक्षेप यह है. सफल होनेपर आधुनिक विज्ञान पराभौतिकी तत्त्वशास्त्रका सहयोगी ही बनेगा या विरोधी ही, इस बारेमें आशावादी या निराशावादी बनना एक वैचारिक धांधली मुझे अभी लगती है.

कलानुभूति या कलाविष्कृति, नैतिक कर्तव्यबोध या कर्तव्यानुष्ठान अथवा किन्हीं विषयोंमें धार्मिक आस्था या तदनुरूप धर्मानुष्ठान को सम्पन्न करनेवाले मस्तिष्कके भीतर रहे बोधकेन्द्र या आदेशकेन्द्र वहां कहांपर अवस्थित हैं, उनमें अपने कार्यको सम्पन्न करनेमें किस प्रकारके वैद्युतरासायनिक परिवर्तन आते हैं, इन सारी बातोंसे जुड़े परीक्षणोंमें पराभौतिकी-प्रशासित क्षेत्रोंका बलाद् अधिग्रहण कर उन्हें निज अंकुशमें लानेको आधुनिक विज्ञानने दुर्दम पराक्रम प्रकट किया है. पर यह तो सजीव प्राणीकी चेतनाके विकासके प्रायः सभी सोपानपर अभी ही नहीं सदा-सर्वदा चलती आयी चिरन्तन कथा है.

जड़ पदार्थोंकी विविधतामें भी तो कोई एक पदार्थ कभी दूसरे पदार्थका आविर्भावक, तो कभी परिवर्धक, तो कभी परिशोषक या परिहारक कब नहीं था! इन्हीं जड़ पदार्थोंके बीच प्रकट होनेवाले सजीव अचर स्पर्शवेदी शरीरोंका जड़ पदार्थोंपर जैसा वर्चस्व प्रकट हुवा वैसा ही इन सजीव अचर पदार्थोंपर भी तो पुनः सचर स्पर्शवेदी शरीरधारियोंका वर्चस्व या अंकुश रहा ही है. उनमें भी पुनः विद्यमान रस-गन्ध-ध्वनि-रूपके संवेदी सजीव शरीरोंपर इन पंचविध तन्मात्राओंके न केवल विद्यमानसंवेदी अपितु स्मृतिजन्य संस्कारवश प्रत्यभिज्ञासम्पन्न सजीव प्राणियोंका भी वर्चस्व रहा ही है. विकाससोपानपर प्रकट होनेवाले इनपर भी पुनः इन पंचविध तन्मात्राओंकी समुत्पत्ति-समापत्ति-समाप्तिके संवेदी शरीरोंका वर्चस्व रहा ही है. यों अपनेसे ऊपरले विकाससोपानपर प्रकट होनेवाली बुद्धिसामर्थ्यका निचले सोपानोंपर प्रकट होनेवाले बुद्धिसामर्थ्यपर वर्चस्व सर्वदा ही इतिहाससिद्ध रहा है. फिरभी प्रकृतिने अपने सन्तुलनशील स्वभावके वश किसीको जीवनाधारही बना कर विनष्ट नहीं होने दिया.

अतः यह कहनेका साहस हम जुटा पाते हैं कि निचले सोपानोंपर अवस्थित बाह्य पदार्थोंके असंकल्पित अनुभवों अवधारणाओं तथा व्यवहार्यता पर पराभौतिकीविदोंको सतानेवाली अनिश्चिति आज कष्टप्रद भी हो तब भी भविष्यमें अनुभवातीत पदार्थोंके चिन्तनक्षेत्रमें निजवर्चस्विताके वास्ते पराभौतिकीके चिन्तकोंके हितमें प्रकृतिस्वभावोपात्त सन्तुलन प्रकट हो ही जायेगा! क्योंकि प्राणिविकासके विविध सोपानोंपर भी निचले स्तरके संवेदनशीलतावाले सजीव प्राणियोंपर उपरले स्तरके सजीव प्राणियों वर्चस्व पहले भी दुःसह रहा होनेपर भी सर्वथा असह्य या निःशेष विघातक तो कभी हो नहीं पाया, वैसे ही निचले स्तरके पदार्थोंके स्वरूप अनुभव एवं व्यावहारिक उपयोगिता की रीतिको आधुनिक विज्ञानोंकी विविधता हथिया भी लेगी, तबभी उनसे उपरले अनुभवातीत पदार्थोंपर पराभौतिकी-चिन्तन अवरुद्ध नहीं हो पायेगा. भूतकालमें भी जैसे निचले स्तरकी विद्यमानवेदी चेतनाको जहां अभावबोध होता होगा, तब वहीं समुत्पत्ति-समापत्ति-समाप्तिकी संवेदनाशील चेतना भावग्राहिणी बन जानेके कारण अपने व्यवहारको व्यापक क्षेत्रोंमें वर्चस्वितया कार्यकारी बना पायी थी. फिरभी स्वाभाविक अनुभूतिके क्षेत्रमें कुछ न कुछ तो आपाधापी प्राणियोंके इतिहासमें भी सदा-सर्वदा प्रकट होती ही रही है. प्रकृतिकी सर्वपालनात्मिका शक्तिके कारण इसी तरहका सन्तुलन सदा-सर्वदा निभता रहा है!

एक सन्दर्भान्तरमें इस तरहकी आपाधापीकी दारुणकथा भागवतपुराणमें इन उल्लेखनीय शब्दोंमें वर्णित हुयी है :

> **क.**''बिन हाथवाले प्राणी हाथवाले प्राणिओंके भक्ष्य बनते हैं, बिना पगके जो प्राणी होते हैं वे चौपगे प्राणिओंके भक्ष्य बन जाते हैं, क्षुद्रकाय प्राणी महाकाय प्राणियोंके भक्ष्य बनते हैं. प्रत्येक जीवका जीवन इस तरह दूसरे जीवपर टिका हुवा है. वैसे तो इन सभी रूपोंमें एकमात्र

स्वयंप्रकाश भगवान्... जो आत्माओंके भी आत्मा हैं, वे भीतर भी अनुभूत होते हैं और बाहर भी. अपनी मायाशक्तिके कारण बहुधा भासित होते हैं''.

ख. ''उन परम भगवान्ने प्रत्येक सर्गके बाद अपनी शक्तिद्वारा यह प्रकट किया है... समुद्रके भीतरसे बाहर निकाली पृथ्वीको जब द्रुमोंसे चारों ओर घिरी हुयी पायी तो अनुसर्गके निर्माणार्थ नियुक्त अधिकारी क्रुद्ध हो गये... और वायु और अग्नि का निर्माण करके उन वृक्षोंको जला देने तत्पर हो गये... उनके द्वारा वृक्षोंको जलता हुवा देख कर... उनके क्रोधको शान्त करते हुवे बोले 'इन दीन वृक्षोंको जला देना आवश्यक नहीं, क्योंकि आपको तो प्रजाओंके पतिके रूपमें प्रजाकी वृद्धिका कार्य सोंपा गया है नकि वृक्षोंको जला देनेका! प्रजापतिओंके पतिरूप विभु अव्यय भगवान् हरिने ऊर्जा प्रकट करनेके हेतु वनस्पतियोंका एवं ओषधिओंका निर्माण किया है, क्योंकि अचर प्राणी चरिष्णु प्राणियोंके अन्न बनाये गये हैं. चरणरहित प्राणी पादचारियोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं, हस्तरहित प्राणी हस्तयुक्तोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं, दो पगवाले प्राणी चार पगवाले प्राणियोंके अन्नतया निर्मित हुवे हैं. अतः आप तो पापरहित होनेके कारण देवाधिदेव और अपने पिताकी आज्ञाके अनुसार प्रजाओंके सर्गके लिये नियुक्त हुवे हो सो वृक्षोंको जला देना आपकेलिये कैसे उचित हो सकता है? अतः सज्जनोंके मार्गको अपना कर अपने इस धधकते कोपका त्याग आपको कर देना चाहिये''[५]

अतः यह तो सृष्टिके निर्माणसंविधानमें सर्वत्र उपलब्ध होनेवाला शाश्वत सत्य ही है! अतएव प्रचुर अन्नके चतुर्दिक् पर्यावरणमें ही

अन्नाद प्राणी जीवित या विद्यमान रह सकता है और अन्नाद प्राणीके भीतर पहुंच जानेके बाद भक्षित अन्न ही अन्नादके साथ स्वरूपभावापन्न हो जाता है. अतएव भक्ष्य अन्न और भक्षक अन्नाद के बीच परस्पर अद्वैतानुभूतिमें आत्मविश्वैक्यभावका उपदेश तैत्तिरीयोपनिषद्में मिलता है :

> **''मैं स्वयं अन्न भी हुं... और अन्नभक्षी भी... मैं उस अन्नका भक्षण करता हुं जो अन्न मेरा भक्षक है... यों सोचनेपर मैं सारा भुवन बन जाता हुं. जो इस तरह समझ पाता है उसके लिये सुप्रकाश ज्योति प्रकट हो जाती है''**[६].

मुझे तो ऐसा लगता है कि आधुनिक विज्ञानके द्वारा पराभौतिकीके क्षेत्रको हड़पे या निगले जानेपर अन्नाद आधुनिक विज्ञानके भीतर जब पराभौतिक शास्त्र अन्नात्मना पहुंच जायेगा तब भक्ष्य अन्न और भक्षक अन्नाद के बीच तादात्म्यभावापत्ति सिद्ध हो जायेगी. फलरूपेण पराभौतिकी आधुनिक विज्ञानको सहज ही पराभौतिकीभावापन्न बना कर उसके स्वरूपकी घटक बन जायेगी! अतः ऐसे पराक्रमके सफल होनेपर भी विज्ञान उतना ही नियन्त्रण हमारी चिन्तनसामर्थ्यपर प्रकट कर पायेगा जितना कि ऐसे नियन्त्रणोंद्वारा यथाभिलाष स्वयंको भलीभांति कार्य सम्पन्न करने सक्षम बन पाये, उससे अधिक नहीं.

अतः आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन यदि पराभौतिकीचिन्तनपर कोपमयी या हिंसात्मिका दृष्टि रखता है तो वह दृश्यसृष्टिका वास्तविक हित नहीं कर पायेगा! वास्तविक विश्वहित तो पराभौतिकीचिन्तनकी तरह द्रष्टृसृष्टिपर भी अनुकम्पामयी या स्नेहमयी दृष्टिको निभानेपर ही शक्य है. इसी तरह पराभौतिकीचिन्तनको भी आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तनपर कोपमयी हिंसात्मिका दृष्टि नहीं रखनी चाहिये.

क्योंकि दिखना/देखना, सुनाईदेना/सुनना, प्रियलगना/प्रेम-करना, अप्रियलगना/उपेक्षा-द्वेष-करना, भयलगना/डरना-चाहना अथवा विचार-आना/विचार-करना आदि प्रकारभेदोंके बने रहते विचारशील मानवपशुको विचाररहित नहीं बनाया जा सकेगा.

अतएव विज्ञानके अन्वेषण-प्रयोग-आविष्कारोंद्वारा प्राप्त निष्कर्षोंपर यह चिन्तनप्रधान प्राणी अपना चिन्तन बन्द तो नहीं कर पायेगा. यह तो स्वाभाविक ही है कि पहले जैसे दृष्ट-श्रुत आदि उदाहरणोंके आधारपर उभरती जिज्ञासाके उपशमनार्थ उपपत्ति/अनुपपत्ति सोची जाती थी, वह अब वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रयोगोपात्त उदाहरणोंका अवलम्बन कर विचारणीय बनानेको बाधित होना पड़ेगा. प्रारम्भमें इसमें पराभौतिकीचिन्तकोंको अपनी हेठी लगती भी हो पर अन्तमें कभी न कभी तो लगनी बन्द हो ही जायेगी! अतः मानवीय बुद्धिरूप अधिकरणमें समानाधिकरणतया प्रकट होते पराभौतिक चिन्तन और वैज्ञानिक चिन्तन को ब्रह्मोपम अपने सामानाधिकरण्यका विचार कर परस्पर असहिष्णु नहीं बनना चाहिये.

आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तकोंद्वारा पराभौतिकचिन्तनकी उपेक्षा इसी तरह पराभौतिकचिन्तकोंको सताती आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तनकी भीतिके मूलमें, जो समस्या है वह तो विश्लेषणवाद या संश्लेषणवाद के साथ जुड़ी अतिरेकतावादी मनोवृत्तिकी ही है.

उदाहरणतया भावपदार्थका “[१]द्रव्य [२]गुण [३]कर्म [४]सामान्य [५]विशेष [६]समवाय” में विश्लेषण स्वयं वैशेषिकोंने ही पुरःस्कृत किया है. उनके इस अपराधवश, यदि, बौद्ध चिन्तन भावपदार्थको स्वीकारना न चाहता हो तो, वैशेषिक भी कह तो सकते ही हैं कि “[१]दुःख [२]अविद्या [३]संस्कार [४]विज्ञान [५]नामरूप [६]षडायतन [७]स्पर्श [८]वेदना [९]तृष्णा [१०]उपादान [११]भव [१२]जाति” के दुःखचक्रका अपने घटकोंमें विश्लेषण स्वयं बौद्धोंने

ही प्रस्तुत किया है. अतः ये बारह घटक तो स्वीकारे जा सकते हैं पर इनसे घटित दुःखचक्र नहीं, न तो प्रतीत्यसमुत्पादकी प्रक्रियाके अवलम्बनद्वारा और न अस्ति-नास्ति-उभय-अनुभयातीत शून्यताकी प्रक्रियाके अवलम्बनद्वारा. और तब तो "१सम्यग्दृष्टि २सम्यक्संकल्प ३सम्यग्वाचा ४सम्यक्कामान्त ५सम्यगाजीव ६सम्यग्व्यायाम ७सम्यक्स्मृति ८सम्यक्समाधि" वाले अष्टांगमार्गका विश्लेषण भी स्वयं सौगतोंद्वारा पुरस्कृत होनेसे प्रज्ञा-शील-समाधिकी दुःखनिरोधगामिनी त्रयी भी स्वीकार्य न हो पायेगी!

ब्रह्माण्डविज्ञानकी दृष्टिसे सौरमण्डलका भी उसके नाभिदेशमें अवस्थित सूर्य रूपी तारा एवं उसकी परिक्रमा करनेवाले बुध शुक्र पृथ्वी मंगल गुरु शनि आदि ग्रहपिण्डोंमें विश्लेषण शक्य होनेसे 'सौरमण्डल' पदको वाच्यार्थहीन वाचक नहीं माना जा सकता. सौरमण्डलके, क्योंकि, अस्तित्वको इन्कारनेपर पृथ्वीपर जन्म ले कर ऐसा विधान करनेवाला स्वयं ही असिद्ध हो जायेगा!

किसी बाह्य पदार्थके चाक्षुष अवभासनकी प्रक्रियामें, क्योंकि, बाह्य पदार्थकी बाहरी परत परसे परावृत्त प्रकाश नेत्रपटलमें प्रतिबिम्बित होता है, वहां प्रकाशके ग्रहणार्थ शंकु-शलाकाओंमें प्रकाशकिरणोंका पृथक्करण होता है, बादमें नेत्रगोलक और मस्तिष्क के बीच जो नाडीतन्त्र बिछा हुवा है उनमें रहनेवाले नाडीकोशों (Nervecells or neurons) में वैद्युतरसायनिक तरंगोंमें रूपान्तरण प्रतिक्रियाके रूपमें प्रकट होता है. ये तरंगे मस्तिष्कके भीतर भरे संवेदनशील नाड़ीकोशमुकुरों (Mirror neurons) में दर्ज होते हैं. इस तरह नेत्रपटलपर प्रकाशपातनकी प्रक्रियासे शुरु होनेवाली क्रियाकी वैद्युतरसायनिक प्रतिक्रियाकी कई कड़ियोंके अलावा चाक्षुष अवभासनकी चेतनात्मिका सत्ताका अस्वीकार भी किया जा सकता है. ऐसे विश्लेषणवादकी, परन्तु, अतिरेकिताके वश तो सम्पूर्ण मानवशरीरकी वास्तविकताको भी इन्हींके जैसी प्रक्रियाओंमें किये जाते विश्लेषणोंके आधारपर इन्कारा जा सकेगा. शरीरान्तर्वती काम या प्रेम

की इच्छा भी अन्तमें तो टेस्टोरेन्की रासायनिक प्रतिक्रियाके अलावा अन्य कुछ नहीं!

अतः ऐसे इन सभी उदाहरणोंकी सम्पुष्टि मोबाईल या डिजिटल केमेरा आदि उपकरणोंमें रहे प्रकाश ध्वनि स्पर्श गन्ध आदिके ग्राहक संवाहक संग्राहक डिजिट्स्की दुहाई दे कर की जाती है. एतावता मानवीय शरीरमें प्रकट होती इन संवेदनाओंको आत्मघातक विश्लेषणवादिताके अतिरेकमें कैसे इन्कारा जा सकता है? क्योंकि इन कृत्रिम उपकरणोंमें भी ऐसी बाह्य तन्मात्राओंकी ग्राहकता, उनके भीतर रहे कोषोपम कोष्ठों तक उनकी संवाहकता और उनके वहां किये जाते संग्रहण की वास्तविकताका निर्धारण भी, पुनः प्रकृति द्वारा विनिर्मित सजीव कोषोंद्वारा किये जाते ग्रहण संवाहन एवं संग्रहण के साक्ष्यपर अवलम्बित हुवे बिना शक्य नहीं.

मेंदेलेव द्वारा सारणीबद्ध किये गये सृष्टिके मूल तत्त्वोंका भी इलेक्ट्रॉन्स् न्यूट्रॉन्स् और प्रोटॉन्स् में विश्लेषण किया ही गया है. और इन परमाणुत्रयीके भी पुनः क्वार्क्स् (quarks)के घटक फॅर्मिनोस्, जो पुनः बेरिऑन्स् और मेज़ोन्स् घटकतया उत्प्रेक्षित हैं, उनमें विश्लेषण प्रस्तावित है. तो ऐसे विश्लेषणवादकी अतिरेकता भरी मनोवृत्तिद्वारा आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखाओंद्वारा मान्य पदार्थोंका भी अन्यथा व्याख्यान कहां अशक्य है?

अतः इन दिखलायी सुनायी देती तन्मात्राओंकी उपलब्धियोंके अलावा संकल्पजन्य देखने सुनने सूंघने छूने चखने आदिके अवबोधकलापकी तरह इच्छाजन्य चलने पकड़ने आदिके क्रियाकलापोंमें कृत्रिम अकृत्रिम जड़क्रियातीत इच्छा-अनिच्छा रुचि-अरुचि उत्प्रेक्षा-निश्चिति उपलब्धि-अनुपलब्धि सन्तोष-असन्तोष विस्मय-अविस्मय भीति-क्रोध रति-अरति विचार-ध्यान आदिके मनोभावोंकी वास्तविकताको भी इन्कारा नहीं जा सकता है.

उदाहरणतया मैं अपने कमरेमें बैठा हुवा, चर्मचक्षुसे तो कमरेके बाहर देखनेमें अक्षम हूं. तब भी अपने ज्ञानचक्षुसे मैं अपने कमरेके भीतर बैठा हुवा ही मुंबई महाराष्ट्र भारत एशिया पृथ्वी में बैठे होनेकी अनुभूति कर सकता हुं, नैयायिक इसे ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिका उचित उदाहरण मानें या न मानें! यह कृत्रिम वैज्ञानिक उपकरणोंके बलपर तो शक्य नहीं. मान भी लें कि ऐसा भी कोई उपकरण आविष्कृत हो जायेगा. तबभी उसे प्रयोगमें लाने या न लाने का निश्चय तो स्वयं मैं ही करूंगा. अतः उससे अधिक उपरले सोपानपर पुनः पराभौतिकीको अपने चिन्तनात्मक प्रशासन वर्चस्व उपलब्ध रहेगा ही.

अतएव प्रत्यक्षावभासनकी उपलब्ध दर्शनोपकरणकी सामग्रियोंके वश अवभासित होती विविधताके भीतर जो आत्मैक्यका अनुदर्शन कर पाता है, उसे शोक-मोह नहीं होता, ऐसा उपनिषद् हमें समझाना चाहते हैं :

> ''यदि सारे भूत-भौतिक पदार्थोंको एक आत्माके भीतर कोई जान पाता हो तो फिर शोक-मोह उसे सताते नहीं[७].

इस औपनिषद धारणामें कई चिन्तकोंको आत्मकैवल्यवाद (solipsism) होने की ऐकान्तिक धारणाका दोष स्फुरित हो सकता है. यहां, परन्तु, धैर्यपूर्वक लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि उपनिषद् सर्वभूतोंके द्वैतको मिथ्या या असत् मान कर बाधित नहीं करना चाहता; प्रत्युत सर्वभूतोंके द्वैतदर्शनमें आत्मकैवल्यके अनुदर्शनकी बात कह रहा है. एक भाषामें कहे गये किसी तथ्यका दूसरी भाषामें अनुवाद करनेसे मूलभाषा बाधित नहीं परन्तु अनूदित होती है. दिखलायी देते निखिल भूतोंके द्वैतको आत्माद्वैतमें देख पानेका उपदेश यहां अभिप्रेत है.

अतः जो परिणमनशील होता है वह हमें दिखलायी सुनायी आदि पड़ता है. मानवीय ज्ञानके इस प्रदेशको आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन पराभौतिकीकी पराधीनतासे छुड़ा कर वहां अपना राज्य या प्रशासन वह प्रस्थापित कर रहा हो या करना चाहता हो तो पराभौतिकीके चिन्तनके वास्ते कोई महती हानि हुयी हो, ऐसा लगता नहीं. प्रतिक्षण परिणामी इस अप्रशास्य प्रदेशपर सर्वदा परिवर्तनशील वैज्ञानिक चिन्तन "यथा राजा तथा प्रजा" न्यायके अनुसार इतरेतरोपम औचित्य ही प्रकट करता है.

(ब्रह्मवाद)

इन प्रतिक्षण परिणामशील प्रापञ्चिक विषयोंका यदि कोई अभिन्ननिमित्तोपादानप्रयोजनशाली अविकारी तत्त्व हो तो वह तो दिखलायी नहीं देगा. उसे तो देखना ही पड़ेगा. अतएव पराभौतिकी दर्शनशास्त्रद्वारा संस्कृत नयनोंसे ही उसे देखा जा सकेगा. अतएव ऋग्वेदमें कहा गया है "जो कुछ है या जो कुछ होनेवाला है वह सभी कुछ यह पुरुष ही तो है. वह तो ऐसे अमृतका धनी है कि जो अन्नका रूप धारण करनेपर भी तिरोहित नहीं हो पाता है"[८] अर्थात् अन्नात्मना भक्ष्य बननेके कारण चर्मचक्षुसे नष्ट हुवा सा लगनेपर भी श्रौतज्ञानकी चक्षुसे निहारनेपर जो तिरोहित नहीं लगता हो ऐसा ब्रह्मरूप पुरुष अमृतत्वका स्वामी पदार्थ है! अतएव विनाशशील पदार्थोंको उस अविनाशीकी महिमाके रूपमें बिरदानेको श्रुति कहती है "इतनी तो उसकी महिमा है अन्यथा वह पुरुष तो इससे कहीं अधिक है. क्योंकि उस चार चरणवाले पुरुषके एक चरणमें यह सारा मर्त्य विश्व समाया हुवा है और तीन अमृत चरण तो द्युलोकमें है"[९].

यों अंश और अंशी परस्पर, देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्न इन्स्टॅन्स् और देश-काल-स्वरूपभेदातीत रूल, अथवा देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्न फेक्ट् और देश-काल-स्वरूपभेदातीत ट्रुथ् की तरह माने जाने चाहिये.

अतएव जागतिक सारे नाम रूप और कर्म, देश-काल-स्वरूपके प्रभेदवश, परिच्छिन्न होते हैं. जबकि ब्रह्मको देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदसे अतीत माना गया है : ''ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, बह्म अपरिच्छिन्नस्वरूप है'', ''द्रव्य कर्म काल स्वभाव या जीव भी वासुदेवसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं होते''[१०].

अतएव श्वेताश्वतरोपनिषद्में ''क्या-कैसा ब्रह्म कारण है? हम कैसे जनमे हैं और जीवित रहते हैं? हम कहां सम्प्रतिष्ठित हैं? हमारे भीतर कौन अधिष्ठित है? किस कारणके वश हमें जिन बातोंमें सुख नहीं मिलता उन्हीं बातोंमें हम जुत जाते हैं? इस बारेमें ब्रह्मविदोंने क्या-कैसी व्यवस्था समझायी है?''[११]. इस ऐसी जिज्ञासाके समाधानार्थ सुस्पष्ट शब्दोंमें ''काल स्वभाव नियति यदृच्छा भूत योनि पुरुष इस तरहके कारण सोचे-विचारे जाते हैं, क्या इनके परस्पर संयोगमें आत्मभाववश आत्माको सुखदुःख होता है? या सुखदुःखके बारेमें अनीश्वर होनेके कारण आत्माको भी स्वीकारना शक्य नहीं? उन्होंने ध्यानयोगमें परायण हो कर देखा कि जितने भी कारण हो सकते हैं उन सभी काल आत्मा आदि रूपोंवाले तत्त्वोंमें वही एक देव अपनी आत्मशक्तिमें निगूढ कालात्मयुक्त होकर अधिष्ठित रहता है''[१२] इस वचनमें सृष्टिकारणतया समझमें आनेवाले या प्रस्तुत होनेवाले सभी तत्त्वोंका अन्तर्यामी अधिष्ठाता ही ब्रह्म ही इन सभी नाम-रूप-कर्मात्मक तत्त्वोंका अनन्य आधार है ऐसा समझाया गया है.

आधुनिक विज्ञानको यह ब्रह्म न भी समझमें आता हो और वह श्रुतिसंकलित कारणतत्त्वोंमें से अन्यतम या पृथक् ही कोई कारणतत्त्व स्वीकारना चाहता हो, तब भी श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्मके ही उसे कोई अनुपदिष्ट-अचर्चित नाम-रूप-कर्मके रूपमें स्वीकार लेनेमें ब्रह्मवादीके लिये घबराने जैसी कोई बात नहीं है. क्योंकि श्रुतिके ''वह धीर पुरुष सारे रूपोंको धारण कर और तदनुसारी नामोंको भी धारण कर

अवस्थित है''[१३] वचनमें सम्भावित सकल नाम-रूपोंका विधारक ब्रह्मको तो माना ही गया है.

ऐसी स्थितिमें पूर्वोल्लिखित ''इतनी उसकी महिमा है''[१४] वचनके आधारपर जो कुछ दिख रहा है वह उसका ही माहात्म्य है. अर्थात् उस महान् आत्माके महान् आत्मा होनेका साक्ष्य है. देखना हमें, परन्तु, उपनिषदोंके अनुसार उसका तादात्म्य है.

इस ब्रह्मके ऐसे माहात्म्य और तादात्म्य का उपदेश श्रुतिवचनोंमें स्व-पर-सर्वानुभूतियोंकी अनेकविध मुद्राओंमें दिया गया है :

> क.''पहले तो यह ब्रह्म ही था. उसने अपने-आपको 'मैं ब्रह्म हुं' ऐसे जाना अतः सभी कुछ बन गया. अतएव आज भी जो इस तरह अपने-आपको ब्रह्म जान पाता है वह सभी कुछ बन जाता है''.
>
> ख.''यह सभी कुछ एतदात्मक है. वह सत्य है. आत्मा तो वही है और तुम भी वही हो''.
>
> ग.''यह सभी कुछ ब्रह्म है, अतः उस ब्रह्मकी उपासना सब कुछ उसमें पैदा-लीन होता है, सभी उसीमें सांस ले रहे हैं, यों शांत हो कर ऐसी उसकी उपासना करनी चाहिये''[१५].

इन वचनोंके अनुसार 'अहं'कारगोचर 'त्वं'कारगोचर 'इदं'कारगोचर 'सर्व'कारगोचर यों दिखलायी देते सभी पदार्थोके बारेमें पहले उन्हें एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके माहात्म्यके रूपमें देखनेकी औपनिषदी दृष्टि पनपनी चाहिये. अन्तमें इन्हें उद्देश्य बना कर इनके ब्रह्म होनेके विधान द्वारा इनका और ब्रह्मका तादात्म्य समझाया गया है.

अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य माहात्म्यबोधपूर्वक प्रकट होती तादात्म्यरतिको भक्तिके रूपमें परिभाषित और उद्बोधित करना चाहते हैं. जगत्को ब्रह्मके अंश या कार्य के रूपमें जानना ब्रह्मके माहात्म्यको जान लेनेकी बात है परन्तु जगत्के साथ ब्रह्मका तादात्म्य समझ आनेपर ब्रह्मके बारेमें अनन्यात्मासक्ति पनपती है. तदर्थ अपना यानिकि सकल जगत्का ब्रह्मके साथ तादात्म्य जानना भी आवश्यक होता है (द्रष्ट.सुबो.२।९।३५ तथा त.दी.नि.१।४२).

दूसरे शब्दोंमें कहना हो तो दिखलायी देते जगत्को ब्रह्मके माहात्म्यके रूपमें देख पानेपर ही अंश और अंशी के बीच रहा तादात्म्य बुद्धिगत या हृदयारूढ़ हो पाता है.

(ब्रह्मका वेदान्तप्रतिपादित स्वरूप)

अतएव वेदान्तके विभिन्न प्रस्थानोंमें, ब्रह्मके साथ जगत्का अद्वैत है या द्वैत, इस विषयको लेकर पर्याप्त परस्पर असहिष्णु विचारभेद प्रवर्तित हुवे हैं. ब्रह्मवादी दृष्टिकोणसे उस विवाद या विमति का मूल ब्रह्मके माहात्म्य या अभेद के बारेमें अतिरेकतावादी दृष्टिकोण ही है. अतः माहात्म्य और तादात्म्य दोनोंको अंगीकार करनेपर अर्थात् तादात्म्यसहिष्णु माहात्म्य और माहात्म्यसहिष्णु तादात्म्य यदि स्वीकार्य बन पाये तो ईशावास्योपनिषद्में इसे कैसे प्रतिपादित किया गया, उसे भी देख लेना प्रासंगिक होगा :

> ''जो अविद्याके उपासक होते हैं वे तो अन्धंतम नरकमें प्रवेश करनेवाले हैं. परन्तु जो विद्यामें ही रत रह जाते हैं वे तो उससे भी अधिक अंधेरेमें प्रवेश करनेवाले होते हैं. अतः जो उसे विद्याकी तरह अविद्याके भी साथ जान पाते हैं, वे अविद्याके कारण मृत्युको पार करके विद्याद्वारा मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं''[१६].

यहां सुस्पष्ट शब्दोंमें अविद्या और विद्या को परस्पर असहिष्णुतया उपस्थापित करनेके बजाय उभयपूरकतया प्रस्तुत किया गया है. ब्रह्मबोधरहित अहंकार अथवा आत्मरति अविद्या है. और यह चेतनाको अन्धंतमगामिनी बना देती है. तादात्म्यबोधरहित ब्रह्मका माहात्म्यबोध विद्या तो अवश्य है परन्तु उसे अन्धंतमसे भी अधिक दुर्गति प्रदान करनेवाला माना गया है. अतः अपने आविद्यक अहंकारमें झलकनेवाली आत्मरतिके द्वारा जो ब्राह्मिक तादात्म्यका अनुभव कर पाता हो अथवा ब्राह्मिक माहात्म्यका स्वीकार जो अपने आविद्यक अहंकारके साथ स्वीकार पाता है, वही आविद्यक अहंकारके सहारे स्वयंकी मर्त्यता होनेकी भीतिसे मुक्त हो कर ब्राह्मिक तादात्म्यके बोधवश ब्राह्मिक रमणके हिस्सा होनेकी आश्वस्तताके वश अमृतत्वको प्राप्त कर पाता है.

यूरोपीय चिन्तक पास्कलका एक विधान है कि यह विशाल निष्ठुर ब्रह्माण्ड यदि मानवको कभी निःशेषतया विनष्ट भी कर देगा तो भी महान् तो मानवको ही मानना चाहिये, क्योंकि मानव यह जान पाता है कि उसे निःशेष किया जा रहा है जबकि ब्रह्माण्ड यह जान नहीं पायेगा कि उसमें प्रकट होनेवाली कितनी महत्त्वपूर्ण संरचना उसने खतम कर दी! इस तरहकी विचारधारामें मानवीय अहंकारका ब्रह्माण्डके इदंकारसे तादात्म्य अनुभव करनेके बजाय केवल माहात्म्य ही स्वीकारा जा रहा है, वह भी वह भी ब्रह्माण्डके द्वारा मानवके नष्ट होनेकी संभावना और भीति के साथ!

ब्रह्मवाद, परन्तु, मानवीय बुद्धि व्यवहार और हृदय में ऐसी अवधारणा प्रस्थापित करना चाहता है कि ब्रह्मको अपना अंशी-उपादान माननेपर स्वयंके नाशके त्रास एवं कुण्ठा से मुक्ति मिल सकती है. क्योंकि एकमेव अद्वितीय ब्रह्म के माहात्म्यको भलीभांति जान लेनेपर वही क्षणिक क्षयिष्णु क्रियारूपमें भी प्रकट हुवा है और वही अक्षय सनातन चेतनाके रूपमें उसका साक्षी भी बनता है. और ऐसा तथ्य

अवगत होनेपर भक्ष्य अन्नकी नश्वरता और उसके कारण ज्योतीरूप भक्षक अन्नादकी अन्नमयताके कारण प्रकट होती अन्धकारोपमा मृत्युभीति और कुण्ठा पर काबू मिल सकता है.

महर्षि यास्कने "'अन्ध' नाम अन्नका है... तमस्को भी 'अन्ध' कहा जाता है, क्योंकि उसमें न ध्यान शक्य होता है और न दर्शन ही"[१७] यों अन्न और अन्धकार दोनोंमें 'अन्ध'पदकी शक्ति स्वीकारी है. इसी तरह "मृत्यु तो असत् है—अमृत सद् होता है", "मृत्यु निश्चय ही तमोरूप होती है—अमृत तो ज्योतीरूप होता है", "प्रधान क्षर होता है—अक्षर अमृतरूप होता है"[१८] इन वचनोंमें 'मृत्यु'-'अमृत', 'तमो-ज्योति', 'असत्'-'सत्' आदि पदयुगलोंमें इतरेतरार्थव्यावर्तकता प्रतीत तो अवश्य ही होती है. औपनिषद् ब्रह्मके भीतर, परन्तु, ये ही पदार्थ अपना इतरेतरसहिष्णु स्वरूप भी दरसाते ही हैं. यथा बृहदारण्यकोपनिषद् एवं भगवद्गीतामें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि "ब्रह्मके दो रूप होते हैं : वह मर्त्यरूप भी होता है और अमृतरूप भी, प्रकट सत् भी होता है और अप्रकट त्यत् भी", "अमृत भी और मृत्यु भी सद् और असत् भी मैं ही हुं","सर्वहारी मृत्यु भी मैं हुं और होनेवालोंका उद्‌भव भी"[१९].

अतः एक ओर ऐसे वचन और दूसरी ओर "जो ऐसे समझता है कि ब्रह्मका कहीं भी अस्तित्व ही नहीं वह तो स्वयं ही असत् हो जाता है"[२०] वचनोंको एक साथ पढ़नेपर कुछ असंमजसता भी भासित हो सकती है. स्वयम् इसी उपनिषद्में, किन्तु, एक नितान्त मननीय समाधान भी प्रस्तुत हुवा है :

> "उसने कामना की कि वह बहुत बन कर प्रकट हो जाय... उसने तप किया और तप द्वारा उसने यह सभी कुछ प्रकट किया... सत् और असत्... विज्ञान

और अविज्ञान, सत्य और अनृत भी''[२१].

अतः कहा जा सकता है कि ब्रह्म स्वरूपतः असत हो नहीं सकता परन्तु एतावता लीलया वह असत बन न पाता हो इतना असमर्थ माननेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है! यही बात मृत्यु तम अन्धकार या अविद्या के बारेमें भी कही जा सकती है. प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि सदैकरस ब्रह्म असत कैसे बन पायेगा?

इस बारेमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कुछ इस तरहकी प्रक्रिया दरसाते हैं कि सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आनन्दांशके तिरोधान द्वारा जैसे लीलया अज्ञ जीवात्मा बन सकता है, अथवा जैसे अपने चिदंशके तिरोधानद्वारा जड़ प्रकृति और उसका विकाररूप पांचभौतिक प्रपंच भी बन सकता है, वैसे ही सदंशके भी तिरोधानद्वारा, अर्थात स्वरूपानुपाती नहीं किन्तु स्वसामर्थ्यानुपाती नाम-रूप-कर्म वह प्रकट कर सकता है. ऐसे नाम-रूप-कर्म सदुपादानक न होनेके कारण 'असत' कहलाते हैं. इसी तरह तमस् या अन्धकार या अविज्ञान या अविद्या भी, अपने चिदंश या आनन्दांश के तिरोधान द्वारा, सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रकट कर सकता है. इसी तरह मृत्यु तो प्राणशक्ति और अन्नमय शरीर के परस्पर वियोजनके अलावा और कुछ नहीं. वह भी ब्रह्म अपने द्वारा परिगृहीत शरीररूपोंमें प्रकट करने सर्वसमर्थ है ही.

(विविध मतोंको परस्परासहिष्णु बनानेवाले कतिपय विवादग्रस्त मुद्दे)

निष्कर्षतया विभिन्न मतवादोंको निरन्तर उलझाये रखनेवाले कतिपय प्रमुख परस्पर विरोधाभासी मुद्दोंपर, उदाहरणतया, [१]विद्या अविद्यासहिष्णु हो सकती है या नहीं? [२]कालातीत नित्यता कालिक-अनित्यतासहिष्णु हो सकती है या नहीं? अर्थात् अनादिता जन्मसहिष्णु हो सकती है या नहीं? [३]अमृतता मृत्युसहिष्णु हो सकती है या नहीं? [४]एकमेव अद्वितीय परमतत्त्व अनेकतासहिष्णु हो सकता है या नहीं? [५]ब्रह्माद्वैतवाद

पारमार्थिक-अनेकदेववादसहिष्णु हो सकता है या नहीं? [६]परमात्माके प्रति भक्तिभाव होनेपर मुक्ति या मुक्तात्मा संसारसहिष्णु हो सकते हैं या नहीं? [७]अवाच्य अज्ञेय होनेके कारण सर्ववादानवसर ब्रह्म नानावादानुरोधि हो सकता है या नहीं? (द्र.निबन्धके अन्तमें संकलित मूलवचन) इत्यादि, ऐसे इन विवादास्पद मुद्दोंके बारेमें दो विरोधाभासी तथ्योंमें एक ब्राह्मिक निखिलरूपताके अंगीकारद्वारा सहिष्णुताका तात्त्विक आधार ब्रह्मवाद प्रस्तुत करना चाहता है.

वैसे ब्रह्मवादकी ही तरह शून्यवाद और उसका एकदेशी अजातिवाद तथा स्याद्वाद के पक्षधर चिन्तकोंने भी इस दिशामें पर्याप्त वैचारिक पुरुषार्थ प्रकट किया है.

हम देख सकते हैं कि ताओवादकी तरह शून्यवाद भी, अपनी द्विविध विभाषाके अन्तर्गत मूलतः, [क]वादशून्य होनेकी सिद्धावस्थाकी चेतनामें तो सहिष्णुता दरसा सकता है. साधकावस्थामें, किन्तु, प्रत्येक वादका परिहार ही उसके द्वारा अभिप्रेत होनेसे असहिष्णुता भी प्रकट करता ही है. [ख]परमार्थ सत्को सदसदुभयानुभयकोटियोंसे विलक्षणतया मान्य रखनेकी द्वितीय रीतिके अन्तर्गत या तो शून्यवादीको वैतण्डिक मुद्रा धारण कर घोर असहिष्णुता प्रकट करनी पड़ती है या फिर चतुष्कोटिविनिर्मुक्त परमार्थके दरज्जेसे निचले संवृतिसत्यके प्रतिपादक होनेके दरज्जेपर अन्यमतोंकी पदावनति करके अपनी यत्-किञ्चित् सहिष्णुता दरसानी पड़ती है. यह निचला दरज्जा परन्तु शून्यवादिओंकी तरह उसे न माननेवाले मतोंको मान्य होना कठिन ही लगता है. श्रीगौड़पादका अजातिवाद तो कुछ शून्यवादका ही सगोत्री एकदेशिमत है.

जहां तक स्याद्वाद प्रश्न है तो उसकी भी दो विभाषायें दिखलायी देती हैं : १.अनेकान्तवाद और २.सप्तभंगिवाद.

सप्तभंगीके अन्तर्गत मौलिक रूपमें तीन कोटियां मान्य रखी गयी हैं "[1]सत् ही है, [2]सत् है, [3]सत् भी हो सकता है, यों तीन तरहसे अर्थका भान होता है. प्रथम प्रकारको [1]दुर्नीति जानना चाहिये, दूसरे प्रकारको [2]नय तथा तीसरे प्रकारको [3]प्रमाण"[22] इस वचनके आधारपर ऐसा प्रतीत होता है कि अन्यवादियोंके मतोंके प्रति सहिष्णुताके बारेमें भी जैन चिन्तकोंको स्याद्वादी या अनेकान्तवादी मुद्रा ही अभिप्रेत है. वही मत, क्योंकि, सावधारण कहा जाता हो दुर्नीति बन जाता है और वही पुनः अनिश्चयद्योतक अवधारणरहित स्वीकारे जानेपर नय और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के अंगतया स्वीकारे जानेपर प्रमाणतया भी मान्य हो पाता है. अतः देख सकते हैं कि ऐसा अभिप्राय स्वीकार करनेपर या तो जैन मतप्रवेश अनिवार्य हो जाता है अन्यथा जैनचिन्तन सहिष्णुता प्रकट नहीं कर पाता. वैसे यह सहज संभव है कि अपने प्रारम्भिक चिन्तनके कालमें आर्हतोंका मत सप्तभंगिवादी न हो कर केवल अनेकान्तवादका ही उपोद्बलक रहा होगा. वह तो निश्चय ही सहिष्णुताका उचित रूपमें समादर होगा, परमार्थ सत्यको आग्रिहलतया अनेकान्त ही माननेपर भार न दिया जाये तो.

इनकी तुलनामें एकत्व और अनेकत्व के बारेमें सप्तविध भंगिमाओंके अन्तर्गत तृतीय अर्थात् उभयकोटि तथा ऐसे एकत्व-अनेकत्वविशिष्ट नाम-रूप-कर्मोंके बारेमें सप्तविध भंगिमाओंमेंसे किसी भी एक भंगिमामें अन्तर्भूत न होनेवाले तादात्म्यको स्वीकारनेवाले श्रौत चिन्तनके ये उद्गार मननीय लगते हैं—

> क."उसे 'इन्द्र' 'मित्र' 'वरुण' 'अग्नि' कहते हैं, इसी तरह सुन्दर पंखोवाला 'गरुड़' भी. एक ही सत्का विप्र बहुधा प्रतिपादन करते हैं, 'अग्नि' 'यम' और 'मातरिश्वा' कह कर".

ख. ''एक ही अग्नि बहुत प्रकारोंसे प्रज्वलित होता है, एक ही सूर्य विश्वमें अनुप्रविष्ट हो कर सब कुछ बन जाता है, एक ही उषा यहां सभीको विविधतया भासित करती है, एक ही यह सब कुछ बन गाया है''.

ग. ''जहां अनेक लोकोंको और अनेक कोशोंको जलोंको लोग ब्रह्म जानते हैं असत् हो या सत् हो सभी कुछ उसके अन्दर है... जिसके भीतर भूमि अन्तरिक्ष द्युलोक अध्याहित रहते हैं, जहां अग्नि चन्द्रमा सूर्य वायु अर्पित रहते हैं... जहां अमृत और मृत्यु भी उस एक ही पुरुषमें अधिसमाहित रहते हैं... जहां बारह आदित्य ग्यारह रुद्र और आठ वसुगण समाहित रहते हैं. जहां भूत जहां भावी और सभी लोक लोक प्रतिष्ठित रहते हैं... तैंतीस देवता जिसके अंगमें गात्रोंके रूपमें विभक्त रहते होनेपर भी ब्रह्मविद् उन तैंतीस देवताओंके एक ही होनेकी अनुभूति जहां कर पाते हैं''.

घ. ''जो एक अव्यक्त और अनन्तरूप है. वही सबसे अधिक पुराणतम है... वही अग्नि वही वायु वही सूर्य वही चन्द्रमा वही अमृत शुक्र और वही जल तथा प्रजापति भी है''[२३]

यह व्यक्तिविशेषकी अभिमति या मान्यताके सब्जेक्टिव् प्रामाण्य या अप्रामाण्य से निरपेक्ष स्वयं ओब्जेक्टिवली प्रमेयके एक और अनेक, इसी तरह वास्तविक और भावानुरूप, होनेके अंगीकारमें उभरती सहिष्णुता एक विलक्षण सहिष्णुता है. इस श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मवादको सहृदयताके साथ विचारनेकी आवश्यकता पहेले भी थी आज भी है और सर्वदा रहेगी ही.

(मूलभूत श्रौतप्रश्न)

"वह कौन सा वन था वह कौन सा वृक्ष था जिससे ये द्युलोक और भूलोक तराशे गये हैं? मनीषिओ कभी अपना मन लगा कर किसीसे पूछ कर तो देखो कि इन भुवनोंको धारण करनेवाला कहां अधिष्ठित है?"

(उसका श्रौतसमाधान)

"वह वन ब्रह्म था वह वृक्ष भी ब्रह्म था जिसने इन द्युलोक और भूलोक को तराशा है! मनीषिओ मनयोगके साथ यह मैं कह रहा हुं कि भुवनोंको धारण करनेवाला ब्रह्ममें अधिष्ठित है!"[२८].

उद्धृत वचनावलीमूल

१ "कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म... नतु 'वस्तु एवं नैवम् अस्ति नास्ति' इति वा विकल्प्यते. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षं, किन्तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्... एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्"(ब्र.सू.शां.भा.-१।१।२).

२ क."यो वै सप्तदश प्रजापतिं यज्ञम् अन्वायत्तं वेद"(तैत्ति.संहि.६।१।१-१).

ख."यज्ञो भूत्वा यज्ञम् आसीद स्वां योनिम्","विष्णुः यज्ञो देवताः च"(तैत्ति.ब्राह्म.२।५।८,गोप.ब्राह्म.२।१।१२).

ग."त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्..."(बृह.उप.१।६।१-३).

३ "भावप्रधानम् आख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि... 'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशो 'गौः'-'अश्वः'-'पुरुषो'-'हस्ती' इति, 'भवति' इति भावस्य 'आस्ते'-'शेते'-'व्रजति'-'तिष्ठति' इति... षड् भावविकाराः भवन्ति इति वार्ष्यायणिः : 'जायते' 'अस्ति' 'विपरिणमते' 'वर्धते' 'अपक्षीयते' 'विनश्यति'... अतो अन्ये भावविकाराः एतेषामेव विकाराः भवन्ति इति

ह स्म आह'' (निरु.निघ.१।१।१-३).

[४] ''ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना''(भग.गीता.४।२४).

[५] ''अहस्तानि सहस्तानाम्, अपदानि चतुष्पदां, फल्गूनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनं, तदिदं भगवान्... एकः आत्मा आत्मनां स्वदृक्, अन्तरो अनन्तरो भाति पश्य तं मायया उरुधा'',''अनुसर्गं यथा शक्त्या ससर्ज भगवान् परः... अन्तःसमुद्राद् उन्मग्नां ददृशुः गां द्रुमैः वृतां, द्रुमेभ्यः क्रुध्यमानाः ते... वायुम् अग्निञ्च ससृजुः तद्दिधक्षया... ताभ्यां निर्दह्यमानान् तान् उपलभ्य... मन्युं प्रशमयन्निव 'मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुम् अर्हथ, विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः. अहो प्रजापतिपतिः भगवान् हरिः अव्ययः वनस्पतीन् ओषधीः च ससर्ज ऊर्जमिषं विभुः, अन्नं, चराणाम् अचराः हि, अपदः पादचारिणाम्, अहस्ता हस्तयुक्तानां, द्विपदां च चतुष्पदः. यूयञ्च पित्रा अन्वादिष्टाः देवदेवेन च अनघाः प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुम् अर्हथ? आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम्''.(भाग.पुरा.१।१३।४६-४७, ६।४।४-११).

[६] ''अहम् अन्नम्... अहम् अन्नादो... अहम् अन्नम् अदन्तं माम् अद्मि. अहं विश्वं भुवनम् अभ्यभवाम. सुवर्नज्योतिः, यः एवं वेद''(तैत्ति.उप.३।४-६).

[७] ''यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः''(ईशा.उप.७).

[८] ''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्. उत अमृतत्वस्य ईशानः यद् अन्नेन अतिरोहति'' (पुरु.सू.१).

[९] ''एतावान् अस्य महिमा, अतो ज्यायान् च पुरूषः. पादो अस्य इह भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि'' (यथापूर्वोद्धृत २).

[१०] ''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'',''द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः''(तैत्ति.उप.२।१, भाग.पुरा.२।५।१४).

[११] ''किं कारणं ब्रह्म? कुतः स्म जाता जीवामः? केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः?

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ?''(श्वेता.उप.१।१).

[१२]''कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्याः, संयोगः एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः''(श्वेता.उप.१।२-३).

[१३]''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते''(पुरु.सू.७).

[१४]''एतावान् अस्य महिमा''(यथापूर्व).

[१५]क.''ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति तस्मात् सर्वम् अभवद्. तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति स इदं सर्वं भवति''(बृह.उप.१।४।१०).

ख.''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. तत् सत्यम्. स आत्मा तत् त्वम् असि''(छान्दो.उप.६।८।७).

ग.''सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्तः उपासीत'' (छान्दो.उप.३।१४।१).

[१६]''अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां रताः. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते''(ईशा.उप.११).

[१७]''‘अन्ध'इति अन्ननाम... तमोऽपि 'अन्ध' इति उच्यते न अस्मिन् ध्यानं न दर्शनम्'' (निघ.निरु.५।१।१-२).

[१८]''मृत्युर्वा असत् — सद् अमृतम्'', ''मृत्युर्वै तमो — ज्योतिः अमृतम्'', ''क्षरं प्रधानम् — अमृतम् अक्षरम्'' (बृह.उप.१।३।२८, श्वेता.उप.१।१०).

[१९]''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मर्त्यं च अमृतं च, सत् च त्यत् च'', ''अमृतं चैव मृत्युः च सद् असत् च अहम्'',''मृत्युः सर्वहरः च अहम् उद्भवः च भविष्यताम्'' (बृह.उप.२।३।१, भग.गीता.९।१९,१०।३४).

[२०]''असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेत्'' (तैत्ति.उप.२।६).

[२१]''सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत... सत् च असत् च... विज्ञानं च अविज्ञानं च

सत्यं च अनृतं च''(तैत्ति.उप.२।६).

[२२]''[१]सदेव [२]सत् [३]स्यात् सद् इति त्रिधा अर्थो मीयेत [१]दुर्नीति-[२]नय-[३]प्रमाणैः'' (अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका २८).

[२३]क.''इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः''(ऋक्संहि.२।३।२१).

ख.''एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः, एकैव उषा सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्''(ऋक्संहि.६।४।२८).

ग.''यत्र लोकान् च कोशान् च आपो ब्रह्म जना विदुः असच्च यत्र सच्च अन्तः... यस्मिन् भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः यस्मिन् अध्याहिता, यत्र अग्निः चन्द्रमा सूर्यो वातः तिष्ठन्ति अर्पिताः... यत्र अमृतं मृत्युः च पुरुषे अधि समाहिते... यत्र आदित्याः च रुद्राः च वसवः च समाहिताः भूतं यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः... यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे गात्राः विभेजिरे तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः''(अथर्वसं.१०।२१-२३).

घ.''यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं... तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रम् अमृतं तद् आपः स प्रजापतिः''(महाना.उप.१।१।७).

[२४]''किंस्विद् वनं क उ स वृक्षः आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ? मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ? (ऋग्वेद.१०।८१।४).

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्षः आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ! मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ! (तैत्ति.ब्रा.२।८।९।७).

(विवादास्पद सात मुद्दोंके श्रुति आदि शास्त्रोंकें द्रष्टव्य वचन)

१.(क)''विद्यां च अविद्यां यः तद् वेद उभयं सह'' (ईशा.उप.११),

(ख)"यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तयः आनुपूर्व्यात्, तद् ब्रह्म विश्वभवम् एकम् अनन्तम् आद्यम् आनन्दमात्रम् अविकारम्..." (भाग.पुरा.४।९।१६).

२.(क)"अजायमानो बहुधा विजायते" (तैत्ति.आर.३।१३।३) (ख)"आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः, त्रायते त्राति विश्वात्मा, ह्रियते हरति ईश्वरः. तस्माद् नहि आत्मनो अन्यस्माद् अन्यो भावो निरूपितः" (भाग.पुरा.११।२८।६-७).

३."मृत्युः सर्वहरः च अहम् उद्भवः च भविष्यताम्" (भग.गीता.१०।३४).

४."द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया. एको नानात्वम् अन्विच्छन्... देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा" (भाग.पुरा.२।१०।१२-१३).

५.(क)"एको देवः बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते तमेतम् 'अग्निम्' इति आध्वर्यवः उपासते, 'यजुः' इति एषः हि इदं सर्वं युनक्ति, 'साम' इति छन्दोगाः एतस्मिन् हि इदं सर्वं प्रतिष्ठितम्, 'विषम्' इति सर्पाः, 'सर्पः' इति सर्पविदः, 'ऊर्ग्' इति देवाः, 'रयिः' इति मनुष्याः, 'माया' इति असुराः, 'स्वधा' इति पितरः, 'देवजनः' इति देवजनविदः, 'रूपम्' इति गन्धर्वाः, 'गन्धर्वः' इति अप्सरसः. तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति" (ख)"यो-यो यां-यां तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति तस्य-तस्य अचलां श्रद्धां तामेव विदधामि अहम्. स तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनम् इष्यते लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" (भग.गीता.७।२१).

६.(क)"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इति. एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु न अकरवं किम् अहं पापम् अकरवम् इति" (तैत्ति.उप.२।९), (ख)"गृहेषु आविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणां मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहाः मताः" (भाग.पुरा.४।३०।१९).

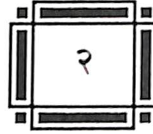
७.(क)"'भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा लक्षणैः अनुमापकैः' : प्रतिपुरुषं प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि. तानि न सर्वथा बाधितविषयाणि, परस्परोपयोगात्. भगवान् तैः सर्वैरेव सर्वभूतेषु लक्षितः लक्षणया ज्ञापितः. नैयायिकैः कर्तृत्वेन, मीमांसकैः क्रियात्वेन, वेदान्तैः आत्मत्वेन,

सांख्यादिभिः करणत्वेन, अन्यैः च तद्भेदैः ज्ञानत्वेन, ज्ञानत्वेन च अन्यैः, ज्ञानाधिष्ठातृत्वेन च. सर्वैरेव भगवान् एकदेशे लक्षितो अन्धहस्तिवत्. अनुभवेन युक्त्या च...'' (भाग.सुबो.२।२।३५), (ख)''श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण प्रतिपादितत्वाद् अन्योन्यविरोधाद् न किञ्चित् प्रमाणं ब्रह्मणि भविष्यति इति आशंक्य आह 'सर्ववादानवसरम्' इति. वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता सर्वभवनसामर्थ्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वात्... एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकैकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति'' (त.दी.नि.१।-७०).



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार

(उपक्रम)

वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार यह सम्पूर्ण दृग्द्रष्टृदृश्यात्मक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् उस एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्यसंकल्पता तथा सर्वभवनसामर्थ्य की इतिकर्तव्यतारूपा आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तिओंद्वारा सम्पन्न होती एक लीला है. ब्रह्म तत्त्व लौकिक प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणोंसे गम्य कोई प्रमेय न हो कर एक शास्त्रीय प्रमेय ही है. अतः प्रत्यक्षग्राह्य नाम-रूप-कर्मोकी ब्रह्मात्मकता भी प्रत्यक्षका विषय न हो कर श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-तन्त्र-इतिहासरूप शास्त्रवचनैक-गम्य प्रमेय है. फिरभी उस ब्रह्मकी लीलाके रूपमें प्रकट हुवे ये नाम-रूप-कर्म तो प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे गम्य बनते ही हैं. और अतएव अपने लीलार्थ परिगृहीत इन नाम-रूप-कर्मोके पहलुमें ब्रह्म भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रमेय भी बनता ही है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण कहते हैं :

> ‘‘अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्मा-णाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्. ब्रह्मैव हि सर्वाधारं, यथा

भूमिः सहजविरुद्धानामपि मूषकादिजीवानां, कारणगतधर्मः पृथिव्यां भासते. विशेषेण लौकिकयुक्तिः अत्र नास्ति, तदगम्यत्वात्... ननु अवतारेषु भगवत्त्वश्रुतेः लौकिकप्रमाणविषयत्ववद् लौकिकयुक्तिविषयत्वमपि कुतो न? इति आशंक्य्य आह 'आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् अदृश्यं स्वेच्छयातु तत्'... चक्षुः न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छयैव 'सर्वे पश्यन्तु!' इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम्."

(त.दी.नि.प्र.१।७१-७२)

अतः लौकिक विषयोंके शास्त्रीय स्वरूपके बारेमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य अवनसरपराहत होनेपर भी शास्त्रीय विषयोंके लौकिक स्वरूपके बारेमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य वाल्लभ चिन्तनमें भी सर्वथा स्वीकारा ही गया है. क्योंकि अन्यथा ब्रह्म या ब्रह्मात्मिका लीला के प्रतिपादनार्थ, सर्वथा अदृष्ट या अश्रुत रहनेपर तो, ब्रह्मविषयिणी परोक्ष शाब्दी प्रमाके जननके व्यापारमें भी शास्त्रवचन अक्षम हो जायेंगे.

अतएव रूपसृष्टिके साथ-साथ तत्प्रतिरूप एवं तदन्तर्गत नामसृष्टिके प्राकट्यका प्रयोजन रूपलीलाद्वारा व्यामुग्ध एवं बद्ध चिदंशरूप जीवात्माओंका नामलीलाद्वारा उद्धार प्रतिपादित हुवा है.[१] जीवात्मचैतन्य अपने चिदंश होनेके रूपमें नतो रूपसृष्टिमें अन्तर्गणित होता है और न नामसृष्टिमें ही. फिरभी उसी चिदंशके जीवभावापन्न होनेपर वह अपने ज्ञानकर्मादि व्यापार रूपसृष्टि और नामसृष्टि के साथ संहत हो कर ही सम्पन्न कर पाता है. नामसृष्टि और रूपसृष्टि के बीच रहे इतरेतरविलक्षण स्वभावका निरूपण महाप्रभु यों करते हैं कि रूपसृष्टि अन्तवती स्थूल विकृत एवं जड़ात्मिका होती है जबकि नामसृष्टि अनन्त सूक्ष्म अविकृत एवं बोधात्मिका होती है[२] यों बन्धनकारिणी रूपसृष्टि और मुक्तिदायिनी नामसृष्टि दोनों ही भगवल्लीलारूपा ही होती हैं. अतएव श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्य

तत्त्वस्वरूपोंकी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्यता बन्धनकारिणी लीला होती है. क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य रूपरसगन्धस्पर्णशब्दादि विषय स्वयं बन्धनकारी होते हैं. इन्हीं, किन्तु, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य नाम-रूप-कर्मोंकि श्रुत्यादि शास्त्रोंके वचनोंमें प्रतिपादित या विहित स्वरूप मुक्तिसम्पादक भी हो पाते हैं. एतावता सिद्ध होता है कि बन्धनकी तरह मुक्ति भी उसी परम तत्त्वकी एक लीला है. और अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका इस अर्धजरतीयन्यायसे प्रमाण और अप्रमाण होना दोनों ही भगवल्लीलाके ही दो विलक्षण अनुभाव हैं! अस्तु.

(विषय)

प्रत्यक्षके प्रामाण्यका, इस अर्धजरतीयन्यायसे, अभ्युपगम हमें सोचनेकी इस दिशाकी ओर अग्रसर करता है कि प्रत्यक्षानुभूति अपने किस स्वरूपमें प्रमाण होनेकी पदवीपर आरूढ़ हो नहीं पाती?

वाल्लभ दृष्टि इस विषयमें यों है कि प्रत्यक्षानुभूतिका केवल एक अनुभूतिके रूपमें प्रमाण होना नियत या अनिवार्य न होनेपर भी उससे पैदा होनेवाली बौद्धिकी निश्चिति, जिसके आधारतया बुद्धिका सात्त्विकी अवस्थामें होना एक अनिवार्य निकष माना गया है[३], इस रूपमें वह अनुभूति प्रमाणपदवीपर आरूढ़ हो पाती है.

(संशय)

स्पष्ट है कि प्रत्यक्षानुभूति निर्विषयकचैतन्यरूपा तो हो ही नहीं सकती. अतः प्रत्यक्षानुभूतिके घटक (विषय / कर्म; तथा, विषयी / बाह्याभ्यन्तरकरण तथा कर्ता या अधिष्ठान यों) न्यूनतम दो या तीन तो स्वीकारने ही पड़ते हैं. अतः इस जिज्ञास्यविषयके मूलमें कुछ विकल्प इस तरह संशयात्मना उभरते हैं यथा—

१.क्या प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive) ग्राहक

बाह्याभ्यन्तर करण या कर्ता के ऊपर सचेष्ट (active) बाह्य विषयोंका कोई वास्तविक प्रभाव (real impression) है ?

२.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयद्वारा विषयीपर आरोपित कोई मिथ्या प्रभाव (super-impossed impression) होता है ?

३.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूतिका जो निश्चेष्ट (passive)बाह्य विषय होता है, उसे द्रव्य (Matter) प्राकृत विषय (Natural object) माने या, वस्तुका अकल्पित स्वरूप (Thing-in-itself=Noumenon) माने या, अस्वप्रयोजनक भोग्य वस्तु (pour soi) माने या, स्वप्रयोजनक भोक्तृ वस्तु (en soi) माने इनमेंसे किसी भी रूपमें देखा जाये, उसके बारेमें सचेष्ट (active) विषयी ज्ञानकरण अथवा ज्ञाता का कोई प्रतिभाव (reaction/expression) है ?

४.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति ज्ञानकरण / ज्ञाता द्वारा विषयपर किया गया कोई मिथ्या आरोपण (projection/superimposition) है ?

५.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयीके गुणधर्मोंका इकतरफा मिथ्यारोपण न हो कर विषय और विषयी दोनोंके गुणधर्मोंके अन्योन्यारोपणात्मक अध्यासरूपा घटना है ?

६.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोंके बीच उभयत्र परस्पर घटित होती क्रिया-प्रतिक्रियारूपा कोई उभयविलक्षण घटना है ?

७.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या

अभिव्यक्ति है ?

ये हैं : जिज्ञास्य विषयरूप प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें संशयकी विभिन्न कोटियोंके विभिन्न कल्प.

(पूर्वपक्ष)

१.हम देख सकते हैं कि जिज्ञास्यविषयके बारेमें संशयका प्रथम कल्प सांख्यसदृश निष्क्रिय पुरुषचैतन्य तथा सक्रिय जड़प्रकृति के द्वैतवादी चिन्तनमें मान्य होना शक्य होनेपर भी शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्तमें मान्य नहीं हो सकता है.

२.द्वितीय कल्प उन दार्शनिक चिन्तनोंमें सम्भव है जो चैतन्यको सर्वथा निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक मानते हैं परन्तु वाल्लभ चिन्तन चैतन्यको उसके मूलस्वरूपमें तो निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक तो कथमपि नहीं मानता. अतःप्रत्यक्षकी ऐसी व्याख्या भी वाल्लभ चिन्तनमें पूर्वपक्षमें ही अन्तर्भूत होगी.

३.इसी तरह तृतीय कल्पमें भी मूलतः बाह्य विषय और विषयी के बारेमें एक तरहका द्वैतवादी पूर्वाग्रह तो भासित हो ही रहा है. क्योंकि बाह्य विषय प्रत्यक्षानुभूतिके जननव्यापारमें निश्चेष्ट सहयोगी (passive partner) होते हों या सचेष्ट सहयोगी होते हों. वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार जड़ द्रव्यका अकल्पित वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दात्मक ही होता है, जो जीवचेतनाद्वारा सामान्यतया प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हो पाता. सच्चिदाननन्द ब्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य के वश सदंशमें चैतन्य और चिदंशमें आनन्द के तिरोभाववश प्राकृत सदंशोंमें गृहीत होती जड़ताका कुछ विषयगत आधार (objective ground) होनेपर भी चिदानन्दांशके तिरोभाववश उन जड़ द्रव्योंमें चेतना या आनन्द के ऐकान्तिक अत्यन्ताभावकी प्रतीतिमें हेतु जीवात्माओंका

अपना परिच्छिन बोधसामर्थ्य भी विषयिगत आधार (subjective ground) स्वीकारा गया है. अतः इस सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त प्रत्यक्षानुभूतिके गोचर विषयोंको (nonmena/phenomena) के ऐकान्तिक वर्गोंमें विभक्त करनेको जर्मनीके अज्ञेयवादी इमानुएल् कान्ट्की तरह समुद्यत नहीं हो पाता. रही बात द्रव्यके बारेमें निश्चेष्टताकी तो, ऐसी (inertia) की धारणा भी पुनः शुद्धाद्वैत वेदान्तको रास नहीं आ सकती है. क्योंकि न्याय-सांख्यमतोंकी तरह जड़ प्राकृत द्रव्योंका भोग्यभावात्मना प्रकट होना तथा पुरुषचैतन्यका भोक्तृभावसे मण्डित होना, वाल्लभ वेदान्तमें भी, लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैतके अनुरोधवश तो मान्य है ही. वाल्लभ वेदान्तमें, फिरभी, नतो न्यायमतकी तरह जड़ द्रव्यको सर्वथा निष्क्रिय और न सांख्यमतकी तरह पुरुषचैतन्यको ही सर्वथा निष्क्रिय माना गया है. और न केवल जड़ प्रकृतिको ही सक्रिय माना गया है. अतः पुरुषचैतन्यको केवल भोक्तृभावापन्न (en soi) मान लेने भी वाल्लभ वेदान्त समुद्यत नहीं है. क्योंकि उसके भोक्तृभावके घटक बाह्याभ्यन्तर करण स्वयं भोग्यभावापन्न जड़प्रकृतिसे उसे उधार मिले हुवे होते हैं. अंशी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको वाल्लभ वेदान्त ''क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते'' (भाग.पुरा.८।२२।२०) तथा ''अत्ता चराचरग्रहणात्'' (ब्र.सू.१।२।९) वचनोंके आधारपर मूलभोक्ता स्वीकारता होनेसे, उन्हें ही (primordial en soi) स्वीकारेगा. जीवात्माओंके तो ब्रह्मके चिदंश होनेके कारण उनका कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी आंशिक अभिव्यक्ति ही होती है. यह हम देख सकते हैं कि ब्रह्मसूत्रगत 'चराचर' पद भी जड़जीवके प्रभेदका वाचक नहीं माना गया है. क्योंकि अक्षरब्रह्म कूटस्थचैतन्य अचर भी होता है और अंशभूत जीवचैतन्य चर भी. इसी तरह आकाशको जड़ होनेपर भी अचर माना गया तो अन्य भौतिक तत्त्वोंको चर भी. अतएव जड़जीवात्मक उभयविध जगत्को ब्राह्मिक सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त न तो ऐकान्तिकतया भोग्य ही और न ऐकान्तिकतया भोक्ता ही मान पाता है. व्यवस्थित विकल्पवश ब्रह्मके सदंशभूत जड़ द्रव्योमें प्रकट भोग्यभाव तथा जीवात्माओमें

जड़ द्रव्योंद्वारा निरूपित प्रकट भोक्तृभाव होनेपर भी, पारमात्मिक भोक्तृभावनिरूपित प्रकट भोग्यभाव भी स्वीकार्य है ही.

४.इस प्रकारका मत भारतीय चिन्तनमें तो उपलब्ध न होनेपर भी पाश्चात्य चिन्तनमें अनुभववादिओंद्वारा प्रस्तावित किया गया है. इस अनुभववाद *विरु.* तर्कवाद के आपसी विरोधाभासके बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी धारणा कुछ इस तरहकी सोची जा सकती है कि प्रत्यक्षगोचरतया अनुभूयमान सारेके सारे प्रत्यय न तो हमारी चेतनामें, तर्कवादी (Rationalistic) धारणाके अनुरूप अन्तर्निगूढ़ ही रहते हैं और नहीं अनुभववादी (Empiricistic) धारणाके अनुरूप केवल इन्द्रियार्थसत्सम्प्रयोग-जन्य ही. पुनश्च, अर्धजरतीयन्यायेन, चेतनाके भीतर बाह्य उद्‌बोधकसामग्रीवशात् उद्‌बुद्ध होते हैं और कुछ बौद्धिकी चेतना अपनी सात्त्विकी राजसी या तामसी अवस्थाओंके अनुरूप अपने भीतर घड़े प्रत्ययोंका बाह्यप्रक्षेपण भी करती है. 'प्रस्थानरत्नाकर' ग्रन्थके प्रमास्वरूपबोधोपयिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलमें दशविधज्ञानकी निरूपक आद्य तरंगमें[४] इस विषयका विस्तारपूर्वक भलीभांति उपपादन हुवा है.

५.भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने अपने शारीरकभाष्यके उपोद्‌घातमें इस तरहके अध्यासका[५] मनोरम निरूपण किया है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण अपने भाष्यमें इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान इन शब्दोमें करते हैं :

(क)''वेदेनैव तावत् कर्तृत्वं बोध्यते. वेदश्च परमाप्तो अक्षरमात्रमपि अन्यथा न वदति. अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वासप्रसंगात्. नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति, सत्यत्वादिधर्म-वत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः. सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्य-विरोधः. 'सत्य'-'ज्ञाना'दिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः. नच कर्तृत्वं संसारिधर्मो देहाध्यासकृतत्वाद् इति वाच्यं, प्रापञ्चिके

कर्तृत्वे तथैव नतु अलौकिककर्तृत्वे... प्रतीतञ्च निषेध्यं न अप्रतीतं न श्रुतिप्रतीतम्. सत्यत्वादयश्च लौकिकाः ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्. नच सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव, व्यवहारमात्रत्वात् कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपञ्चे भासते इति वाच्यं, तर्हि कर्तृत्वं तथा कुतो न अंगीक्रियते? स्मृतिश्च स्वीकृता भवति 'कर्ता कारयिता हरिः' इति. नच आरोपन्यायेन वक्तुं शक्यं तथा सति अन्यस्य स्यात्. तत्र न प्रकृतेः, अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात्. न जीवानाम्, अस्वातन्त्र्यात्. नच अन्येषाम्, उभयनिषेधादेव. तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् एवं भोक्तृत्वमपि"(ब्र.सू.भा.१।१।२).

(ख)"कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत् नतु जडगतम् इति"(ब्र.सू.भा.२।३।-४१).

अतः भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रतिपादित आध्यासिकी प्रक्रिया प्रत्यक्षानुभूतिके बारेमें सर्वांशमें वाल्लभ वेदान्तमें अभिमत हो नहीं पाती है.

६. इसके बाद आते षष्ठ कल्पके मूलमें भी किसी तरहकी द्वैतवादी पूर्वधारणा ही सुस्पष्ट झलकती है. अतः लीलार्थ प्रकट विषय-विषयीके द्वैतवश प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोंके बीच एक क्रिया-प्रतिक्रियारूप प्रकट हुयी वास्तविक घटना है, इस अंशमें तो वाल्लभ वेदान्तको भी कोई आपत्ति न होनेपर भी, विषय-विषयीके बीच रहे मौलिक अद्वैतको भुलाया न जाये, तभी यह कल्प वाल्लभ वेदान्तमें मान्य हो पायेगा. अतएव श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्धमें "आसीद् ज्ञानम् अथोहि अर्थो **एकमेव अविकल्पितं... तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहद्. तयोः एकतरोहि अर्थो प्रकृतिः सा उभयात्मिका. ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते. तमो रजः सत्त्वम् इति**

प्रकृतेः अभवन् गुणाः. मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च... सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणो अण्डम् उत्पादयामासुः मम आयतनम् उत्तमं, **तस्मिन् अहं समभवम् अण्डे सलिलसंस्थितौ**'' (भाग.पुरा.११।२४।२-१०) कहा गया है. अतः यहां निरूपित एकका अनेकवद्भाव और उन अनेकवद्भावापन्नोंमें पुनः परस्पर संहत्य अर्थक्रियाकारिताके सिद्धान्तको न भुलाया जाय तो विषय-विषयीके बीच क्रिया-प्रतिक्रियारूपेण प्रत्यक्षानुभूतिको एक वास्तविक घटनाके रूपमें स्वीकार करनेमें वाल्लभ वेदान्तको कोई संकोच नहीं होगा. अन्यथा यह भी कल्प पूर्वपक्षकुक्षिमें निविष्ट ही स्वीकारना पड़ता है.

(उत्तरपक्ष / सिद्धान्तपक्ष)

अतः अवशिष्ट अन्तिम सातवां ''*यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है*'' ऐसा कल्प ही हमारे सामने वाल्लभ सिद्धान्तके रूपमें प्रस्तुत होता है.

एतदर्थ कुछ मौलिक प्राग्धारणाओंको बुद्धिगत रखना जिज्ञास्यविषयके भलीभांति समाकलनके हेतु उपकारक हो सकता है.

प्रथम प्राग्धारणा :

उनमें सर्वप्रथम तो यह कि यहुदी-ईसाई-इस्लामी धर्मग्रन्थोंमें सृष्टिका प्रादुर्भाव जैसे एक सीधी रेखाके रूपमें स्वीकारा गया है, वैसे वेदादि शास्त्र या वाल्लभ वेदान्तमें वह नहीं स्वीकारा गया है. यहां वह चक्रकाकार रेखामें स्वीकारा गया है. क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषा ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.३।१) में ही ''**जायन्ते-जीवन्ति-प्रयन्ति-अभिसंविशन्ति**'' यों चारों ही क्रियापदोंमें वर्तमानकालका प्रयोग इसकी गवाही देता है. अतः एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न

होना, उस सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवर्जित तत्त्वका सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवत्तया प्रकट होना, देश-काल-स्वरूपतो अपरिच्छिन्नका अपने-आपको देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोंमें प्रकट करना, उस विशुद्ध विज्ञानात्मक तत्त्वका अपनेसे पृथक् ज्ञेयार्थतया भी प्रकट होना, उस कृत्स्नप्रज्ञानघन एकरस तत्त्वका अज्ञान संशय भ्रम स्मृति स्वप्न निद्रा आदि अनेकरसभावोंमें प्रकट होना, यह सभी कुछ सकृद्घटित होनेवाली आकस्मिक घटना न हो कर कोई सनातन असकृदावर्तनोंके चक्रोमें चलती रहनेवाली एक लीलाके रूपमें स्वीकारा गया है. अतएव उस आत्मरमणशील[६] चेतनामें अनात्मवत् जड़-जीवात्मिका सृष्टिका प्रादुर्भाव लीलारूप माना गया है. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्में इसे यों कहा गया है :

> ‘‘सवै नैव रेमे तस्माद्-एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ. स इममेव आत्मानं द्वेधा आपातयत्... स ह अयम् ईक्षाञ्चक्रे ‘कथन्नु मा आत्मनएव जनयित्वा सम्भवति, हन्त तिरोसानि’ इति सा गौः अभवत् ऋषभःइतरः तां समेव अभवत्...यदिदं किञ्चन मिथुनं...तत् सर्वम् असृजत. सो अवेद् ‘अहं वाव सृष्टिः अस्मि’ - ‘अहं हि सर्वम् असृक्षि’ इति. ततः सृष्टिः अभवत्. सृष्ट्यां ह एतस्यां भवति य एवं वेद.’’
> (बृह.उप.१।४।३-५).

एतावता सिद्ध होता है कि उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वेधापादन, अर्थात् विषय और विषयी बनना, आंख-मिचौनीके जैसी कोई क्रीड़ा है. अर्थात् छिपे हुवे विषयको विषयी खोज रहा है और विषयीके छिप जानेपर उसे विषय खोजने लग जाता है! यह निरन्तर चक्रवत् चलती लीलामें उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना और अनेकवद्भावापन्न हो जानेपर पुनः अपनी

एकमेवाद्वितीयताको खोजने लग जाना ही सृष्टि-प्रलयके चक्रतया उपनिषदोंमें प्रतिपादित हुवा है.

हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद हो नहीं सकता. अतः विषयी चेतनामें प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें इच्छा-यत्न-उपलब्धिके अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोंसे निराकृत होनेकी एक क्रीड़ा है. उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोंमेंसे विषयकी भी झलक प्रकट करनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीड़ा चलती रहती है. अन्यथा सर्वथा अनवगत अनाकांक्षित अद्भुत या अनिष्ट विषयोंके आकस्मिक परोक्षापरोक्ष विज्ञानकी सम्भावना ही प्रकट हो नहीं पाती! एतावता सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु ज्ञानविषय बन कर विषयी ज्ञानके साथ जुड़ना चाहती है और प्रत्येक चेतना आत्मरत रहनेके बजाय ज्ञेयार्थविषयिणी बनना चाहती है. यदि यह क्रीड़ा चक्रवत् नैरन्तर्य लिये हुवे न होती, तो सभीके लिये सीधी ऋजुरेखाके रूपमें निर्विकल्प समाधिकी अवस्थाको पा लेना एक सुलभ सिद्धि ही हो जाती! निष्कर्षतया *''प्रत्यक्षानुभूति विषय और विषयी दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रह हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है''* यह सिद्ध हो जाता है.

द्वितीय प्राग्धारणा :

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि ज्ञानके परोक्षावभासके अन्यान्य सभी उदाहरणोंमें रूपसृष्टि (percept) और नामसृष्टि (concept) के बीच प्रकट ऐच्छिक द्वैतकी ही प्रधानता रहती है. प्रत्यक्षावभासमें, जबकि, इन दोनोंके बीच पुनः एक निगूढ़ तादात्म्यका अनुसन्धान सुलभ बन जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति अपनी आद्यावस्था निर्विकल्पानुभूति (sense datum) के स्तरपर विषयीकी इच्छा आकांक्षा या प्रयत्न से

नियततया जन्य नहीं होती. अतः विषयीसे बाह्यार्थ न केवल अपरोक्षावभासेंगित दिशाके अनुरोधवश अपितु वैसे अवभासप्रयुक्त प्रवृत्तिहेतुक अन्यथानुपपत्तिके बलपर भी बाह्यार्थ और निर्विकल्पानुभूति के बीच जन्यजनकभाव सिद्ध होता है. यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषद्में इन नाम-रूप-कर्मोंके तादात्म्यका निरूपण यों उपलब्ध होता है कि—

> ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म. तेषां नाम्नां वाग्...अतोहि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति... बह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति. अथ रूपाणां चक्षुः... अतोहि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति... बह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति. अथ कर्मणाम् आत्मा... अतोहि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ एकःसन् एतत् त्रयम्.''
>
> (बृह.उप.१।६।१-३).

तथापि यहां नाम-रूप-कर्मोंके उत्थानहेतु 'उत्तिष्ठन्ति' और आधारहेतु 'बिभर्ति' के सूक्ष्म प्रभेद ऐच्छिक द्वैत और स्वाभाविक अद्वैत के ही लिंग हैं. अतः स्पष्टतया नाम-रूप-कर्मके बीच रहे इस निगूढ़ एवं घनिष्ठ ब्राह्मिक तादात्म्यका अनुसन्धान प्रत्यक्षानुभूतिमें शक्य जो बन जाता है, वही इस प्रत्यक्षप्रमाणका असाधारण महत्त्व है. वाल्लभ वेदान्तमें नाम और रूप को, जर्मनीके सत्रहवीं सदीके चिन्तक लाइप्नीत्ज़के मोनाड्स्की तरह, आत्मपर्याप्त समानान्तर गवाक्षविहीन प्रकोष्ठोपम नहीं माना गया है. और न इन नाम-रूपोंको आविद्यक विकल्प ही अर्थात् अविद्याकल्पित मिथ्याभास ही. क्योंकि इनकी त्रयीका आत्मतया एकत्व और एकात्माका नाम-रूप-कर्मतया त्रित्व कण्ठोक्त सिद्ध है. यह तादात्म्य, क्योंकि, विषयके परोक्षावभासमें यद्यपि सुबोध्य नहीं होता; फिरभी, प्रत्यक्षानुभूति एक ऐसा प्रयागराज है कि जहां नाम-रूप-कर्मकी त्रिवेणीका पवित्र संगम हो ही जाता है.

प्रस्तुत विमर्शके यहां इस मुकामपर पहुंचनेपर ही तैत्तिरीयोपनिषद्में निरूपित **"सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... स... इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किञ्च... सच्च त्यच्च अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते"** (तैत्ति.उप.२।६) उस परम तत्त्वकी विरुद्धधर्माश्रयताका सत्यापन शक्य बन जाता है.

तृतीय प्राग्धारणा :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके आत्मज श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा वाल्लभ वेदान्तके नामाभिधानार्थ प्रयुक्त 'साकारब्रह्मवाद' पदके अभिप्रायका विमर्श करनेपर 'ब्रह्म'पद त्रिविध अपरिच्छिन्नताका भाव द्योतित करता है परन्तु 'साकार' पदसे विरुद्धधर्मका भाव द्योतित होता है. जैसा कि महाप्रभु स्वयं भी कहते हैं **"ब्रह्मणि विरुद्धधर्माः सन्तीति ज्ञापनार्थम् आह 'अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयो युक्त्यगोचरम्' अनन्ताः मूर्तयो यस्य (तद्) ब्रह्म एकं व्यापकं च. तेन अनेकत्वम् एकत्वं च निरूपितम्"** (त.दी.नि.प्र.१।७१) अतः आधुनिक सूक्ष्मजैविकविज्ञानके (Microbiology) के एककोशीय जीवाणु (protoplasmic cell) मॉडलपर कुछ कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि 'साकार' पदबोधित परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण Nucleus के जैसे होते हैं. इसी तरह 'ब्रह्म'पदबोधित त्रिविध अपरिच्छिन्नता / व्यापकताको 'अक्षरब्रह्म' कहा गया है. यह एककोशीय जीवाणुमें Cytoplasm की तरह होता है. यहीं नाभीकीय सत्यसंकल्प तथा सर्वभवनसामर्थ्य द्वारा आत्मद्वेधापादन (splitting of cell) की प्रक्रिया सम्पन्न होती है.[७] सच्चिदानन्दरूप अक्षरब्रह्मकी पञ्चविधता काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषतया निरूपित हुयी है. इनमें प्रकृति सत्त्वरजस्तमोगुणोंकी साम्यावस्थारूपा सदंश होती है. महद् (व्यष्टिचित्तोंकी समष्टि), अहंकार (व्यष्टिक्रियाशक्तिओंकी समष्टि). इस तरह ये हमारे भीतर प्रत्यक्षोपकरण मन बुद्धि इन्द्रिय तन्मात्रा पञ्चमहाभूतोंके

अवान्तरोपादानकारणरूप बनते हैं. आनन्दांशके तिरोभावपूर्वक जीवचेतनाकी समष्टिको पुरुष माना गया है. यह साराका साराका आत्मविभाजन cytoplasm के जैसे अक्षरब्रह्मात्मक प्रकोष्ठमें सम्पन्न होता माना गया है. इनमें Nucleus स्थानीय पुरुषोत्तमको सर्ववस्तुविषयक स्वाभाविक= अनौपाधिक ज्ञानसे सर्वदा युक्त माना गया है. यह स्वभावसिद्ध सर्वज्ञता, किन्तु, जीवचेतनामें आनन्दांशके तिरोधानवश तिरोहित हो जाती मानी गयी है. अतः ब्रह्मके चिदंशोंमें चेतनाका स्वरूप निर्विषयक चैतन्यवत् हो जाता है. बादमें ब्रह्मके ही सदंशभूत प्राकृत चित्त अहंकार मन इन्द्रिय तन्मात्रा बुद्धि आदि उपाधियों या उपकरणों के सहयोगवश ही वह जीवचेतना पुनः सविषयक ज्ञानवान् ज्ञाता बन पाती है. अतः जिसे हम 'विषयी' कहते-समझते हैं वह चेतनैकरस या बोधैकरस (homogeneously cognisant spitit) न हो कर चेतनाचेतन तत्त्वोंका संघात होता है. निष्कर्षतया जिसे हम प्रत्यक्षोपलब्धि समझते हैं, उसे भी चेतनाचेतनसंघातमें घटित होनेवाली एक विलक्षण घटनाके रूपमें निहारना आवश्यक होता है. अतः हमारी प्रत्यक्षोपलब्धि भी हमारा सहज सामर्थ्य न हो कर विषयीके घटक चेतनाचेतन उपादानोंका संघातोपाधिक सामर्थ्य ही होता है. अतः संघातोपादानभूत तत्त्वोंकी परिच्छिन्न सामर्थ्यके अनुरूप परिच्छिन्न सामर्थ्य भी वहां अनुक्तसिद्ध ही हो जाता है.

ये तो प्रत्यक्षानुभूतिके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपके बारेमें तत्त्वमीमांसकीय या पराभौतिकी (metaphysical) प्राग्धारणाएं हैं. ज्ञानमीमांसकीय (episemological) प्राग्धारणोंपर भी थोड़ा सा दृष्टिपात अपेक्षित है.

<u>चतुर्थ प्राग्धारणा</u> :

यह समूचा निरूपण श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके छब्बीसवें अध्यायके आधारपर ही प्रस्थानरत्नाकरकारने भी किया है. अतः विस्तारपूर्वक तो वहीं देख लेना उपकारक होगा. फिरभी थोड़ी सी रूपरेखा यहां भी दी जा सकती है.

हम देख चुके हैं कि जीवचेतनाका साक्षात् सम्पर्क जिस प्राकृतिक तत्त्वके साथ जुड़ता है, उसे 'महत्' या 'चित्त' कहा गया है. इसके बारेमें भागवतकारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं कि चित्त वह पदार्थ है जो सदंशमें प्रकटी प्रकाशोपम चिदंशके प्रति प्राथमिकी, दर्पण या केमेरामें भरी जानेवाली (photosenstivie reel) के जैसी, चैतन्यके ग्रहण और उसे प्रकट करनेकी सामर्थ्य है. इसे ब्रह्माण्डकी अंकुरावस्थाके रूपमें निरूपित किया गया है. इस चित्तमें से जो द्वितीय तत्त्व प्रकट होता है वह क्रियाशक्तिमान् अहंकार है. इसमें निजोपादानके गुणके अलावा क्रियाशक्तिका भी वैशिष्ट्य उल्लेखनीय है. अर्थात् अब चित्त न केवल चैतन्यको अपने भीतर प्रतिफलित कर पाता है अपितु अहंकारात्मना परिणत चित्त प्रतिक्रिया भी प्रकट करने लग जाता है. हम देख चुके हैं कि चित्तको अंकुरोपम माना गया सो अहंकारात्मना सक्रिय हो पानेके कारण अब उसमें न केवल चैतन्य अपितु विश्वके मूलांकुरमें रही सूक्ष्मावस्थागत विविध नाम-रूप-कर्मोवाले मन इन्द्रिय और तन्मात्राओं के प्रति सभानता तथा सचेष्टता भी प्रकट हो पाती है. और इस तरह वे स्थूलभावापन्न हो जाते हैं. शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध तन्मात्राएं ही घनीभूत हो कर आकाश वायु तेज जल और पृथिवी के रूपोंमें परिणत हो जाते हैं[८]. इसका सुविशद निरूपण तो आकर ग्रन्थमें ही अवलोकनीय है. फिरभी यहां उसके स्थालीपुलाकन्यायेन निरूपणका मुख्य प्रयोजन यह दिखलाना है कि कैसे एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दके सदंश और चिदंश अपने मौलिक रूपमें एकरस (homogeneous) होनेपर भी आत्मविभाजन (self-splitting) द्वारा भिन्नरस (heterogeneous) बन जाते हैं. इन भिन्नरसभावापन्न सदंश और चिदंश के परस्पर संहत हो कर एक-दूसरेके प्रति क्रिया-प्रतिक्रियाशील होनेपर जीवशास्त्रीय mitotic और meiotic आत्मविभाजनपूर्वक उत्तरोत्तर विकास भी शक्य बन जाता है.

एतावता सिद्ध होता है कि नामकी बोधात्मकता और रूपकी

जड़ात्मकता आत्मविभाजनकी जीवशास्त्रीयक प्रक्रिया सदृश एक प्रक्रिया है. अतः इन दोनोंके बीच रहे वैरूप्यके तिलका ताड़ बना कर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष में अन्यतरके पक्षपाती बन कर किसी एकतरके प्रत्याख्यानको वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्राग्धारणाओंके विमर्श करनेपर अनावश्यक सिद्ध किया जा सकता है. अतएव विषयमें विषयी और विषयीमें विषय ओतप्रोत माने गये हैं. निष्कर्षतया बाह्य रूप आन्तर नामका उद्बोधक होता है और आन्तर नाम बाह्य रूपोंके विकल्पोंका अवगाहन कराता है. इस प्रक्रियाका सर्वाधिक प्रस्फुटन प्रत्यक्षानुभूतिमें ही सम्भव होनेसे ज्ञानमीमांसकीय प्राग्धारणाओंके आधारपर भी सदंश-चिदंशका, नाम-रूपका; एवं, अनुभूति तथा संस्कार का पवित्र संगमस्थल होनेके कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाणतया भी आदरणीय होता ही है. अतः विशुद्धचैतन्य और नामरूपकर्म; अथवा तो, नाम या रूपके बीच भी किसी एकको अनावश्यक ही अविश्वसनीय, मिथ्या या असत् मानना वाल्लभ वेदान्तको श्रुत्यादि शास्त्रोंके अभिप्रेतार्थतया आवश्यक नहीं लगता.

पञ्चम प्राग्धारणा :

हम देख आये कि प्रथम ब्राह्मिक सदंश प्रकृति गुणत्रयीकी साम्यावस्था है. उन्हीं तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें कालकृत गुणक्षोभवशात् प्रकट हुवा वैषम्य यह समूचा महदादि पञ्चभूतान्त प्राकृत विकार है. अतएव प्रपञ्चकी छोटी हो या बड़ी प्रत्येक घटनाओंमें गुणत्रयीका वैषम्य अनुस्यूत रहता है. परिणामतः निर्विकल्पकानुभूतिके बाद बुद्धिमें सात्त्विकावस्थाके प्रबल होनेपर अध्यवसायाकारक परोक्षापरोक्ष भान होता है. राजसावस्थाके प्रबल होनेपर संशयाकारक ज्ञान प्रकट होता है[१]. इसका भी सुविशद विवेचन 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थके 'प्रपञ्चविवेक' और 'ख्यातिविवेक' नामक प्रकरणोंमें तथा प्रस्थानरत्नाकर के भी प्रमास्वरूपबोधौपयिक-ज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलके द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ तरंगोमें हुवा ही है. यहां इसके उल्लेखका प्रयोजन तो केवल

इतना ही है कि प्रत्यक्षानुभूति स्वयं अनुभूतिके स्तरपर प्रमाकारिका संशयाकारिका या भ्रमाकारिका कुछ भी हो सकती है. क्योंकि बुद्धिका कार्य, श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके पूर्वोक्त अध्यायमें, बुद्धिको परिभाषित करते हुवे यों कहा गया है कि *"समनस्केन्द्रियोंमें द्रव्यके स्फुरित होनेपर, अर्थात् सामान्यज्ञानके सम्पन्न होनेपर, उसे विशेषज्ञानमें पर्यवसित करनेवाली बुद्धि होती है."*[१०] अतः प्रत्यक्षप्रमा न केवल बुद्ध्याश्रिता घटना होती है और न केवल इन्द्रियाश्रिता ही; प्रत्युत, इन्द्रिय और बुद्धि उभयाश्रिता घटना है. अतएव जैसे सर्वथा इन्द्रियोंसे अगोचर वस्तुके बारेमें बुद्धि प्रत्यक्षप्रमा प्रकट नहीं कर पाती, वैसे ही बुद्धिसे सर्वथा अगृहीत अथवा सर्वथा अग्राह्य या असम्भाव्य वस्तुओंके बारेमें इन्द्रियां भी सहसा प्रत्यक्षप्रमा प्रकट करनेमें सक्षम नहीं हो पाती हैं. इसे आधुनिक मनोविज्ञानने भी अनेक प्रयोगोंद्वारा सिद्ध किया है. निष्कर्षतया पुनः दोहराना चाहेंगे कि *"प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है"* अस्तु.

(संगति)

प्रत्यक्षप्रमाके बारेमें इन सैद्धान्तिक प्राग्धारणाओंका विहंगावलोकन कर लेनेपर कुछ महत्त्वपूर्ण संगतिओंका विचार कर लेना इस विषयमें प्रसंगोपात्त होगा.

(१) श्रीमद्भागवतके पूर्वनिर्दिष्ट **"महत्-तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यसम्भवात् क्रियाशक्तिः अहंकारः त्रिविधः समपद्यत, वैकारिकः तैजसश्च तामसश्च यतो भवो मनसश्च इन्द्रियाणाञ्च भूतानां महतामपि"** (भाग.पुरा.३।२६।२३-२४) इस वचनमें अहंकारको क्रियाशक्तिमान् माना गया है. तथा इसीमेंसे मन इन्द्रियों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकारी गयी है. वैसे तो सर्वत्र उपादानकारणके गुण उपादेय कार्यमें अनुगत होते हैं. अतः चित्तोपादानकतावश इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्ति और

अहंकारोपादानकतावश क्रियाशक्ति यों साक्षात् / परम्परया द्विविध शक्तियोंका अनुगम मन तथा इन्द्रियोंमें माना गया है. साथ ही साथ इन्द्रियोंमें पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय यों विभज्यानुगति भी निरूपित हुयी है. अतएव **"एकादशाः आसन् मनसोहि वृत्तयः आकूतयः पञ्च धियो अभिमानः"** (भाग.पुरा.५।११।९) वचनमें " 'आकूति'^{५} + 'धी'^{५} + 'अभिमान'^{१} = ११ मनोवृत्तियां" ऐसा समीकरण भी कण्ठोक्त है. साथ ही साथ *"वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था"* उचित होती है, फिरभी मनको, क्योंकि ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोंका प्रेरक अधीश्वर माननेके साथ-साथ भगवद्गीतामें **"मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि"** (भग.गीता.१५-।७) वचनमें इन्द्रियरूप भी माना गया है. अतः अपेक्षित बारह संख्याका अनुल्लेख इस तथ्यकी और इंगित करता है कि संख्या अनियततया यथासन्दर्भ सापेक्ष होती है ऐकान्तिक नहीं. एतावता संघातस्वभाव, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के आधीन सभी इन्द्रियोंकी चेष्टा अनुभवसिद्ध होनेसे कर्मेन्द्रियोंमें भी किसी प्रकारकी अनुभूति और ज्ञानेन्द्रियोंमें भी किसी प्रकारका कर्म भी क्यों स्वीकारा नहीं जा सकता?

उदाहरणतया वागिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय केलिये मुखमें एक ही जिह्वा उभयविध शक्तिओंसे सम्पन्न रहती है. पाणीन्द्रिय वैसे एक कर्मेन्द्रिय होती है परन्तु द्रव्यके गुरुत्वके ज्ञानार्थ वह ज्ञानेन्द्रियका कार्य भी करती ही है. पायूपस्थेन्द्रियां भी कर्मेन्द्रियां है फिरभी मलमूत्रादिकी वेगबाधा और वेगोपशम के अभिज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोंका काम भी करती ही हैं. इसी तरह चरण कर्मेन्द्रियां होनेपर भी धावनश्रम और श्रमोपशम के विज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य भी निभाते ही हैं. इसी तरह ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत चक्षु वैसे रूपादि प्रत्यक्षकी करण है परन्तु पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊर्ध्व-अधो दिशाओंके निरीक्षणार्थ वह कर्मेन्द्रियकी तरह भी बरतती हैं. प्रकाशबाहुल्य तथा प्रकाशमान्द्य के अनुरूप नेत्रगोलकके भीतर अन्तर्पटलको (iris) संकुचित / विकसित करनेकी क्रिया कर्मेन्द्रियवत् ही चक्षु सम्पन्न करती है. नासिका एकाकिनी ही गन्धग्रहण तथा

श्वसनीय वायुके पूरण-रेचनकी क्रिया भी करती ही है. यों दोनों ही कार्य करती है. कर्णेन्द्रियके कर्णशूर्प यद्यपि मनुष्ययोनिमें बाह्य कर्म नहीं करते परन्तु पशुओंमें तो स्पष्टतया ध्वनिस्रोतकी दिशामें कर्णेन्द्रियचालनद्वारा श्रवणोपकरण बनते उन्हें देखा जा सकता है. रसनेन्द्रियके लिये भी कहा जाता है कि लालारस उत्पन्न करनेकी क्रिया न करे तो आस्वादनार्थ भी समर्थ वह नहीं हो पाती. इसी तरह त्वगिन्द्रिय भी कट-फट जानेपर पुनःसन्धानकी क्रिया करती ही है. इससे सिद्ध होता है कि इन इन्द्रियोंके ज्ञानोपकरण तथा कर्मोपकरण होनेके प्रभेद *"प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति"* न्यायका अनुसरण है नकि किसी एकतरमें अन्यतरके आत्यन्तिक अभावके वश. एतावता सिद्ध होता है कि केवल कर्म ही इच्छातन्त्र नहीं होता अपितु प्रत्यक्षानुभूति भी इच्छातन्त्र होती है. वैसे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि—

"कर्तव्ये हि विषये न अनुभवापेक्षा अस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वात् च कर्तव्यस्य. कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म. यथा अश्वेन गच्छति पद्भ्याम् अन्यथा वा नवा गच्छति इति. तथा 'अतिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति' इति. नतु वस्तु एवं / नैवम् अस्ति / नास्ति इति वा विकल्प्यते. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्. किन्तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्, नहि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुः वा पुरुषो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति. तत्र पुरुषो वा अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्. स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानं वस्तुतन्त्रत्वात्."

(ब्र.सू.भा. १।१।२).

श्रुत्यादि शास्त्रोंमें जहां "त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमारः

उत वा कुमारी... त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः'' (श्वेता.उप.४।३) ''एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वम् अनुप्रभूतः, एकैव उषाः सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'', ''पुरुषएव इदं यद् भूतं यच्च भव्यम्'' (ऋक्संहि.८।५८।२, १०।९०।२) जैसे वचन उपलब्ध होते हैं वहां एवंकी अनेवंताके अथवा एककी अनेकताके प्रतिपादनको संशय या भ्रान्ति का जनक माना नहीं जा सकता. स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके भी—

''दृष्टश्च लोके विवक्षातः शब्दप्रयोगः 'ग्रामः आगतः', 'ग्रामः शून्यः' इति. कदाचिद् 'ग्राम' शब्देन निवासमात्रविवक्षायां 'ग्रामः शून्यः' इति शब्दप्रयोगो भवति. कदाचिद् निवासिजनविवक्षायां 'ग्रामः आगतः' इति. कदाचिद् उभयविवक्षायामपि 'ग्राम' शब्दप्रयोगो 'ग्रामं न प्रविशेद्' इति.''

''तस्मात् तार्किकचाटभटराजाऽप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च 'तद् एजति तद् न एजति तद्दूरे तदु अन्तिके इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च.''

(बृह.उप.भा.१।४।७, २।१।२०).

ऐसे उद्गारोंका विमर्श करनेपर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि प्रमात्मक बोध ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र ही होता है. अन्यथा जीवात्मा और ब्रह्मं के आत्यन्तिक भेदवर्जित होनेपर भी ब्रह्मके प्रमात्मक साक्षात्कारके हेतु श्रवण मनन निदिध्यासन जैसी इच्छातन्त्र क्रियाओंका अनावश्यक होना अधिक उचित होता.

श्रीमद्भगवद्गीताके, परन्तु, ''अदृष्टपूर्वं हृषितो अस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे तदेव दर्शय, देव!, रूपं'' (भग.गीता.११।४५)

वचनमें भगवान्के मानुष रूप और विराट् रूप दोनोंके दर्शन अर्जुनको अपनी इच्छा या अभ्यर्थना के आधारपर इतरेतरविकल्पतया हुवे. एतावता प्रत्यक्षानुभूतिको भी ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र नहीं माना जा सकता है. अन्यथा योगिप्रत्यक्षको अप्रत्यक्ष मानना पड़ेगा. अतएव उन्नीसवीं सदीके जर्मनीके लुड्विग् विट्गन्स्टीन् भी निर्विकल्पानुभूति और प्रत्यय के बीच तारतम्य दिखलाते हुवे कहते हैं "Sensation gives knowledge about external world... Images tell us nothing, either right or wrong, about external world (Images are not hallucination, nor yet fancies). While I am looking at an object I Cannot imagine it... Images are subject to will"[12] इसे वे अधोनिर्दिष्ट आकृतिद्वारा समझाते हैं :—



वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार परन्तु यह कहा जा सकता है कि अनिच्छातन्त्र कल्पनाके कारण उत्पन्न होती प्रतीति बहुधा मायिकी ही होती है. भावानुरूप प्रतीतिका, किन्तु, अवास्तविक होना आवश्यक नहीं, यदि वस्तुमें भावानुसरणसामर्थ्य हो तो. श्रीमद्भागवतमें, अतएव, आता है कि "**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु, नाथ!, पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय**" (भाग.पुरा.३।९।११). संगीतशास्त्रके सप्तस्वरोंमें से किसी भी एक स्वरके बारेमें गायकके अपने कण्ठस्वभावके अनुरोधवश स्वेच्छया षड्जभाव स्थापित कर लेनेपर अवशिष्ट सभी ऋषभ गन्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषाद स्वर श्रुतिगोचर होने लगते हैं, "**षट्त्सु जायतइति षड्जः**" व्युत्पत्तिके अनुरूप. इन्हें केवल इमेजके रूपमें अबाह्य मान कर खपाया नहीं जा सकता गायकेतर श्रोता इसे अपने कर्णोंद्वारा

साक्षात् सुन सकता है. अतएव कर्म और ज्ञान के बीच इच्छातन्त्र और वस्तुतन्त्र होनेका प्रभेद भी आत्यन्तिक नियति नहीं हैं. वाल्लभ वेदान्त कर्म और ज्ञान दोनोंको ब्रह्मात्मिका शक्तियोंका अनुभाव ही मानता है और परस्परोपकारक भी[१३] अस्तु.

(२) एक और विषय प्रत्यक्षानुभूतिकी चर्चाके अन्तर्गत यहां उल्लेखनीय लगता है कि श्रीमद्भागवतके उल्लिखित स्थलपर ही "द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च तेजस्त्वं तेजसः... रूपमात्रस्य वृत्तयः" (भाग.पुरा. ३।२६।३९) कारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं :

> "द्रव्यस्य घटादेः या आकृति सैव रूपस्य, पृथुबुध्नोदराकारं रूपमपि आतानवितानात्मकं च. 'द्रव्यस्येव आकृतिः' इति द्रव्यस्य न उपमेयत्वम् अतो रूपस्यैव लक्षणम्. 'गुणता' इति सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीतिः. नैवं शब्दादिषु, स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात्. व्यक्तेः संस्थेव संस्था यस्य. यदि व्यक्तिः वक्रा भवति रूपमपि वक्रं भवेदिति. उपविष्टे रूपवति रूपमपि उपविष्टं भवति. आतानवितानात्मकसंकुचीकरणयोः भेदात्. तेजसश्च तेजस्त्वं रूपतन्मात्रत्वं सूक्ष्मावस्था... रूपतन्मात्रस्य सर्वगतरूपस्य वा चतस्रो वृत्तयः. तेजसो लक्षणानि आह 'द्योतनं पाचनं पानमदनं हिममर्दनं तेजसो वृत्तयस्तु एताः शोषणं क्षुत् तृडेव च' द्योतनं सूर्यादेरिव."
>
> (सुबो.३।२६।३९-४०).

इस आचार्यवचनके विमर्श करनेपर ऐसा नहीं लगता कि रूपके चाक्षुष प्रत्यक्षार्थ नेत्रकिरणोंका नेत्रोंसे बहिर्निःसरण और विषयदेश पर्यन्त गमन कर प्राप्यकारी होना अनिवार्य हो. आधुनिक युगमें एकीकृत इलेक्ट्रोमेग्नेटिक तरंगविस्तारके सिद्धान्त (The unified theory of electromagnetic field) के अनुसार चक्षुर्ग्राह्य प्रकाश तो रूपद्योतनक्षम

किरणोंके प्रभेदोमें एक अतीव क्षुद्रांश होता है. आधुनिक युगमें मानवचक्षुसे अग्राह्य एक्सरे इन्फ्रारेड् अल्ट्रावायोलेट् ध्वनितरंग के ग्राहक उपकरणों अलावा उष्णताग्राहक उपकरणोंसे भी रूपाकृतिका ग्रहण शक्य हो गया है. अतः न तो सूर्यके चक्षुर्ग्राह्य प्रकाशकिरणोंकी और न तथाकथित नेत्रकिरणोंकी ही कोई अनिवार्य आवश्यकता अब रूपग्रहणार्थ स्वीकारी जा सकती है.

असकृत् स्वीकृतिद्वारा हम यह तो स्पष्ट कर ही चुके हैं कि वाल्लभ वेदान्त शास्त्रव्याख्यारूप चिन्तन है नकि तार्किक उत्प्रेक्षारूप. और प्रस्थानरत्नाकरकारके शास्त्रावगाहनसे अधिक या तत्सम शास्त्रावगाहनकी कथा तो दूर, उनके शास्त्रावगाहनकी तुलनामें अपना एकचतुर्थांश भी शास्त्रावगाहन प्रस्तुत लेखकका हो तो अपने-आपको कृतकृत्य मान लेता! फिरभी ‘‘नभःपतन्ति आत्मसमं पतत्त्रिणो’’ न्यायेन ऐसा लगता है कि कदाचित् चाक्षुषकिरणोंके बहिर्निर्गमनका सिद्धान्त श्रुत्यादि शास्त्रसिद्ध न हो कर प्रस्थानरत्नाकरकारकी एक कामचलाउ उत्प्रेक्षा ही है. अतः प्रस्थानरत्नाकरकार भी न्याय आदि मतोंकी तरह उसीके सहारे चाक्षुष प्रत्यक्षकी व्याख्या करनेमें कल्पनालाघव मान कर अग्रसर हुवे हैं. अन्यथा दर्पणमें तो नयनकिरणोंका परावृत हो कर स्वमुखग्रहण करना शक्य भी हो, तावता केमेरामें बाह्य दृश्यका प्रतिफलित हो जाना सूर्यकिरणोंकी रूपवाहकताके बिना कथमपि उपपन्न हो नहीं सकता. ग्रन्थकारकी यह युक्ति कि सूर्यकिरणोंद्वारा रूपनयन स्वीकारनेपर द्रव्य रूपविहीन हो जायेगा[१४] महाप्रभुके इस विधान कि ‘‘घट आदि द्रव्यकी जो आकृति होती है वैसी ही रूपकी भी. रूप भी घटकी तरह पृथुबुध्नोदराकार होता है. रूप पट द्रव्यकी तरह आतानवितानात्मक होता है. ‘द्रव्यके जैसी आकृति’ ऐसे कहनेके कारण द्रव्यको उपमेय नहीं मान लेना चाहिये. इसे रूपका लक्षण जानना चाहिये. ‘गुणता’ कहनेके कारण रूपकी सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति होती है... तेजका लक्षणोंका निरूपण ‘द्योतन आदि तेजस्की वृत्तियां होती हैं.... सूर्य

जैसे द्योतन करता है'' इसके साथ मेल खाती हुयी नहीं गलती है.

अतएव चक्षुर्ग्राह्य रूपवद् वस्तुके प्रत्यक्षमें चक्षु और सूर्यकिरण का संयोग, तत्तादात्म्यापन्न रूप, तज्जनक सूर्यकिरणोंका रूपवदद्रव्यके साथ संयोग; और, वहां उस रूपवदद्रव्यमें रूपकी तादात्म्येन विद्यमानता यों परम्परया अनेकसम्बन्धोंका ऊह अकाम गले पतित होता है. अतएव ऐसे सम्बन्धोंकी भी अपरिगणना प्रस्थानरत्नाकरमें यत्किञ्चित् संशोधनकी अपेक्षा रखती है, यदि ये परिगणित सम्बन्ध स्वयं श्रुत्यादिशास्त्रसिद्ध या आचार्यवचनसिद्ध न हों तो. अन्यथा ''वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था'' भी हमें सर्वदा स्वीकार्य होनी ही चाहिये. प्रत्यक्षतः उपपन्न न होनेपर प्रत्यक्षतोग्राह्य लौकिक वस्तुओंके किसी अलौकिक आध्यात्मिक या आधिदैविक स्वरूपविषयक ऐसी प्रक्रिया भी स्वीकारी जा सकती है. उदाहरणतया शिवपुराणमें यह उल्लेख मिलता है कि **''ततः सम्प्रेक्ष्य मदनं हसन् देवः त्रियम्बकः नयनेन तृतीयेन सावज्ञं तम् अवैक्षत. ततो अस्य नेत्रजो वह्निः मदनं पार्श्वतः स्थितं अदहत् तत्क्षणादेव''** (शिवपुरा.१।१०१।४०-४१). अतः कोई मापक यन्त्र हो तो प्राणीके नयनोंमेंसे भी निःसृत होती उष्णताका मापन सर्वथा अशक्य कथा नहीं. फिरभी सुदूर दृश्यवस्तुदेश पर्यन्त उनका गमन कुछ क्लिष्टकल्पना लगती है. ऐसे ही किसी असामान्य या अलौकिक सन्दर्भमें नेत्रोंसे भी किरणोंकी उपपत्ति सोची जा सकती है.

(उपसंहार)

अन्तमें आधुनिक विज्ञानने भी प्रकाशकी तरंगरूपता और कणगुच्छरूपता यों विरुद्धधर्माश्रयता मान्य की ही है तावता हमारी चेतनामें प्रत्यक्षानुभूतिका उद्भव भी ब्रह्मांशभूत चेतनामें अनुस्यूत ब्राह्मिकी विरुद्धधर्माश्रयताका ही आंशिक अनुभाव है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके एक उद्गार —

अचिन्त्यानन्तशक्तेः तद् यद् एतद् उपपद्यतेः।
अतएव श्रुतौ भेदाः सृष्टेः उक्ताः हि अनेकधा॥
(त.दी.नि.१।४०)

अपने इस आलेखनका उपसंहार करना चाहेंगे कि प्रत्यक्षानुभूति भी उस सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके मूलस्वरूपकी अनुभूति न भी हो तो क्या हुवा? है वह उसके लीलाविहारकी अनुभूति ही! इति शम्.

सन्दर्भ

[१](क)“रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः. विचित्रो रूपप्रपञ्चो, जीवाः च अंशाः, अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह ‘आत्मानम्’ इति. ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते तत्र आह ‘आत्मप्रसादाय’ इति, अन्तःकरणप्रसादाय. जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ, भोगभोजनार्थं, तदनुभोगेन मालीन्यं चित्ते जातं न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थः”(त.दी.नि.प्र.२।१८-१९).

(ख)“शब्दएव प्रमाणं तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणं वेदाः सर्वएव[त.दी.नि.प्र.]... तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनात् तेषु नैकान्तिकं प्रामाण्यम्. अतः तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद् वेदादयएव आद्रियन्ते इति अर्थः. ननु वेदादीनां चेत् शब्दत्वेन प्रामाण्यं तर्हि लौकिकेऽपि तुल्यं प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रमाणान्तरतौल्यं च इत्यतः आहुः ‘तत्रापि’ इत्यादि. नहि अस्माभिः शब्दत्वेन वेदानां प्रामाण्यम् उच्यते अपितु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, औत्पत्तिकसूत्रानुरोधात्. तथा सति यथा धर्मे सपरिकरे चोदनैव प्रमाणम् अत्र (सपरिकरे ब्रह्मणि) वेदादिरेव मानम् इत्यतो न तौल्यं नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्वं, नहि वेदोदितो धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातुं शक्यते, तयोः तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मीमांसासिद्धत्वाद् (त.दी.नि.प्र.आ.भ.१।७).

[२]"रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिः विलक्षणा. अन्तवती रूपसृष्टिः अनन्ता नामसृष्टिः. स्थूला रूपसृष्टिः सूक्ष्मा नामसृष्टिः. विकृता रूपसृष्टिः अविकृता नामसृष्टिः. जडरूपा रूपसृष्टिः बोधरूपा नामसृष्टिः. एवं चतुर्धा वैलक्षण्यम् उक्तम्" (सुबो.१०।१३।४३).

[३](क)"सर्वयोनिषु, कौन्तेय!, मूर्तयः सम्भवन्ति या तासां ब्रह्म महद् योनिः अहं बीजप्रदः पिता, सत्त्वं रजः तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति, महाबाहो!, देहे देहिनम् अव्ययम्. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयं, सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन च, अनघ!, रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवं तद् निबध्नाति, कौन्तेय!, कर्मसंगेन देहिनं, तमस्तु अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनां प्रमादालस्यनिद्राभिः तद् निबध्नाति भारत!" (भग.गीता.१४।४-८).

(ख)"सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्. पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसम्. यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम् अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम्." (भग.गीता.१८।२०-२२).

[४]"१.सर्वात्मभूतम् अविकृतं स्वस्वरूपात्मकं नित्यं २.धर्मरूपं नित्यं ३.वेदात्मकं नित्यं ४.सृष्टिबीजताभावापन्नानेकशब्दरूपं नित्यं ५.ततः तादृशद्विविधशब्दात्मकशरीर-विशिष्टमेव लोके प्रकटीभवितुं लौकिकं प्रमातारं प्रमेयं च आश्रयते. तत्र शब्दशरीरविशिष्टस्य प्रमात्राश्रयणं 'पश्यन्त्या'ख्यया शब्दावस्थया तद्बोधकश्रुत्या च अवसीयते. तथाच आनुभविकोक्तिः 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्दने भासते'. तत्र प्रमेयाश्रयं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तमेव... प्रमातरितु अन्तःकरणेन्द्रियाश्रयणात् पञ्चधा. तत्र इन्द्रियेषु (निर्विकल्पकत्वेन) एकधा. अन्तःकरणेतु चतुर्धा..."(प्रस्थानरत्नाकर पृ.२-७).

[५]"'युष्मद्'-'अस्मत्' प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः. इत्यतो 'अस्मत्'प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके 'युष्मत्'प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां च अध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणः तद्धर्माणां च विषये अध्यासो मिथ्या इति भवितुं युक्तं; तथापि, अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मान् च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोः धर्मधर्मिणोः

मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहम् इदं - मम इदम्' इति नैसर्गिको अयं लोकव्यवहारः"(ब्र.सू.शां.भा.१।१।१).

[६]"आत्मरतिः आत्मक्रीडः"(छान्दो.उप.७।२५।२).

[७]तुलनीयः"The cell has main two parts a nucleus, containing the genetic material deoxyribonucleic acid (DNA), and a surrounding cytoplasm... The nucleus-cell headquarter governs the major activities of the cytoplasm; its finest hour, however, comes at reproducting time, when chromosomes containing DNA split. It is in the cytoplasm that the cell's day-to-day business is carried on." pp.14 The body by Alan E. Nourse.

[८]द्रष्टव्य : सुबोधिनी ३।२६।१-७२.

[९]द्रष्टव्य : सुबोधिनी ३।२६।३०-३१.

[१०]द्रष्टव्य : प्रस्थानरत्नाकर प्रमास्वरूपबोधोययिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपककल्लोल तरंग तृतीय.

[११]"वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनःतत्त्वं... यद् विदुः 'अनिरुद्धा'ख्यं हृषीकाणाम् अधीश्वरम्" (भाग.पुरा.३।२६।२८).

[१२] pp.174 The Wittgenstein Reader=Aspect and Image Ed.by Anthony Kenny. Pbl. Black well. USA.

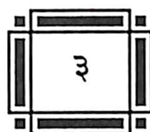
[१३]द्रष्टव्य : तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।११-१२ तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश २।२८.

[१४]द्रष्टव्य : प्रस्तानरत्नाकर पृ.१४८-१५०.



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



निगम और आगम शास्त्रोंका तुलनात्मक स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता

१. "वर्तमान कालमें परिदृश्यमान यह सब कुछ वही चतुष्पाद् पुरुष है. न केवल वर्तमान कालमें अवस्थित सभी कुछ; अपितु, भूतकालीन और भविष्यत्कालीन भी सभी कुछ वही पुरुष है. वैसे अन्नोपजीवी सभी मर्त्य होते हैं परन्तु वह तो अमृतताका स्वामी होनेके कारण अन्न और अन्नाद दोनों रूपोंको धारण करनेपर भी तिरोहित नहीं हो जाता. उसके महिमारूप इस इतने सारे ज्ञात ब्रह्माण्डविस्तारसे तो वह स्वयं निश्चयेन कहीं अधिक होता है. यह नश्वर ब्रह्माण्डविस्तार उस चतुष्पाद् ब्रह्मके एक-चतुर्थांशमें ही कहीं अवस्थित है—उस चतुष्पाद् ब्रह्मके तीन-चतुर्थांश तो ब्रह्माण्डसे बाह्य जो इसका अनश्वर आयाम है, उसमें अवस्थित हैं. वह स्वयं तो अपने इन अनश्वर तीन चरणोंसे भी बहुत ऊपर अवस्थित है!" (ऋक्संहि.१०।९०।२-३).

२. "जो बुद्धिमान वेदज्ञ होते हैं उन्हें तो वाणीके चारों चरणोंकी जानकारी रहती है. अन्यथा वाणीके चार

चरणोंमेसे तीन चरण तो किसी रहस्यमयी गुहाके भीतर ही कहीं छिपे रहते हैं. साधारण मनुष्य तो वाणीके चौथे चरण मात्रसे अपना कार्य निभाता रहता है!"(ऋक्संहि.१।१६४।४५).

(१.प्राग्धारणा)

ऋग् यजुः साम और अथर्व वेदोंकी चतुष्टयीके मन्त्र-ब्राह्मणरूप पूर्वकाण्डमें और उत्तरकाण्डगत उपनिषदोंमें जिनकी दिव्यानुभूति संकलित हुयी हैं, उन मन्त्रद्रष्टा ऋषिओंकी दृष्टिके समक्ष यह सर्वथा सुस्पष्ट ही था कि यह सृष्टि किसी एकमेवाद्वितीय तत्त्वकी सर्वभवनसामर्थ्यका विलास है.[१] अतः इस सृष्टिमें प्रकट हुवे विविध विरोधाभासी नाम रूप एवं कर्म उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वमें ही समाहित होनेके कारण अनेकता प्रकट करते होनेपर भी एकात्मक ही होते हैं.[२] उस परम तत्त्वका हमारे मन-वाणी-चक्षु आदिसे अगोचर मौलिक स्वरूप; और इनसे गोचर होनेवाला स्वरूप, दोनों ही तरह वह, अंशतः ही प्रकट होता माना गया है. अतएव उपनिषदोंमें कहा गया है "**जिसे वाणी द्वारा प्रकट न किया जा सके प्रत्युत वाणी स्वयं जिसके कारण प्रकट हो पाती है... जो समझ पानेकी सोचता है वह समझ नहीं पाया परन्तु जो ऐसे सोचता है कि समझ नहीं पाया वही कुछ समझ पाता है**", "**वाणी जहां पहुंचे बिना मनके साथ पुनः लौट आती है**" (केनोप.४-११, तैत्ति.उप.२।४). इन उपनिषदों और उपर्युद्धृत संहिता की वचनचतुष्टयीको अलग-थलग करके पढ़नेपर संहितावचनोंमें तत्त्वतः और अभिधानतः एक-चतुर्थांश और तीन-चतुर्थांशों का एक अंकगणितानुरोधी अमिट विभाजन सा सुनायी पड़ता है. जबकि उपनिषद्वचनोंमें उस परम तत्त्वके मन-वाणीसे सर्वथा अगोचर ही होनेका आभास प्रकट होता है. संहिता और उपनिषद् दोनोंके वचनोंको, परन्तु, इतरेतरान्वित करके पढ़नेपर यह रहस्य बुद्धिमें सहज ही कौंध पाता है कि वह परम तत्त्व अपने मूलरूपमें मनवाणीसे अगोचर होनेपर भी प्रकटरूपमें

गोचर भी हो सकता है. अतएव ऋक्संहितामें कहा गया है **"मैं भलीभांति जान नहीं पाता कि मैं कैसा हूं, न जाने किससे ढंका हुवा मैं विचरण करता रहता हूं. फिरभी ऋतम्भरा वाणी जब कभी कानों तक पहुंचती है तो मैं यह समझ पाता हूं कि मैं उसके अंशका भोग कर रहा हूं"** (ऋक्संहि.१।१५४।३७). अर्थात् हम सचेतन ज्ञाता स्वयंको भी कहां जान पाते हैं कि हमारा वास्तविक स्वरूप कैसा है! वह तो ऋतम्भरा वाणी कभी जब हमारे कानों तक पहुंचती है, तभी हमें पता चलता है कि उस परम तत्त्वकी सत्ता चेतना और आनन्दरूपता की क्षुद्र मात्रा या भाग का ही हम भी अपनी सत्ता चेतना और आनन्द की अनुभूतिमें उपभोग कर रहे हैं! उपनिषद् भी इसी रहस्यको यों समझाते हैं : **"एक अग्नि जैसे भुवनमें प्रविष्ट हो कर उन-उन रूपोंके प्रतिरूप बन जाता है, वैसे ही एक सभी प्राणिओंका अन्तरात्मा उन-उन रूपोंके प्रतिरूप प्रकट कर बाहर भी रहता है", "इसी आनन्दकी क्षुद्र मात्राओंपर अन्य प्राणी निर्भर रहते हैं"** (कठोप.५।९, बृह.उप.४।३।३२). यों मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेदके पूर्वकाण्डगत वचनोंमें निगूढ़ रहस्यको अनावृत करते होनेके कारण ही; अर्थात् वेदके निष्कृष्ट रहस्य होनेके कारण ही, उपनिषदोंकी 'वेदान्त' संज्ञा अन्वर्थ सिद्ध होती है. अतएव वेदविहित कर्मोंके अनिवार्य अंगभूत मन्त्र, अनुष्ठेय क्रिया, उन कर्मोंके अधिष्ठाता अनेकविध देवताओंके रूप-नामोंको धारण कर आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान बनता तत्त्व और तत्प्रतिपादक अक्षर-पद-वाक्य, इन सभीका समानरूपेण वाचक एक 'ब्रह्म' पद होता है. यों ब्राह्म्यैक्यवशात् वेदचतुष्टयीके चारों मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदोंका स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता मूलतः अन्योन्यात्मक या एकात्मक होनेपर भी अवान्तरभेदकी अपेक्षाके वश अन्योन्यनिर्भर समझी जाती है.

(२.उपक्रम)

इस तरह मूलतः तो मन्त्रसंहिता ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद्

रूप चारों तरहकी शब्दराशि—वेद श्रुति आम्नाय त्रयी आगम या निगम—मानी गयी हैं. फिरभी इनमें 'वेद' 'श्रुति' 'आम्नाय' और 'त्रयी' पद यौगिक होनेके साथ-साथ अपने विशेष अर्थमें रूढ़ भी हो गये हैं, वैदिक परम्परामें. जबकि 'आगम' और 'निगम' पदोंमेंसे प्रथम पद यौगिक होनेके बावजूद, वैदिक परम्परामें भी, श्रौत शब्दराशिमें रूढ़ार्थक बन नहीं पाया. द्वितीय 'निगम' पद, जबकि, बादमें कभी रूढ़ार्थक बन गया, ऐसा प्रतीत होता है. फिरभी यह अवश्य अन्वेष्टव्य लगता है कि स्वयं वेदोंमें वेदके बारेमें कहीं 'आगम' या 'निगम' पदोंका प्रयोग हुवा है कि नहीं!

दूसरी एक समस्या यह भी विचारणीय है कि निरुक्तकार श्रीयास्क, 'आगम' और 'निगम' दोनों ही पदोंकी, वेदके अर्थमें रूढ़ि क्यों नहीं स्वीकारते?

> "इन्हें 'निघन्टुः' क्यों कहा जा रहा है? क्योंकि ये निगम हैं, छन्दोंसे समाहरण कर-करके इन्हें कहा जाता होनेसे. यों ये निगन्तु हो कर निगमन करते होनेके कारण 'निघन्टुः' कहे जाते हैं" (निघ.निरु.१।१।१).
>
> "अब आगम जिस-जिस देवताकी निरुक्ति समझाता है..." (निघ.निरु.१३।१।१३).

यहां 'आगम' और 'निगम' दोनों ही पद रूढ़िवश वेदवाचक हों ऐसा प्रतीत तो नहीं होता. क्योंकि निरुक्तविवृतिकार श्रीदुर्गाचार्य भी 'निगम' और 'आगम' दोनों पदोंका अर्थ "**'निगम'** पदमें 'नि' उपसर्ग निश्चयेन अधिक या निगूढ़ अर्थोंवाले मन्त्रोंके अर्थोंके गमक होनेसे अर्थात् बोधक होनेसे जोड़ा गया है (तत्रैव) तथा "**'आगम'** तपस्वी नैरुक्त जो गुरुमुखसे आगमन करता हो, भलीभांति श्रद्धा उपासना आदि द्वारा वह सारा निगमव्यूह" (तत्रैव) इस तरह प्रकट कर रहे

हैं. एतावता यौगिक वृत्तिद्वारा भी इन पदोंकी साक्षात् वेदार्थकता प्रकट नहीं होती. परन्तु श्रीपाणिनिने, पश्चात्, अपने वैदिकप्रक्रियापरक व्याकरणसूत्रोंमें जैसे श्रुतिके विशेष भागोंके अर्थमें 'ऋचि'(६।३।१३३) 'यजुषि' (६।१।१७) 'यजुषि-काठके'(७।४।३८) ऐसे वेदवाचक पदोंका प्रयोग किया है, वैसे ही सामान्यवाचक 'मन्त्रे'(३।२।७१), 'ब्राह्मणे' (२।३।६०) 'छन्दसि'(१।२।६१) और 'निगमे'(७।१४।७४) पदोंका भी प्रयोग किया है. वैसे महाभाष्यकारने जो ग्रन्थारम्भमें ही **"आगमः खल्वपि 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदो अध्येयो ज्ञेयः च'"** (पातं.म.भा.१।१।१) अपने इस विधानमें 'आगम' पदका प्रयोग किया है, उसके बारेमें श्रीकुमारिल भट्टका कहना है कि **"व्याकरणादि अंगोंके अध्ययनका विधान किसी भी शाखामें उपलब्ध नहीं होता"** (तन्त्रवा.१।३।२४). अतः यह दुर्बोध्य हो जाता है कि यहां महाभाष्यकारको 'आगम' पदद्वारा कोई श्रुतिवचन अभिप्रेत है कि श्रीदुर्गाचार्याभिप्रेत "'आगम' भलीभांति श्रद्धा उपासना आदि द्वारा जो तपस्वी नैरुक्त गुरुमुखसे आगमन करता हो ऐसा सारा निगमव्यूह" (तत्रैव) अर्थ अभिप्रेत है. अतएव वाक्यपदीयकारकी स्वोपज्ञतया मानी जाती वृत्तिके **"शिष्टोंकी अविच्छिन्न परम्परासे चला आता जो स्मरण उसे 'आगम' कहते हैं"** (वाक्य.पद्ध.१।२७) वचनमें भी 'आगम' पदको वेदार्थक न मान कर शिष्टपरम्परार्थक स्वीकारा गया हो ऐसा लगता है. बौद्ध कवि अश्वघोष **"बभ्राम तत्र अनियतं, न तस्थौ, चलात्मनो बुद्धिरिव आगमेषु"** (बु.च.१३।४९) ऐसा जब वर्णन करते हैं तब भी 'आगम' पद वेदरूप किसी विशेष शास्त्रका वाचक होनेके बजाय सामान्य शास्त्रोंका वाचक ही लगता है. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्यकार जैन श्रीउमास्वाति भी **"आप्तवचन आगम उपदेश ऐतिह्य आम्नाय प्रवचन जिनवचन यों अनेक पर्यायवाचक पदोंद्वारा अभिहित ज्ञान 'श्रुत' कहा जाता है"** (त.अ.सू.भा.१।२०) ऐसे विधानद्वारा स्वयं अपने जैन शास्त्रोंके पर्यायतया 'आगम' और 'आम्नाय' दोनों पदोंका अर्थ प्रतिपादित कर रहे हैं.

वैसे अमरकोशमें 'निगम' और 'नैगम' पदोंके अन्यतम अर्थतया मूलग्रन्थमें क्रमशः वेद और उपनिषद् भी अभिप्रेत माने गये हैं, ऐसा अमरकोशकी 'रामाश्रमी' नामिका व्याख्यामें कहा गया है (द्रष्ट. : अम.रामा.-३।३।१४०).

इसी तरह जैमिनिसूत्रभाष्यकार श्रीशबराचार्य जब "आर्योंमें अप्रसिद्ध **अर्थोवाले पदोंके अर्थोंको जानना हो और यदि कोई निगम निरुक्त या व्याकरण से सिद्ध इनकी अर्थवत्ता खोजना चाहे तो वह उपपन्न नहीं होती, क्योंकि म्लेच्छोंकी भाषामें इनके अर्थ प्रसिद्ध होनेसे वहांसे इनके अर्थ जाने जा सकते हैं. इस बारेमें यह एक और कठिनाई है कि निगम आदिके आधारपर इनके अर्थोंकी कल्पना करनेपर शब्दार्थ अव्यवस्थित हो जानेसे अनिश्चित हो जायेगा**" (शाब.भा.१।३।१०) इस प्रतिपादनमें 'निगम' पदको वेदसे भिन्न वेदांगके वाचकतया प्रयोग करते हैं तथा वेदके इन षडंगोंकी धर्मबोधनमें अतीव गौणता भी प्रकट कर रहे हैं. फिरभी वार्तिककार श्रीकुमारिल भट्ट "इस तरह **निरुक्त व्याकरण आदि अंगोंकी सहायता लेकर वेदाध्ययन करनेपर जो हमें कर्तव्यबोध होता है, तदनुसार अनुष्ठान करनेपर स्वर्गादिको सिद्ध कर पाये ऐसा अपूर्व सिद्ध होता है**" (तं.वा.१।३।१०) अपने इस स्पष्टीकरणद्वारा वेदांगोंकी भी धर्मबोधमें महत्ता कुछ अधिक दिखला रहे हैं. परन्तु जहां तक 'आगम' पदके अभिधेयार्थका प्रश्न है वहां श्रीकुमारिल भट्ट स्वयंके बारेमें "**मैं तो आगमप्रवण हूं अतः मेरा स्खलन भी दिखलाई देता हो तो निन्दा नहीं करनी चाहिये**" (श्लो.वा.१।१।१।७) विधान करते हैं. यहां 'आगम' पद साक्षाद् वेदका वाचक है या परम्पराधिगत वेदाभिप्रायका वाचक, इसका सन्देहरहित निर्णय दुष्कर ही लगता है. क्योंकि यदि 'आगम' साक्षाद् वैदिक शब्दराशिका वाचक हो तो बुद्ध-महावीर आदिके उपदेशोंको 'आगम' कहना असंगत हो जायेगा; जबकि स्वयं श्रीकुमारिल भट्ट "शाक्यजैनागमादयः" (तन्त्रवा.१।३।१२) कारिकामें 'शाक्यागम' और 'जैनागम' आदि पदोंका

प्रयोग सूचित तो कर ही रहे हैं.

इसके विपरीत भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य वेदादि शास्त्ररूप अर्थमें 'आगम'पदकी योगरूढि प्रकट करनेवाले प्रयोग प्रायः करते हैं :

१. "तार्किकोंने तो आगमबलका परित्याग करके... शास्त्रार्थको आकुल कर दिया है..." (ब्र.सू.शां.भा.१।४।६).

२. "ब्रह्मको तो आचार्योंकी उपदेशपरम्पराके आधारपर समझनेका प्रयास करना चाहिये तर्कद्वारा नहीं" (केन.उप.शां.भा.१।३).

३. "अतः आत्मोपदेशकी तो शास्त्रोंमे दिखलायी गयी विधिसे अतिरिक्त कोई विधि होती ही नहीं" (ऐत.उप.शां.भा.२।१।११).

४. "अतएव आगमगम्य अर्थके बारेमें केवल तर्कद्वारा आपत्ति प्रस्तुत नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पुरुषोंके द्वारा उत्प्रेक्षित निरागम तर्क अप्रतिष्ठित होते हैं... यह तो ऐसा अतिगम्भीर भावयाथात्म्य है कि आगमके बिना तो इसके बारेमें उत्प्रेक्षा भी की नहीं जा सकती" (ब्र.सू.शां.भा.२।१।-११).

५. "रूप आदिके अभावके कारण इसे प्रत्यक्षसे जाना नहीं जा सकता, हेतु या लिंग के अभावके कारण अनुमान आदिद्वारा भी जाना नहीं जा सकता, यह केवल आगमके सहारे ही जाना जा सके ऐसा अर्थ है, धर्मकी तरह" (ब्र.सू.शा.भा.२।१।६).

इन वचनोंमेंसे प्रथम तीनों वचनोंको इतरेतरान्वित कर तात्पर्यमीमांसा करनेपर 'शास्त्र', 'आचार्योपदेशपरम्परा' और 'शास्त्रोपदेश' यों तीनों ही पद ब्रह्मबोधक प्रमाणतया एकार्थबोधक प्रतीत होते हैं. क्योंकि

अगले चतुर्थ वचनमें इतरेतरपर्यायतया प्रयुक्त 'आगम' और 'निगम' पदोंके द्वारा अभिप्रेतार्थकी विवक्षा ही यहां स्वीकारनी पड़ेगी. पांचवे वचनमें भाष्यकार यद्यपि यज्ञादि कर्म और ब्रह्मज्ञान का समुच्चय स्वीकारते नहीं तबभी धर्म और ब्रह्म दोनोंको 'आगममात्रसमधिगम्य' कह कर वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंके समुच्चयके बारेमें अपनी अभिमति भी प्रकट कर रहे हैं. यह "शास्त्रयोनित्वात्" ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें "महान् ऋग्वेद आदि अनेक विद्यास्थानोंद्वारा उपबृंहित... अथवा ऐसे ऋग्वेद आदि शास्त्र इस ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ बोध प्राप्त करनेमें प्रमाण बनते हैं. शास्त्रोंके प्रमाणके आधारपर ही जगत्के जन्म आदिका कारण ब्रह्म जाना जाता है" (ब्र.सू.शां.भा.१।१।३) इस वचनके आधारपर भी स्पष्ट है. श्रुति स्मृति सूत्र पुराण आदि अनेक शास्त्रोंके आधारपर ब्रह्मसिद्धि शक्य मानी गयी है.

श्रीवेदान्तदेशिकविरचित शतदूषणीके ४३ वें वादमें श्रीयादवप्रकाशकी शांकर वेदान्तके बारेमें कही जाती उक्तिमें, परन्तु, 'आगम' पदको अवैदिक ग्रन्थोंके बारेमें प्रयुक्त होता हम पाते हैं "वेदो अनृतो बौद्धकृतागमो अनृतः... यूयञ्च बौद्धाश्च समानसंसदाः" . इसी तरह परवर्तिकालमें न्यायमञ्जरीकार श्रीजयन्त भट्टद्वारा रचित *आगमाडम्बर* रूपकमें भी 'आगम' पद वैदिक शास्त्रमें अपनी रूढ़िके शिथिल हो जानेके कारण सकल वैदिकावैदिक शास्त्रोंके अभिप्रायवश भी प्रयुक्त हुवा है :

> "नानाविध आगमोंके द्वारा दिखलाये गये मार्गोंके प्रभेदवश अनेक उपाय उपदिष्ट होते हैं. वे सभी किसी एक श्रेयका सम्पादनमें पर्यवसित होते हैं, जैसे सारी नदियां समुद्रमें पर्यवसित होती हैं. वह एकाकी सकल प्राणियोंके हितकेलिये अपनी इच्छाके अनुरूप अनेकविध काया धारण कर नाना आगमोंका उपदेश समस्त भुवनोंमें प्रसिद्ध विविध समाख्या धारण करके करता है. उसे

'शिव' 'पशुपति' 'कपिल' 'विष्णु' 'संकर्षण' 'जिनमुनि' 'सुगत' या 'मनु' कहो ये सारे प्रभेद संज्ञाओंके हैं. रूपोंके प्रभेद भी मानने हो तो माने जा सकते हैं. परन्तु अव्याकृत परमात्माके स्वरूपमें किसी तरहका भेद सोचा नहीं जा सकता'' (आ.ड.४।४४-५७).

ईसाकी नौवीं-दसवीं शतीके बीच हुवे जैन राजनीतिसूत्रकार सोमदेव 'त्रयीसमुद्देश' नामक प्रकरणमें, वर्णाश्रमाचारसे जुड़ी धर्माधर्मव्यवस्थाको चौदह विद्यास्थानोंपर निर्भर मानते हैं. इन विद्यास्थानोंमें—चारों वेद शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्यौतिष इतिहास पुराण न्याय मीमांसा—शास्त्रोंकी परिगणना करते हैं. न केवल इतना प्रत्युत यह स्पष्टीकरण और देते हैं कि वैदिक अभिप्रायोंके संग्राहक होनेके कारण धर्मशास्त्रोंको और स्मृतिओंको वेदरूप ही जानना चाहिये (द्रष्ट.सो.नी.सू.७।१-४). फिरभी विचारसमुद्देश नामक प्रकरणमें '''आगम' यानि आप्तोपदेश, स्वयं अनुभूत अनुमित श्रुत अर्थोंके साथ जिस पुरुषके वचन अविसंवादी हों उसे 'आप्त' कहा जाता है'' (सो.नी.सू.१५।१४-१५) इस वचनमें 'आगम' पदका सर्वथा व्यापक अभिप्राय निरूपित करते हैं. अन्तमें धरणीकोशके अनुसार ''निगमः कथितो वेदे... आगमो मूलशास्त्रे'' (धर.को.मान्तवर्गे १७६४६-१७७०) 'निगम' और 'आगम' पद विभिन्नार्थबोधक बने गये ऐसा स्पष्टतया जाना जा सकता है.

(४) अतः कब 'निगम' पद श्रौत शब्दराशिका वाचक बना और कब 'आगम' पद शैव पाशुपत शाक्त वैष्णव जैन या बौद्ध तन्त्रोंका वाचक बना, यह इतिहास भी अन्वेष्टव्य लगता है. अस्तु. भगवत्पाद श्रीमध्वाचार्यद्वारा संकेतित ''ऋक् यजुः साम अथर्व और महाभारत पञ्चरात्र मूल रामायण भी इतने 'सदागमा' माने जाते हैं. जो इनके अनुकूल हों ऐसे वचन भी सदागम होते हैं. अन्य आगमोंको तो दुरागम ही मानना चाहिये क्योंकि उनके आधारपर कुछभी सिद्ध नहीं

होता'' (कथालक्ष.१०।११) यह वैष्णवी अर्थदिशा ही यहां हमें अनुसरणीय लगती है. क्योंकि यही महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको भी अभिप्रेत प्रतीत होती है, ऐसा इस आलेखपत्रमें यथावसर प्रतिपादन करना अभीष्ट है. अतः इस विषयके विस्तारमें अधिक भटके बिना 'निगम' पदको वेदवाचक मान कर तथा 'आगम' पदको वेदांगभूत अविच्छिन्नपरम्पराधिगत वेदाविरोधि शास्त्रोंका वाचक मान कर तुलनात्मक स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता के विमर्शहेतु प्रवृत्त होना अधिक प्रसंगोपात्त होगा. अस्तु.

(३.श्रौत शब्दराशिका स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता)

यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि केवल संहिताओंको या केवल उपनिषदोंको श्रुति माननेका हठाग्रह आर्ष परम्परा नहीं प्रत्युत इन्हें यथाकथञ्चित् या तो अप्रमाण ही सिद्ध करनेकी; अथवा तो ''सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः'' वाली चतुराईभरी, अनार्ष मनोग्रन्थि है. एतावता यह सिद्ध होता है कि किसी भी एक शास्त्रके प्रामाण्यकी परिधिमें वैदिक या श्रौत रहस्यको ऐकान्तिकतया परिसीमित नहीं माना जा सकता. यह महर्षि जैमिनिके सूत्रोंमें धर्मके प्रमाणतया मन्त्रब्राह्मण भागको पुरस्कृत किये बिना ''चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'' (जैमि.सू.१।१।२) ऐसे सामान्य अभिधानके आधारपरभी स्पष्ट होता माना जा सकता है. यहां 'चोदना' पद केवल श्रौत विधि अथवा स्मार्त सौत्र पौराणिक आदि विधिका भी संग्राहक है या नहीं, इस विवादमें भाष्यकार श्रीशबराचार्य **''शब्दके विज्ञानद्वारा असंनिकृष्ट अर्थोंका विज्ञान शास्त्र होता है''** (जैमि.शाब.भा.१।१।५) इस निरूपणमें कदाचित् श्रौत शाब्दिक आदेशको ही धर्मप्रमापक मानना चाहेंगे. वार्तिककार श्रीकुमारिल भट्ट, परन्तु, **'''चोदना' शब्द वैदिक वाग्व्यवहारमें प्रयुक्त होता है, 'शब्दज्ञान' और 'अर्थविज्ञान' शब्द भी प्रस्तुत शास्त्रमें वैदिक सन्दर्भमें ही प्रयोज्य होते हैं''** (श्लो.वा.श.प.१३) ऐसा प्रतिपादन करनेके बावजूद उनके पूर्वोदाहृत वचन (तं.वा.१।३।१०) के आधारपर वेदोंके अंगोपांगभूत शास्त्रोंकी उपयोगिताको गौण सिद्ध करना नहीं चाहेंगे.

ब्रह्मसूत्रकार भी अतएव ब्रह्मजिज्ञासामें जिज्ञास्य ब्रह्मके प्रमाणके निरूपणार्थ 'उपनिषद्योनित्वात्' न कह कर "**शास्त्रयोनित्वात्**" (ब्र.सू.१।१।२/३) कहते हैं.

अतएव भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य और महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य दोनों ही, अन्यथा अनेक विषयोंमें परस्पर अनेकविध मतभेदके बावजूद, इस विषयमें एकमत हैं कि श्रुत्येकगोचर ब्रह्मके बारेमें प्राथमिक बोध श्रुतिनिर्भर होनेपर भी श्रुतीतर प्रमाणोंसे भी उस ब्रह्मसे सम्बद्ध अनेकानेक गौणमुख्य तथ्योंका ज्ञान मिलता ही है.[३]

सम्प्रति पाश्चात्य विचाररीतिके प्रबल प्रभाववश आधुनिक आलोचकोंका दृष्टिकोण तो श्रौत ग्रन्थों, नामशः संहिता ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों, के बीच भी कालभेद स्थलभेद और ऋषिभेद की धारणासे ग्रस्त होनेके कारण एकवाक्यता आवश्यक नहीं मानता. इसके विपरीत भारतके पूर्वाचार्य "**एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति**" (ऋक्संहि.१।१६४।६४) इस वैदिक आदर्शसे अनुप्रेरित होनेके कारण इन भेदोंके तिलका ताड़ बनाये बिना अपनी समन्वयवादी मनोवृत्तिके अनुरूप श्रौत स्मार्त पौराणिक ऐतिहासिक तान्त्रागमिक ही नहीं प्रत्युत इन शास्त्रोंके व्याख्यानुव्याख्यानोंका भी ब्रह्मावगतिमें महत्त्वपूर्ण प्रामाण्य तथा एकवाक्यता खोजना अपना पुनीत कर्तव्य मान कर चले हैं. अतएव वेदोंकी संहिताओंमें उपलब्ध होते प्रयोगके अनुरोधवश मूलतः 'ब्रह्म' पदको कर्मार्थिक स्वीकारें या कर्मबोधक वेदार्थक, किसी भी सूरतमें, तैत्तिरीयारण्यकके स्वाध्यायब्राह्मणमें उपलब्ध होते ये वचन नितान्त अवधेय बनते हैं कि "**जो स्वाध्यायका अध्ययन करता है, एकभी ऋचा यजु या साम के मन्त्रोंका उसके कारण ब्रह्मयज्ञ अनुष्ठित हो जाता है... जो ब्राह्मणोंका इतिहासोंका पुराणोंका कल्पोंका गाथाओंका वह देवोंको तृप्त कर देता है. वे तृप्त हो कर इसे आयुष तेज वर्चस् श्री यश ब्रह्मवर्चस् भोज्य अन्नसे तृप्त करते हैं**" (तैत्ति.आर.२।१०). अर्थात् श्रौत स्वाध्यायके अन्तर्गत

ही इन अन्यान्य ग्रन्थोंका भी पठन-आवर्तन मान्य था. हम देख सकते हैं कि ऋग्यजुस्सामत्रयीसे इन्हें पृथक् माननेपर भी 'ब्रह्म'पदके द्वारा अभिप्रेत अर्थका परामर्श करनेवाले 'स्व'पदकी अर्थपरिधिसे इन अन्यान्य शास्त्रोंको बहिर्भूत नहीं माना गया है.

शंका की जा सकती है कि यहां निर्दिष्ट इन पुराणों और इतिहासों को वेदत्रयीके ही अन्तर्गत आते कोई विषेश निरूपण मान कर, वर्तमानमें 'इतिहास-पुराण' नाम्ना प्रसिद्ध ग्रन्थोंसे पृथक् क्यों न माना जाये? परन्तु वेदान्तर्गत माननेका ऐसा आग्रह रखनेपर तो उपनिषदोंमें "ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद चौथा अथर्ववेद, इतिहास और पुराण वेदोंके भी पांचवें वेद, ... एकायनशास्त्र देवविद्या ब्रह्मविद्या..." (छान्दो.उप.७।१।४) इस वचनमें इतिहास-पुराणको 'पांचवें वेद' जो कहा गया है, वह कथन संगत नहीं हो पायेगा. अतः इन इतिहास-पुराणके पृथक् होनेपर भी वेदोपम होने अथवा वेदोंके प्रमुख अंग या उपांग होनेकी धारणा स्वयं आर्ष अभिमति थी. अतएव उपनिषदोंमें जहां पूर्वकाण्डकी गरिमाका गौणतया निरूपण आभासित होता है, यथा :

> "दो तरहकी विद्या जाननी चाहिये ऐसा जो वेदविद् आवश्यक मानते हैं कि एक परा विद्या होती है दूसरी अपरा विद्या. इनमें ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्दःशास्त्र ज्यौतिष अपरा विद्या हैं. जिस विद्याके कारण उस अक्षर तत्त्वका ज्ञान होता है वह परा विद्या होती है, वह जो अद्रेश्य अग्राह्य होता है... नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म वह अव्यय सभीका कारणरूप... जैसे मकड़ी अपना जाला उगलती है और पुनः निगल जाती है, जैसे पृथिवीमें ओषधि उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुषमें केश रोम आदि उत्पन्न होते हैं; ऐसे ही अक्षरसे सारा विश्व प्रकट होता है... ऐसा

यह ब्रह्म नाम रूप अन्न बनता है'' (मुण्ड.उप.१।१।४-९).

इस वचनमें प्रकट हुवे कुछ उल्लेखनीय तथ्योंपर ध्यान देना आवश्यक लगता है :

१.वेदके पूर्वकाण्डको 'अपरा-विद्या' तथा अक्षरब्रह्मात्मक रहस्यका उपदेश करनेवाली औपनिषद विद्याओंको 'परा-विद्या' कहा गया है. एतावता पूर्वकाण्डकी गौणता तथा उत्तरकाण्डीय उपनिषदोंका वेदोंसे पार्थक्य भी आभासित होता है. ऐसी स्थितिमें युक्तिवाद खड़ा किया जा सकता है कि स्वयं उपनिषदोंको भी अपनी अवेदात्मकता अभिप्रेत होगी. उपनिषदोंको, अतः, परवर्ती व्याख्याकारोंने यथाकथञ्चित् वेदतया प्रचारित कर दिया होगा, परम्परामान्य प्रामाण्यके लाभार्थ. यह, परन्तु, असमीक्षित प्रतिपादन है; क्योंकि, स्वयं पूर्वकाण्डीय ऋक्संहिता स्वयं भी इसी अक्षर(ब्रह्म)के परिज्ञानके बिना अपरा विद्यारूप ऋचाओंकी व्यर्थताका घण्टाघोष कर ही रही है : ''**ऋचाके उस परम व्योमरूप अक्षरमें कि जहां सभी देव रहते हैं. जो उसे नहीं जानता वह केवल ऋचाद्वारा क्या कर पायेगा?...**'' (ऋक्संहि.१।१६-४।३९). वस्तुतः तो प्रस्तुत मुण्डकोपनिषद् इसी ऋचाके रहस्यका उपदेश कर रहा है, ऐसा कहना भी सर्वथा उपपन्न ही है. अतएव उपनिषद्में परापरविद्याके प्रभेदवश ध्वनित होती निन्दा भी तथाकथित अपरा-विद्याके 'ब्रह्मविद्' मन्त्रद्रष्टा ऋषिओंद्वारा की गयी आत्मनिन्दाकी ही पराविद्यारूप उपनिषद्के द्रष्टा ऋषिओंद्वारा की गयी व्याख्या है!

२.क्षराक्षरके प्रभेदके बारेमें भी किञ्चित् धैर्यपूर्वक दोनों वचनोंका अनुशीलन करनेपर, यह भी प्रकट होता

ही है कि अन्नोपजीवी प्राणीके मनो-वाक्-चक्षु आदिसे ग्राह्य क्षर जगत् स्वयं उसी अभिन्ननिमित्तोपादानरूप अक्षर तत्त्वसे प्रकट हुवा है, उसीमें अवस्थित है और पुनः उसीमें लीन होनेवाला है. अतः क्षर अक्षरका ही नामान्तर रूपान्तर और कर्मान्तर है. क्योंकि वह स्वयं नाम-रूप और अन्न बना है. अतः नाम रूप और उत्पत्त्यादि षड्विक्रियाओंसे विवर्जित वह स्वयं यदि इस तरह प्रकट हुवा माना गया है. अतएव इनका तो परिज्ञान अन्नोपजीवी मर्त्य प्राणीके मनोवाक्चक्षु आदि इन्द्रियोंसे पूर्वसिद्ध है ही. अतएव इनके निरूपणमें मन्त्र-ब्राह्मण या उपनिषद् के वचनोंका प्रामाण्य अनधिगतार्थज्ञापक हो नहीं पाता. इसी कारण उसे 'अपरा-विद्या' कहा जाता है. लोकसिद्ध प्रमाणोंसे अग्राह्य नाम-रूपातीत ब्रह्म मन्त्र-ब्राह्मण-उपनिषद्के जिन वचनोंसे गृहीत होता हो उन वचनोंका परा-विद्या होना भी स्तुति या निन्दा रूप न हो कर प्रामाण्यव्यवस्थाकी ही पूर्वोत्तर संकल्पनाके रूपमें मान्य रखना चाहिये.

अतएव जैसे पूर्वकाण्डीय प्रतिपादनमें स्वयं पूर्वकाण्डीय प्रामाण्यकी गौणता निर्दिष्ट हुयी है, ठीक वैसे ही उत्तरकाण्डीय ''जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे अन्धतममें प्रविष्ट होते हैं, किन्तु जो केवल विद्यामें ही निरत रहते हैं वे तो उससे भी अधिकतर तममें प्रविष्ट होते हैं. वह तो विद्यासे भी अन्य होता है और अविद्यासे भी अन्य होता है, ऐसा उसका प्रतिपादन करनेवाले धीर पुरुषोंसे सुना है. जो विद्या और अविद्या दोनोंके एक साथ जानता है, वह अविद्याद्वारा मृत्युको तैर कर विद्याके द्वारा अमृतको पा लेता है'' (ईश.उप.९-११) इस प्रतिपादनमें विद्यानिन्दा भी उपलब्ध होती ही है. अतएव वेदके पूर्वकाण्डकी मीमांसाके हेतु प्रवृत्त जैमिनिसूत्रोंमें महर्षि बादरायणको भी हम सहभागी पाते हैं, जैसे वेदके उत्तरकाण्डकी मीमांसाके हेतु प्रवृत्त

बादरायणसूत्रोंमें महर्षि जैमिनिके सहभागी होनेके अनेकत्र उल्लेख हैं.

यों 'ब्रह्म' पद जैसे क्षयिष्णु कर्मोंके अर्थमें प्रयुक्त हुवा और क्षयिष्णु नामोंके अर्थमें भी, वैसे ही अविनाशी अक्षरब्रह्मके अर्थमें भी प्रयुक्त हुवा है. अतः 'ब्रह्म' पदके इन उक्त त्रिविध अर्थोंको हम भगवद्गीताके "अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, वह अन्न उत्पन्न होता है पर्जन्यसे, वह पर्जन्य उत्पन्न होता है यज्ञसे, यज्ञ कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा उत्पन्न होता है, कर्म ब्रह्म (वेदके शब्द)से उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म अक्षरसे प्रकट होता है. अतः सर्वगत ब्रह्म यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित रहता है" (भग.गीता.३।१४-१५) इस वचनमें भी प्रतिपादित देख सकते हैं.

वैसे वेदनिन्दा खोजनी ही हो तो भगवद्गीताके भी "वेद तो सारे प्रकृतिकी गुणत्रयीके अनुरूप अधिकारीको लक्ष्यमें रख कर विधि-निषेध करते हैं तुम्हें तो इन तीनों गुणोंसे ऊपर उठना चाहिये...", "वेदोंके सहारे मुझे इस तरह न तो जाना या न देखा जा सकता है" (भग.गीता.२।४५,११।५३) इन वचनोंमें खोजी जा सकती है. परन्तु "सारे वेदोंके द्वारा मेरा ही प्रतिपादन होता है ... क्योंकि मैं क्षर वस्तुओंसे अतीत हूं और अक्षरसे भी उत्तम हूं; अतः लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तमतया प्रसिद्ध हूं" (भग.गीता.१५।१५-१८) इस उत्तरवर्ती वचनमें, परब्रह्मको निखिल वेदोंका प्रतिपाद्य-विषय मान लिया गया है, उसके आधारपर यह पूछा जा सकता है कि क्या भगवान् अर्जुनको अभागवत या अभगवदीय होनेकी बात 'निस्त्रैगुण्यो' पदके प्रयोगद्वारा समझाना चाहते हैं? ऐसा इसलिये माना नहीं जा सकता, क्योंकि इससे पूर्व ही यह भी कहा जा चुका है कि "जो सात्त्विक राजस या तामस भाव हैं वे सभी मेरे ही कारण होते हैं... इन तीन गुणोंके भावोंसे सारा जगत् मोहित होनेसे मुझे इनसे परे अव्ययरूपमें जान नहीं पाता. यह मेरी गुणमयी माया दुस्तर है फिरभी जो मेरी

प्रपत्ति स्वीकारते हैं वे इसे पार कर जाते हैं'' (भग.गीता.७।१२-१४). अतः भगवद्गीतामें वदतोव्याघात खोजनेका दुराग्रह न हो तो मीमांस्य संगतिके हेतु सन्दर्भमीमांसा कर्तव्य बनती है. ऐसे ही वेद और वेदान्त के बीच भी निरर्थक शास्त्रभेदकी अवधारणा बांध कर ऐसी वदतोव्याहतिके तिलको ताड़ बना कर नहीं उभारना चाहिये. वैसे कई आधुनिक आलोचक अब भगवद्गीताको भी एकग्रन्थ नहीं मानते. उन्हें लगता है कि मूलतः शतश्लोकात्मिका भगवद्गीता महाभारतमें प्रक्षिप्त हुयी होगी, जिसमें निरन्तर प्रक्षेप होते रहनेके कारण बढ़ते-बढ़ते बादमें वह कभी अट्ठारह अध्यायोंवाली बन गयी होगी! ऐसी धारणा भी प्रचारित करते हैं. स्वयं अपने बारेमें **''निगमरूप कल्पतरुके पके फल''** (भाग.पुरा.१।१।३) होनेके उल्लेखके बावजूद, महर्षि वेदव्यासने वेद अग्नि आदिका व्रतपूर्वक धारण करनेपर भी सन्तोष न होनेके कारण भगवल्लीलाके समाधिद्वारा दर्शन कर भागवतको प्रकट करनेका उल्लेख भी भागवतके प्रथमस्कन्धके चौथे-पांचवें आध्यायोंमें किया गया है. परन्तु ऐसे विरोधाभासके समाधानतया भागवतमें ही यह भी पूछा गया है कि भगवल्लीलारूप जगत्में गुणदोषोंवाली भेददृष्टि निगमप्रयुक्त होती हो तो वही निगम भेददृष्टिकी निन्दा क्यों करता है? (द्रष्ट. : भाग.पुरा.११।२०।५).

इस विवादमें विचारनीतिके निर्धारणार्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका एक महत्त्वपूर्ण उद्गार यहां मननीय बन जाता है. यथा—

> **''ब्रह्मरूप जगत्को जानना चाहिये ब्रह्म जगत्से अतिरिक्त भी कुछ होता अतः जगत्में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये. किसी भी एक पदार्थमें भगवान् अपनी सारी लीलाओंके सहित विद्यमान रहते हैं अतः देश-काल-वस्तु रूपी होनेपर भी वे देश-काल-वस्तुसे अतिरिक्त भी कुछ होते है''** (भाग.सुबो.२।९।३५).

अर्थात् इस तरहके विरोधाभासी प्रतिपादनोंका तात्पर्य जगत्की ब्रह्मरूपता निरूपित करनेके साथ ही साथ इस ऐसे ब्रह्मोपदेशका प्रयोजन जगदात्मना अंशतो परिणत ब्रह्मके बजाय स्वयं अंशीरूप ब्रह्मके प्रति अभिमुख करना है. ऐसी एकवाक्यताकी चौखटमें इस सारे प्रतिपाद्य-विषयको निहारनेपर महर्षि बादरायणके "शास्त्रयोनित्वात्" पदप्रयोगका प्रयोजन भी कुछ स्पष्ट हो पाता है.

आधुनिक कई आलोचकोंको एक और निर्मूल धारणा अत्यधिक परेशान करती रहती है कि भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने, क्योंकि, दस उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्यप्रणयन किया, एतावता प्रस्थानत्रयीको ही ब्रह्मरूप प्रतिपाद्य-विषयके बारेमें प्रमाण मानना चाहिये. अन्य पुराण आदिको नहीं! वास्तविकता जबकि यह है कि श्रीशंकराचार्यकी उपजीव्य तथाकथित प्रस्थानत्रयी अपने अलावा अन्य भी वेदोंकी अंगोपांगादिरूप शब्दराशिको प्रमाण मान कर चली है. यह स्वाध्यायब्राह्मणके वचनके आधारपर ही नहीं प्रत्युत भगवद्गीताके भी—

> "इस वैवस्वत योगका उपदेश मैं पहले भी दे चुका हूं... इसे अनेक राजर्षिओंने भलीभांति जाना-माना" (भग.गीता.४।१-२)
>
> "ऋषिओंने बहुत प्रकारसे कहा है, विविध छन्दोंमें भी पृथक्पृथक रीतिसे कहा गया है. हेतु दरसानेवाले ब्रह्मसूत्रपदोंमें भी विनिश्चित किया गया है" (भग.गीता.१३-।४).
>
> "सभी वेदोंमें मेरे ही बारेमें ज्ञानोपदेश किया गया है" (भग.गीता.१५।१५).

अर्थात् वैवस्वत योगकी कोई मौखिक परम्पराको आधार बना कर भी भगवान् अर्जुनको प्रस्तुत गीतोपदेश कर रहे हैं. इसी तरह

सकल वेदोंमें प्रतिपाद्य विषय, आपाततः अनेकविध मन्त्र, यज्ञादि-कर्मविधि, उपासना और प्रकट सकल नाम-रूप-कर्मोंकी ब्रह्मोपादानकताके प्रभेदोंमें पृथक्पृथक् अवभासित होनेपरभी किसी एक ही तत्त्वका अनेकरूपोंमें प्रतिपादन है.

इसी तरह बादरायण महर्षिद्वारा विरचित ब्रह्मसूत्रोंमें भी, शांकर भास्कर रामानुज माध्व आदि भाष्योंके अनुसार, अधोनिर्दिष्ट सूत्रोंके सदृश अनेक सूत्रोंमें 'स्मृति' पदद्वारा भगवद्गीतेतर पुराणोंको भी अभिप्रेत माना ही गया है :

शांकर भाष्यमें : २।३।४७, ३।१।१४ तथा ४।२।१४.
भास्करभाष्यमें : २।३।४७, ३।१।१५ तथा ४।२।१४.
रामानुजभाष्यमें : २।३।४६, ३।१।१५ तथा ४।२।१३.
माध्वभाष्यमें : २।३।४७, ३।१।२० तथा ४।२।१४.

अतः केवल प्रस्थानत्रयीपर, क्योंकि शांकर भाष्य उपलब्ध होता है, अथवा किसी प्रयोजनविशेषके कारण तीन ग्रन्थोंपर ही भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने भाष्य प्रकट किये, केवल इतने क्षुद्र आधारपर तथाकथित प्रस्थानत्रयीको भी जिन शास्त्रोंका स्वसमान प्रामाण्य अभिप्रेत हो उन्हें अप्रमाण या गौण नहीं माना जा सकता है. आधुनिक आलोचक इसे निगमागमोंके बारेमें तर्कहीन श्रद्धा भी मान सकते हैं. प्रश्न परन्तु तर्कोपपन्न श्रद्धा या तर्कहीन श्रद्धा का नहीं प्रत्युत स्वयं इन शास्त्रोंको अपने अभिप्रायाविष्करणमें किन-किन अन्य शास्त्रोंकी संगतिका निर्धारण अवश्यानुष्ठेय मीमांसाकर्म लगता है, उसका है.

उसे समझना हो तो महर्षि यास्ककी ये पंक्तियां मुझे अतीव मननीय लगती हैं :

"मन्त्रोंका पृथक्तया निर्वचन नहीं करना चाहिये.

प्रकरणशः निर्वचन करना चाहिये ("मन्त्रोंके प्रकरण होते हैं : यागप्रकरण देवतप्रकरण अध्यात्मप्रकरण और इतिहासप्रकरण" : ऋज्वर्थव्याख्या) क्योंकि इन मन्त्रोंका प्रत्यक्ष ज्ञान ऋषिओं या तपस्विओं के अलावा अन्य किसीको नहीं होता है. परोवर्यवेत्ताओंमें भी जो वस्तुतः भूयसी विद्यावाले होते हैं वेही प्रशस्य होते हैं...ऋषिओंको उत्क्रमण करते देख कर मनुष्योंने देवोंसे पूछा—कौन अब हमारे बीच ऋषि बन पायेगा?—उन देवताओंने यह तर्करूप ऋषि मनुष्योंको सोंपा! मन्त्रार्थोंके चिन्तनद्वारा अभ्यूह या अभ्यूह्ळ कर पानेको मनुष्यको समर्थ बनाया गया है. अतः जो कुछ वेदवेत्ता अभ्यूह करते हैं वह आर्ष बन जाता है" (निघ.निरु.१३।१।१३).

अर्थात् अपनी दिव्य समाधि द्वारा मन्त्रदर्शन कर पानेवाले ऋषियोंके युगके बीत जानेपर भी देवताओंने मन्त्रार्थके ऊह या तर्क कर पानेकी आर्ष सामर्थ्य मनुष्योंके बीच छोड़ रख्खी है. अतएव स्वयं ऋग्वेदमें भी यह कहा गया है "हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः. अत्र अह त्वं विजहुः वेद्याभिः, ओहब्रह्माणो विचरन्ति उ त्वे" (ऋक्संहि.८।२।२४). अर्थात् मन्त्रार्थके ऊह करनेमें असमर्थ ऋत्विक्का त्याग करके, *ओहब्रह्म* ऋत्विजोंको अपने साथ रखे रखना चाहिये. इस ऋचामें प्रयुक्त 'ओहब्रह्म' पदकी निरुक्तिमें कहा गया है "'ओहब्रह्म'=ऊह जिनका ब्रह्म हो" (निघ.निरु.१३।१।१३).अतएव मनुस्मृतिमें भी "प्रत्यक्ष अनुमान और विविधागमवाला शास्त्र यों तीनोंको भलीभांति जान लेना चाहिये, यदि धर्मशुद्धि अभिलषित हो तो. आर्ष धर्मोपदेश और वेदशास्त्रोंसे अविरोधी जो तर्क हो इनसे जो जाना जाये ऐसे कर्मको ही सच्चा धर्म समझना अन्यको नहीं... वेदोंमें अनुपदिष्टधर्म सत्यधर्म कैसे हो सकता है? ऐसी आशंका होनेपर जिसे वेदज्ञ शिष्ट ब्राह्मण धर्म मानें उसे निःशंक हो कर अनुसरना चाहिये. जिन्होंने अंग-उपांगोंके साथ वेदोंका अध्ययन धर्मपूर्वक किया हो उन्हें

शिष्ट ब्राह्मण जानने चाहिये'' (मनुस्मृ.१२।१०५-१०९). अर्थात् वैदिक शास्त्रीय विषय अपने इदंभावांशमें सुपरिभाषिततया परिच्छिन्न होनेपरभी इत्थंभावांशमें उन्हें अपरिभाषार्ह अपरिच्छिन्नतया मान्य रखा गया है, स्वयं मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् वेदांग स्मृति पुराण और इतिहास आदि शास्त्रीय शब्दराशिका विषय मान कर!

अतएव संहिताओंमें 'ब्रह्म' पद **''ब्रह्माणि मे मतयः'', ''ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्तः''** (ऋक्संहि.१।१६५।४, ५।३।२४) कर्म या तत्प्रतिपादक शब्दराशिका वाचक था. वही 'ब्रह्म' पद **''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति''** (ऋक्संहि.१।१६४।४६) जैसे संहितावचनोंमें निरूपित 'सद्' रूप अर्थका वाचक उपनिषद्वचनोंमें बन गया. यथा : **'' 'ॐ' यह एक अक्षर है, जिसके व्याख्यानतया सब उपदिष्ट हुवा है, भूतकालीन वर्तमानकालीन और भविष्यत्कालीन जोभी हो. इनके अलावा भी जो कुछ त्रिकालातीत है उसेभी ॐकार जानों. क्योंकि यह सब कुछ ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है''** (माण्डु.उप.१).

इन इतरेतरविरुद्ध नाम-रूप-कर्मोंकी मौलिक एकताको केवल दृश्यमीमांसामें परिच्छिन्न माननेके बजाय दर्शनमीमांसा तक अनुवृत्त मानें तो श्रीगौडपादाचार्यकी तर्ज़पर उनकी कारिकामें थोड़े-बहोत हैरफैरके साथ यह कहनेको हृदय उत्सुक हो जाता है कि **''स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिताः दृढं तेषाम् इह विरोधो अस्ति. तैः इयं (एकात्मकता) न विरुद्ध्यते''** (द्रष्ट.माण्डु.कारि.३।१७).

इस तरह वैदिक आर्ष परम्परामें मान्य चतुर्दशविद्यास्थानरूप शास्त्रोंका इतरेतरनिर्भर स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता की रूपरेखा देख लेनेके बाद इस बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी विशेष अवधारणाके विमर्शार्थ अग्रसर हुवा जा सकता है.

(४.श्रौत शास्त्रोंका स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता के बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी अवधारणा)

सर्वप्रथम तो वाल्लभ वेदान्तमें वेद और वेदेतर शास्त्रोंकी ही शब्दराशिको नहीं अपितु लौकिक शब्दराशिको भी एकमेवाद्वितीय ब्रह्मका अप्राकृत या प्राकृत नामात्मक विस्तार माना गया है ''भगवान् कृष्ण वस्तुतः अद्‌भुतकर्मा हैं. वे स्वयं अनेक नाम-रूप धारण कर क्रीड़ा करते हैं, वे जगत्‌के रूपमें अनेक नाम-रूप धारण कर भी क्रीड़ा करते हैं, इसी तरह उन्हें अधिष्ठान बना कर अनेक नाम-रूप क्रीड़ा करते हैं'' (त.दी.नि.१।१). इन त्रिविध प्रकारोंकी नाम-रूप-कर्मत्रयीमें एक, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके सदंश चिदंश या आनन्दांश के तिरोभाव बिना, प्रकट होती है. दूसरी तरहकी नाम-रूप-कर्मत्रयी आनन्दांशको तिरोहित करके प्रकट होती है, सदात्मक या चिदात्मक. तीसरी तरहकी नाम-रूप-कर्मत्रयी बाह्यभूत सदंशमें प्रकट हुवे बिना केवल चिद्रूप अधिष्ठानमें बाह्यतया भासित होती है.

यों त्रिविध सृष्टिके प्रकारोंके अन्तर्गत द्वितीय प्रकारके रूपप्रपञ्च और नामप्रपञ्च का तुलनात्मक स्वरूप महाप्रभु यों दिखलाते हैं :

> ''भगवान् अपने पांच रूपोंके द्वारा रूपप्रपञ्चके कर्ता बनते हैं : काल कर्म स्वभाव त्रिगुणात्मिका प्रकृति और अक्षरांशभूत पुरुषसमष्टि. नामप्रपञ्चमें, किन्तु, इन पांच रूपोंकी अपेक्षा नहीं रखते. अपञ्चीकृतरूप आसन्य सूत्रात्मा हरि स्वयं सुषुम्णामार्गके द्वारा व्यक्त हो कर शब्दब्रह्मके रूपमें प्रकाशित होते हैं... वर्ण पद तथा वाक्य ये भगवान्‌के तीन नामात्मक रूप माने गये हैं. लोकमें वर्ण और पद अविकृत होते है किन्तु वेदमें तो तीनों ही वर्ण पद और वाक्य श्रीहरिके स्वयंधारित रूप हैं. वर्ण हों या पद मूलमें तो सभी भगवद्‌वाचक होनेके कारण सर्वार्थक

होते हैं. अतः किसीभी या सभी वाच्यार्थके वाचक वे हो सकते हैं. तो भी शक्तिसंकोचके वश लोकमें विशेषार्थके ख्यापक बन जाते हैं"(त.दी.नि.प्र.२।१५०-१५३).

"रूपसृष्टि सान्त होती है पर नामसृष्टि अनन्त. रूपसृष्टि स्थूल होती है जबकि नामसृष्टि सूक्ष्म. रूपसृष्टि विकृत होती है जबकि नामसृष्टि कूटस्थ अविकृत होती है. रूपसृष्टि जडरूप होती है जबकि नामसृष्टि बोधरूप होती है" (भाग.सुबो.१०।१३।४३).

यहां जो वैदिक वर्ण पद और वाक्यों को साक्षात् हरिरूप माना है वह आनन्दांशके अतिरोभावके अभिप्रायवश है. इसके विपरीत लौकिक वर्ण पद वाक्यों में जहां आनन्दांश या ब्रह्मत्व का तिरोभाव माना है वहां भी कारणपरम्परया ब्रह्मात्मकता अक्षुण्ण होनेपर भी, ब्राह्मिक चिदंशरूप जो जीवात्मा होती हैं उनके धर्मभूत चैतन्यरूप वर्ण पद वाक्य होते हैं ऐसा अभिप्राय है. आनन्दांशके प्रकट रहनेपर तो अवभासित होते पदार्थ, यदि आन्तर हों तो आन्तर सच्चिदानन्दात्मक ही होते हैं. अन्यथा बाह्यतया अवभासित होते हों तो उनकी बाह्यसत्ता भी होती है, चाहे जैसी भी हो. आनन्दांशके तिरोहित हो जानेपर, किन्तु, अवशिष्ट चिदंशमें अवभासित होते नाम-रूप-कर्म, यदि बाह्यतया अवभासित होते हों तो अन्यख्याति(भ्रान्ति)रूप माने जाते हैं. अन्यथा आन्तरतया अवभासित होनेपर उनका अन्यख्यातिरूप होना आवश्यक नहीं. यह भागवतसुबोधिनीके उपर्युद्धृत वचनमें रूपसृष्टि और नामसृष्टि के इतरेतरवैलक्षण्यके आधारपर अधिक स्पष्ट हो जाता है. इसे विस्तारपूर्वक समझना हो तो गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमकृत 'प्रस्थानरत्नाकर' नामक ग्रन्थके उपक्रमके अवलोकनद्वारा समझा जा सकता है.

इस व्यवस्थामें वेदेतर, वेदके सभी, अंगों और उपांगों के बारेमें,

उन्हें लौकिक नामरूप माननेपर भी, उनके स्वरूप और प्रामाण्य के निर्वाहार्थ उनका वेदाविरोधी होना अनिवार्य निकष माना गया है. केवल भगवद्गीता और श्रीमद्भागवतपुराण को पुनः अपवादरूपेण साक्षाद् भगवदात्मक माना गया है.[४]. साथ ही साथ वाल्लभ वेदान्तमें धर्म या ब्रह्म रूपी अर्थोके प्रतिपादनौपयिक इन शास्त्रोंकी प्रामाण्यव्यवस्था भी सिद्धान्ताभिमत प्रक्रियाके अनुसार निर्धारित की गयी है. यह प्रामाण्यव्यवस्था तलचतुष्टयात्मिका है :

[१] शास्त्रतात्पर्यजिज्ञासाकालीन या उपदेशकालीन प्राथमिक प्रामाण्यतल.
[२] तात्पर्यबोधोत्तरकालीन द्वितीय तल.
[३] ब्रह्मसाक्षात्कारोत्तरकालीन तृतीय तल.
[४] भगवदवतारकालीन चतुर्थ तल.

इन्हें संक्षेपमें समझ लेनेके बाद ही तान्त्रिकागमोंके स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता के बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी अवधारणाओंको सुचारुतया बुद्धिगत कर पाना शक्य बनता होनेसे तदर्थ प्रवृत्त होना उचित होगा.

[१] शास्त्रतात्पर्यजिज्ञासाकालीन या उपदेशकालीन प्राथमिक प्रामाण्यतल : इस तलपर अभिमत प्रामाण्यव्यवस्थाके बारेमें महाप्रभुका कहना है कि तत्त्वतः ब्रह्म अपरिसंख्येय विरुद्धधर्मोका एक अविरुद्ध आश्रय होता है. यह मान्य न होनेपर उसके इतरेतरविरुद्ध धर्मोके अन्तर्गत किसी एक धर्मविशेषका प्रतिपादन करनेवाली शब्दराशिद्वारा अवगत होते उसके धर्मसे विरुद्ध अन्य किसी धर्मका प्रतिपादन करनेवाली शब्दराशि के सुनायी देनेपर परस्पर व्याहतार्थके प्रतिपादनकी प्रतीति होनी स्वाभाविक है. अतएव वह श्रोताके भीतर प्रमिति प्रकट नहीं कर पाती. ऐसी स्थितिमें ब्रह्मके स्वरूपको यथार्थतया समझना हो तो वेद गीता पूर्वोत्तरमीमांसासूत्र और भागवतपुराणकी समाधिभाषा यों इन चारों शास्त्रोंकी एकवाक्यता अपरिहार्यतया मीमांस्य बनती है.

अतः वेदके मुख्य अभिप्रायके बारेमें उठते सन्देहोंको गीताके उपदेशोंके आधारपर निवारण करनेपर ही वह समझमें आ सकता है. गीताके मुख्य अभिप्रायके बारेमें उठते सन्देहोंको इसी तरह उक्त सूत्रोंके अनुसार निवारण करना चाहिये. तथा सूत्रोंके प्रमुख अभिप्रायके बारेमें उठते सन्देहोंको भागवतपुराणके आधारपर निवृत्त कर लेना चाहिये. यों चारोंके चारों शास्त्रोंकी एकवाक्यता जान लेनी आवश्यक होती है. इस तलपर इनके इतरेतरसमन्वित अभिप्रायसे विरुद्ध लगते सभी वचन अप्रमाण हो जाते हैं. अर्थात् श्रोताकी बुद्धिमें प्रमाके जनक नहीं हो पाते.[५]

यह प्रमाणचतुष्टयीसे इतर शास्त्रोंके निर्विवाद स्वीकार्य प्रामाण्यके अस्वीकरणार्थ न हो कर केवल जिज्ञासाकालमें या उपदेशकालमें उनके प्रमाणतया अवलम्बनके स्थगनार्थ है. अतएव इतरेतरान्वित प्रमाणचतुष्टयीके द्वारा अवगत होते अर्थके एक बार सुनिर्धारित हो जानेपर सभी विरोधाभासोंका परिहार शक्य बन जाता है. अतः इस चतुष्टयीसे भिन्न शास्त्रोंके वचनोंके श्रवणके समय असम्भावना या विपरीतभावना उदित न होनेके कारण प्रमिति भी प्रकट हो पाती है.

[२]तात्पर्यबोधोत्तरकालीन द्वितीय तल : उक्तप्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिके प्रामाण्यके आधारपर, नकि इन्हें इतरेतरनिरपेक्ष पृथक्पृथक् चार प्रस्थान मान कर, प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलोंका स्वरूप भलीभांति निधार्रित करना आवश्यक होता है. तब यह सहज ही समझमें आ जाता है कि एकमेव अद्वितीय ब्रह्म जब सभी रूपोंको धारण कर स्वयं अनेकविधतया प्रकट हुवा है तो उस ब्रह्ममें परस्पर विरोधी रूप होना जैसे एक स्वाभाविक कथा है, वैसे ही अनेकविध उसके निरूपणोंमें भी इतरेतरविरुद्धता भी स्वाभाविकतया होनी ही है! अतः **''इस तरह पूर्ण ज्ञानके उदय होनेसे पूर्व जो प्रमाणतया ग्राह्य होते हैं उनका निरूपण कर शास्त्रतात्पर्यका भलीभांति बोध हो जानेपर**

किसे प्रमाण मानना यह कहते हैं—वाच्यार्थ तो भगवान् ही होते हैं अतः कोईभी या सभी वचन प्रमाण ही होते हैं—नामलीला भी लीलाका एक अन्यतर प्रभेद होनेसे तथा भगवान्के सर्वरूप होनेसे भी—रूपलीलाकी तरह नामलीलाके अनेक विभेद होते हैं. अतः नानाविध वाक्य प्रवृत्त हुवे हैं—इतरेतरविरुद्धतया अवभासित होते पदार्थोंमें किसी तरह अविरोध खोजा जा सके तो सभी वचन प्रमाण ही होते हैं—प्रतीयमान विरोधाभासका परिहार दो तरह सम्भव है : भगवत्सामर्थ्यके विचारवश भगवान्को अलौकिक प्रकारका प्रमेय स्वीकार कर अथवा भगवान्के सर्वरूप होनेके तर्कके आधारपर'' (त.दी.नि.प्र.१।९).

यह, किन्तु, प्रमाणचतुष्टयीके निष्कृष्टार्थके सुनिर्धारित होनेपर स्वप्रतिपत्तिको सुदृढ़ बनानेको उपदिष्ट आश्वस्तता है. वादकालमें, परन्तु, प्रतिवादीके प्रतिपत्त्यर्थ महाप्रभु यह भी घोषित करते हैं कि ''निखिल वेदवाक्य, अनेकविध रामायण, महाभारत, अनेकविध पाञ्चरात्रागम, अन्य भी अनेक शास्त्रवचनों तथा महर्षि बादरायणके ब्रह्मसूत्रों को भी प्रस्तुत प्रतिपादनके अनुकूल हम पाते हैं'' (त.दी.नि.१।१०४). अतएव तत्त्वार्थदीपनिबन्धके प्रथम शास्त्रार्थप्रकरणमें प्रमाणचतुष्टयीका निकष प्रतिष्ठापित करके, द्वितीय सर्वनिर्णयप्रकरणके उपप्रकरणोंमें श्रुति स्मृति पुराण इतिहास शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष सेश्वरसांख्य सेश्वरयोग वाल्मिकिरामायण आदि अनेकानेक प्रमाणचतुष्टयीसे भिन्न वैदिक शिष्टपरम्परामें मान्य प्रमाणोंका स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता महाप्रभुने प्रतिपादित की है. इस तलपर वैदिक परम्परामें अमान्य या वेदविरोधी सिद्धान्तोंके वचन अप्रमाण माने गये हैं. अतएव इस तलपर महाप्रभुके कुछ विधान अवधेय हैं ''ब्रह्म तो केवल उपनिषद्वेद्य है शास्त्रान्तरवेद्य नहीं. अतः ब्रह्ममीमांसापरक बादरायणसूत्र यदि कोई स्वतन्त्र शास्त्र हो तो उसका अवलम्बन कर उत्पन्न हुवा ज्ञान ब्रह्मज्ञान नहीं माना जा सकता... अतः वेदार्थरूप ब्रह्मका वेदानुकूल विचार कर्तव्य बनता है... यह ब्रह्मजिज्ञासा स्वयं ब्रह्मके बारेमें नहीं होती, क्योंकि किसे

सन्देह हो सकता है कि ब्रह्म है या नहीं? यह जिज्ञासा तो ब्रह्मसे सम्बद्ध कई सारी सन्देहास्पद बातोंकी जिज्ञासा है... तब तो ब्रह्मप्रमाजनक वेदोंका प्रामाण्य भी यहां सिद्ध करना चाहिये था परन्तु वह तो सभी सहभागी विचारकोंको मान्य होनेसे करना अनावश्यक है'' (ब्र.सू.वा.भा.१।१।१). अर्थात् वेद आदि शास्त्रोंको प्रमाण न माननेवालेके साथ ब्रह्मविचारको अप्रसक्त माना गया है.

[३] ब्रह्मसाक्षात्कारोत्तरकालीन तृतीय तल : इस तलके बारेमें भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य और महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के बीच एक विलक्षण ऐकमत्य है कि ब्रह्मके साक्षात्कारसे पूर्व श्रुति इत्यादि शास्त्र ही ब्रह्मरूप प्रमेयके प्रमाण होते हैं परन्तु साक्षात्कारके बाद स्वानुभव भी प्रमाण बन जाता है. यह जैसे भगवत्पाद कहते हैं ''धर्मजिज्ञासामें केवल श्रुति इत्यादि शास्त्र ही प्रमाण होते हैं किन्तु ब्रह्मकी जिज्ञासामें ऐसा नियत नहीं, क्योंकि यहां तो श्रुति इत्यादि शास्त्रोंकी तरह अनुभव आदि भी यथासम्भव प्रमाण बनते ही हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञानका अनुभवमें पर्यवसान होना आवश्यक होता है, सिद्धवस्तुके बारेमें होनेके कारण भी. कर्तव्यके बारेमें अनुभवकी अपेक्षा नहीं होती अतः श्रुति इत्यादि शास्त्रोंको केवल प्रमाण मानना पड़ता है'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२). इसी तरह महाप्रभुका भी कहना है कि ''ब्रह्मके बारेमें दो तरहसे निश्चय हो पाता है : शास्त्रद्वारा और अनुभवद्वारा भी. यहां अवधेय है कि शास्त्र केवल इतना ही कहते हैं कि अनधिकारीको ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, पर अधिकारीको होते ब्रह्मानुभवकी व्याख्यापर शास्त्र निर्भर नहीं होते. क्योंकि ऐसा हो तो शास्त्र ब्रह्मज्ञानीके ज्ञानके केवल अनुवादक बन जानेके कारण प्रमाण नहीं रह जायेंगे. अतः आत्मा और ब्रह्म के प्रतिपादक उपनिषद् अनधिकारीको साक्षात्कार नहीं होता इतना ही कहते हैं'' (भाग.सुबो.३।१५।४९). एतावता सिद्ध होता है कि एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्य और अप्रतिहतसंकल्प के अनुसार प्रकटे लीलात्मक द्वैतोंमें घिरी बुद्धि जिन नाम-रूप-कर्मोंके

परस्पर विरोधाभासोंका स्वरूपैक्यानुरोधी समाधान खोज नहीं पाती, वे सभी विरोधाभास ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद बुद्धिको भ्रमित नहीं कर सकते. अतएव महाप्रभु कहते हैं कि रूपसृष्टिमें द्वैतको स्वीकार करके भी चलें तबभी, नामसृष्टि जो जीवचेतनाके धर्मतया सनातन सूक्ष्म कूटस्थ चैतन्यरूपा होती है, उसमें तो नियततया द्वैत यदि मिथ्या न माना जाये तो वैलक्षण्य प्रकट नहीं होगा. और द्वैतको मिथ्या माननेपर रूपसृष्टिका बोध नामसृष्टिके आधारपर शक्य नहीं रह जायेगा. महाप्रभु, परन्तु, भागवतपुराणके "**नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये**" (भाग.पु-रा.१०।१३।४३) की व्याख्यामें यह और प्रतिपादन करते हैं कि सिद्धान्त सिद्धान्ताभास सिद्धान्तपाषण्ड रूपी जो अनेक वाद जगत्‌में प्रवर्तित हैं, उन सभी वादोंके द्वारा जैसा भी ब्रह्मका निरूपण होता है, वैसा रूप ब्रह्म धारण कर लेता है, उन-उन वादोंको स्वीकारनेवाले विभिन्न अधिकारिओंके प्रति. भगवान्‌में अर्थवान् अनन्त वाचक पदों तथा उनके वाच्यार्थ अनन्त रूपोंको धारण करनेकी शक्ति होती है. अतः जो वक्ता या वादी जैसा स्वरूप जिस तत्त्वका प्रतिपादन करना चाहता है, वैसा उसके लिये सहजरूपेण शक्य हो पाता है (द्रष्ट. : भाग.सुबो.१०।१३।४३). अतएव महाप्रभुकी यह भी धारणा है कि श्रुतिमें भी जो परस्पर विरोधाभासी निरूपण मिलते हैं उनका प्रमुख अभिप्राय ब्रह्मरूप एकार्थमें उनकी एकवाक्यताका उपदेश करना है. यह एकवाक्यता ब्रह्मके सर्वभवनसमर्थ होनेके कारण विरुद्धधर्माश्रय होनेके अभिप्रायवश है. यह सहज सम्भव है कि विविध वादोंके पुरस्कर्ता चिन्तक स्वयं ब्रह्मके परस्पर विरोधी गुणोंके प्रतिपादनके अभिप्रायवश अपने-अपने वाद न भी प्रस्थापित करते हों; और इस अर्थमें उनकी सीमित धारणाके अनुसार ब्रह्म उनके वादका प्रतिपाद्य न भी हो! परन्तु विभिन्न वादोंके पुरस्कर्ता चिन्तकोंका जो अभिप्राय हो वह उनके हृदयमें भरा रहे! उनके मुखसे निःसृत होते वचन तो सरस्वतीरूप होनेसे एकवद्‌भावापन्न ही होते हैं. अतः एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक धर्मका प्रतिपादक होनेसे श्रुत्यादि शास्त्रोंके महावाक्यका वाक्यशेष (वाक्यार्थपू-

रक अंश) ही होता है. अतः भगवान् सभी वादोंका अनुसरण करते हैं (द्रष्ट. : त.दी.नि.प्र.१।७०).

स्पष्ट है कि ऐसी अपरोक्ष प्रमिति ब्रह्मसाक्षात्कारसे पूर्व कथमपि शक्य हो नहीं पाती. इस अर्थमें वाङ्मात्रका प्रामाण्य ब्रह्मके अपरोक्ष बोधसे पूर्व न भी गृहीत हो पाता हो पर ब्रह्मज्ञानीको गृहीत होना ही चाहिये.

[४] भगवदवतारकालीन चतुर्थ तल : परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तमके भूतलपर अवतारकालमें उस परमतत्त्वको उसके मूलरूपमें जान या पहचान पानेकी सारी प्रमाणव्यवस्था उलट-पलट हो जाती है. कहा जाता है ''वह परमात्मा अजायमान होनेपरभी बहुधा जन्मग्रहण करता रहता है. इसका रहस्य, परन्तु, कोई विरला धीर पुरुष ही जान पाता है'', ''अज अव्ययात्मा प्राणिओंका ईश्वर होनेपर भी मैं अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित हो कर आत्मशक्तिद्वारा प्रकट होता रहता हूं'' (तैत्ति.आर.३।१३।३, भग.गीता.४।६). अतएव महाप्रभु कहते हैं ''ज्ञान और भक्ति के प्रतिपादक शास्त्र भगवान्के यथार्थ बोध या साक्षात्कार के हेतु होते हैं. भगवत्स्वरूप स्वयं भी, ऐसे ही, स्वयंके यथार्थ बोधका कभी हेतु बन जाता है... क्योंकि ज़ान या भक्ति का प्रयोजन तो भगवान्को प्रकट करना होता है; परन्तु, भगवान् स्वेच्छया कभी-किन्हींके समक्ष प्रकट हो जायें तो फिर ज़ान-भक्ति अकिञ्चित्कर बन जाते हैं, उनके प्रतिपादक शास्त्रोंकी तरह'' (भाग.सुबो.१०।२६।१३). वैसे उपनिषदोंने ब्रह्मको जो ''अणुसे अणुतर तो महान्से महत्तर'' (कठोप.२।२०) माना, उसके आधारपर महाप्रभु कहते हैं ''अणुपरिमाण लेकर प्रकट होनेपर भी ब्रह्म व्यापकताका निर्वाह यथावत् कर पाता है, जैसे श्रीकृष्ण अपनी यशोदा मैयाकी गोदमें लेटे हुवे होनेपरभी निखिल ब्रह्माण्डके आधार बने रहते हैं'' (त.दी.नि.प्र.१।५४). किसी भी प्रमाणका प्रामाण्य उसकी प्रमेयभूत वस्तुके

सर्वथा अनुरूप होनेपर निर्भर करता है. परन्तु भूतलपर अवतीर्ण होनेपर भगवान् जैसा अपना स्वरूप गुणधर्म या लीला प्रकट करते हैं तदनुसार शास्त्रमें यदि निरूपण नभी मिलता हो, एतावता न तो उस स्वेच्छागृहीत रूप गुण या लीला को और न उसके अप्रतिपादक शास्त्रनिरूपणों को ही अप्रामाणिक माना जा सकता है. अवतार और अनवतार कालोंके व्यवस्थित विकल्पके आधारपर दोनों ही प्रामाणिक हो सकते हैं. ब्रह्मरूप तत्त्व इत्थंभाव और अनित्थंभाव दोनोंको ही एकहेलया वस्तुतः प्रकट करता हो तो इत्थंभावबोधक प्रमाणकी तरह अनित्थंभावबोधक प्रमाणको भी अप्रमाण माना नहीं जा सकता. ब्रह्मविशेष्यक किन्हीं विशेष नाम-रूप-कर्मोंकी प्रकारताकी बोधक अनुभूतिमें उस ब्रह्मके अन्य असंख्य नाम-रूप-कर्म भासित न होते हो तो केवल इतनेसे अपराधके कारण वह विशेष-नाम-रूप-कर्म-प्रकारताक अनुभूति अप्रामाणिक मानी नहीं जा सकती. मूलमें तो ब्रह्म **''सारे के सारे रूपोंको धारण कर उन-उन रूपोंके अनुरूप नामोंको भी धारण करता है''** (चित्युप.१२।७) इस वचनके अनुसार तत्तद् उदाहरणमें तत्तत् नाम-रूप-कर्म ही प्रकट करता होनेसे हमारे प्रमाणोंके प्रामाण्यके सारे निकष ब्रह्मरूप तत्त्वके निरूपणमें टुच्चे सिद्ध हो जाते हैं. अतएव भगवान्के स्वतो अवतीर्ण होनेके समय, महाप्रभु, यहां तक निःसंकोच घोषित कर देते हैं कि शास्त्रीय प्रमाण प्रमेय साधन और फल चारों ही अवतारकालमें अन्यथोपपन्न भी हो सकते हैं. यथा अवतारकालमें भगवान्के नवजात बालरूप और बाललीला का भास यदि शास्त्रनिरूपित भगवान्के अज सनातन रूपकी तुलनामें अज्ञान या अन्यथाज्ञान लगता हो तो, उस लीलाकालमें धारित रूपकी प्रमिति शास्त्रदृष्ट्या अज्ञान या अन्यथाज्ञान रूपिणी होनेपर भी लीलाविहारी भगवान्के यथार्थ स्वरूपकी ही अवबोधिका बन जाती है **''अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम्''** (त.दी.नि.३।१०।४१-४३). यहां 'भक्तिहेतुकम्' पद लीलात्मक मानसिक आकर्षणसे जन्य जो भक्ति उससे प्रकट होनेवाला अज्ञान या अन्यथाज्ञान के अभिप्रायवश है. अतएव शास्त्रोंमें निन्दित काम-क्रोध-भय-द्वेष-मोह आदि मनोवृत्तियां भी

भगवत्प्राप्तिमें, असाधन नहीं प्रत्युत, फलोपघातक या बाधक ही होती हैं. फिरभी अवतारकालमें भगवान् चाहें तो वे इष्टतम फलकी साधन बन जाती हैं. भागवतमें आता है कि **"गोपिकायें कामभावसे, कंस भयभावसे, चैद्य आदि नृप द्वेषभाव रख कर, यादवोंमें वृष्णीकुलवाले श्रीकृष्णको अपना सगा-सम्बन्धी मान कर..."** (भाग.पुरा.७।१।३०) बड़े-बड़े ज्ञानियोंको दुर्लभ ऐसे भगवान्को ये अवतारकालिक जन सुलभतया पा सके! इसी तरह प्रमाण और प्रमेय में भी अन्यथाभाव प्रकट हो सकता है.

यों भगवान्के अवतीर्ण होनेपर प्रमाण-प्रमेय-व्यवस्था और साधन-फल-व्यवस्था में सब कुछ उलटा-पुलटा हो जाता है. यह बात, परन्तु, अनवतारकालमें लागू नहीं की जा सकती. इस तरह श्रौत शास्त्रोंकी प्रामाण्यव्यवस्थामें उत्सर्ग और अपवाद रूपी चारों तलोंके विमर्शके बाद अब सुखेन पाञ्चरात्र आदि आगमशास्त्रोंके स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता के विमर्शके हेतु अग्रसर हुवा जा सकता है.

(५.पाञ्चरात्र आदि आगमशास्त्रोंका श्रौत निगमशास्त्रोंके साथ तुलनात्मक स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता)

हमने देखा कि जिस श्रुति और उसके अंगोपांगभूत या उपोद्बलक शास्त्रोंकी परम्परागत शब्दराशि; या जिसे प्रस्तुत आलेखपत्रमें 'निगम' पदसे विवक्षित माना गया है, वह तीन-चतुर्थांश अप्रकट और एक-चतुर्थांश प्रकट तत्त्वके निरूपणार्थ प्रवृत्त होनेवाली अनुभूति स्मृति ऊह या उन्हें एकसूत्रित करनेको निरन्तर प्रवृत्त चिन्तनात्मक प्रयत्नके प्रवाहकी एक अविच्छिन्न धारा है. उसे कुछ हजार या लाख पृष्ठोंके, चारों ओरसे बन्द पोखरेमें भरी हुयी क्षुद्र जलराशि जैसी, क्षुद्र शब्दराशि मानी नहीं जा सकती **"अनन्ताः वै वेदाः"** (तैत्ति.ब्राह्म.३।१०।११।४). हमने यह भी देखा कि कैसे वैदिक परम्परामें 'आगम' और 'निगम' पद दो विभिन्न प्रकारके शास्त्रोंके बारेमें नियततया प्रयुक्त न होनेपर भी

अशिथिल रूढ़िके कारण विभिन्न आशयोंको प्रकट करते रहे हैं. अतः पाञ्चरात्र तन्त्रके बारेमें 'आगम' पदका प्रयोग वैदिक परम्परामें आपत्तिजनक हो नहीं सकता. फिरभी वैष्णवागमोंको, वे चाहे वैखानसतन्त्र हों या पाञ्चरात्रतन्त्र हों, वेदमूलक मानना या वेदाविरोधी अथवा वेदविरुद्ध मानना यह जिज्ञासितव्य रह जाता है.

एतदर्थ आगमग्रन्थोंके बारेमें श्रुति इत्यादि शास्त्रोंके बहिःसाक्ष्य और स्वयं आगमग्रन्थोंके अन्तःसाक्ष्य के अवलोकन करनेपर सर्वांशेन ज्ञातवेदमूलकता हो या न हो परन्तु वेदविरोधिताका आरोप तो कथमपि उपपन्न नहीं होता.

अतः सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्रोंपर भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके भाष्यमें इससे सम्बद्ध प्रकरणका विमर्श कर लेना उपकारक होगा : ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्यायके द्वितीयपादके उपक्रममें भाष्यकार कहते हैं कि उपनिषद्वचनोंकी ब्रह्मपरताके प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त इन सूत्रोंको परमतनिराकरणकी आवश्यकता ही होनी तो नहीं चाहिये थी; फिरभी मुमुक्षुजनोंके लिये मोक्षसाधनोंका उपदेश भी सूत्रनिर्माणका प्रयोजन होनेसे; तथा, परमतोंके प्रवर्तकोंकी सर्वज्ञतया प्रसिद्धिके कारण उन मतोंके भी मोक्षार्थ अनुसरणीय माननेकी सम्भावित भ्रान्तिसे मुमुक्षुको बचाना ही अतः परमतनिराकरणका प्रमुख प्रयोजन है. तदनुसार सांख्य योग न्याय वैशेषिक बौद्ध जैन पाशुपत और अन्तमें पाञ्चरात्र मतोंकी आलोचना ब्रह्मसूत्र (२।२।४२-४५)के भाष्यमें की गयी है. यहां स्वयं भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत कुछ शंका-समाधान नितान्त अवधेय हैं.

भाष्यकार कहते हैं : [१]पाञ्चरात्र आगमग्रन्थोंमें भगवान्‌को जगत्‌की प्रकृति(उपादान)रूप कारण तथा अध्यक्ष यों उभयरूप माना गया है. यह तो श्रुतिसे अविसंवादी धारणा है. इसी तरह [२]अव्यक्तसे पर प्रसिद्ध परमात्मा सर्वात्मा नारायणका आत्मना अनेकविध आत्मव्यूहोंको

प्रकट करना भी **''स एकधा भवति त्रिधा भवति''** (छान्दो.उप.७।२६।२) जैसी अनेक श्रुतिओंमें उपलब्ध होता मत ही है. साथ ही साथ [३]ईश्वरप्रणिधानके भी श्रुति-स्मृतिसिद्ध होनेके कारण पाञ्चरात्रोक्त अभिगमन उपादान इज्या स्वाध्याय योग काल रूपी आराधन या निरन्तर चिन्तन भी अविसंवादी है. जिन अंशोंमें विसंवाद है वे हैं [४]'वासुदेव' नामक परमात्मासे 'संकर्षण' नामक जीवकी उत्पत्ति. यह जीवानित्यत्वमें पर्यवसित होनेसे नित्यात्मवादी वैदिक मान्यतासे विरुद्ध है. [५]'संकषर्ण' नामक कर्तासे 'प्रद्युम्न' नामक करणरूप मनकी उत्पत्ति [६]वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध की नियत चार संख्या होना भी संगत नहीं होता; क्योंकि, ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी कुछ भगवान्के व्यूह हैं [७]गुणगुणीके परस्पर भिन्न होनेकी धारणा भी विरुद्ध लगती है [८]वेदको गौण बनाना या उसकी निन्दा जो आगम ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है उसके कारण भी आगमग्रन्थ मुमुक्षुजनोंके लिये अनुपादेय सिद्ध होते हैं.

द्वितीयाध्यायके इसी द्वितीयपादमें जो अन्य मतोंकी आलोचना मिलती है, उसके साथ पाञ्चरात्रमतकी आलोचनाकी तुलना करनेपर शारीरकभाष्यकारका आलोचना करनेका भाव कुछ कम कठोर लगता है. पर भाष्यव्याख्या वेदान्तकल्पतरु और कल्पतरुपरिमल पर्याप्त कठोर शब्दोंमें आलोचना यहां कर रहे हैं.

शारीरकभाष्यकी व्याख्याओंमें किये गये आक्षेपोंके परिहारकी चार-पांच रीतियां सोची जा सकती हैं :

> [१]यतिराज श्रीरामानुजाचार्यनिर्दिष्ट इन सूत्रोंके श्रीभाष्यमें प्रथम दो सूत्रोंको पाञ्चरात्र आगमपर आक्षेपपरक मान कर अवशिष्ट दों सूत्रोंको परिहारपरक स्वीकारनेसे ही वेदादि शास्त्रोंसे विरुद्धताका परिहार स्वयं सूत्रकारद्वारा साध लेनेकी विचाररीति.

[२]श्रीयामुनेयाचार्यके 'आगमप्रामाण्य' तथा श्रीवेदान्तदेशिकके 'श्रीपाञ्चरात्ररक्षा' आदिमें अपनायी गयी दूसरी वैष्णवी नीतिके अनुसार महाभारत-पुराणोंमें मिलते पाञ्चरात्रागमके प्रशंसावचनोंके आधारपर इस बारेमें वैदिक शिष्टपरम्पराकी अनुमति दिखला कर.

[३]भगवत्पाद श्रीमध्वाचार्यके अनुसार पाञ्चरात्र मतके बजाय सूत्रकार यहां शाक्त मतका प्रत्याख्यान मान रहे हैं. अतः पाञ्चरात्र आगमके वेदविरुद्ध होनेकी शंकाको ही अप्रसक्त माननेकी नीति.

[४]श्रीजयन्त भट्टद्वारा न्यायमञ्जरीके चतुर्थ आह्निकमें अपनायी सकल आगमोंके प्रामाण्यके प्रतिपादन करनेकी रीति-नीति. इसके अनुसार बादरायणसूत्रोंमें आलोचित सांख्य-योग न्याय-वैशेषिक बौद्ध-जैन तथा शैव-वैष्णव सभी आगमोंको प्रामाणिक मान लिया गया है. स्वयं उनके शब्दोंमें "सभी आगमोंको प्रमाण माननेपर तो कोई भी व्यक्ति आज यदि किसी आगमको रच लेता हो तो कल उसे भी शिष्टजनोंद्वारा मान्यता प्राप्त हो ही सकती है! पर ऐसा सोचना व्यर्थ है क्योंकि आज जिनको महाजनोंके समूहमें शिष्टजनोंद्वारा समादरणीय माना जाता हो और जिनके मूलमें लोभ आदि दोष दिखलायी न देते हों, उन्हींको प्रमाण माननेकी बात कही जा रही है. अतः कुट्टिनीमतको प्रमाण माननेकी जैसी बात यहां सर्वथा अप्रासंगिक ही है" (न्या.मं.४).

[५]महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको अभिमत चार तलोंवाली प्रामाण्यव्यवस्था, जिसमें प्रथम तलपर पाञ्चरात्रागमको प्रमाण

नहीं माना गया परन्तु द्वितीय तल वैदिक शिष्टजनोंद्वारा मान्य होनेके रूपमें प्रमाणतया स्वीकारा ही गया है.

इनमें समाधानकी एक वैष्णवी रीति है दूसरी नैयायिक श्रीजयन्त भट्टकी विचारनीति है. इनका विस्तारपूर्वक अवगाहन तो उन्हींके ग्रन्थोंके अवलोकनद्वारा किया जाना उचित होगा. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यद्वारा अपनायी गयी समाधानपद्धतिमें पूर्वनिर्दिष्ट प्रामाण्यव्यवस्थाके चार तलोंको दृष्टिगत रखनेपर इन दोनों समाधानरीतियोंके साथ ऐकमत्य सुखेन सोचा जा सकता है. फिरभी इसके विस्तारमें जानेसे पहले प्रस्तुत आलेखपत्रमें स्वातन्त्र्येण भी जो विवक्षित है तदर्थ प्रवृत्त होना चाहेंगे.

एतदर्थ भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रदर्शित अविसंवाद और विसंवाद का विमर्श तथा श्रुति आदि निगमशास्त्रोंके बहिःसाक्ष्य तथा आगमशास्त्रोंके अन्तःसाक्ष्य के आधारपर उनके स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता की कुछ रूपरेखा विवक्षित है.

(६.पाञ्चरात्र आदि आगमशास्त्रोंका श्रौत निगमशास्त्रोंके साथ तुलनात्मक स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता की सामान्य रूपरेखा)

भाष्यकार कहते हैं [१]'पाञ्चरात्र आगमग्रन्थोंमें भगवान्को जगत्की प्रकृति(उपादान)रूप कारण तथा अध्यक्ष यों उभयरूप मानना तो श्रुतिसे अविसंवादी धारणा है. उल्लेखनीय है कि शांकर वेदान्त और वाल्लभ वेदान्त के बीच भी यहां कुछ अविसंवाद सा प्रकट हो गया है. क्योंकि अन्यथा शारीरकभाष्य और अणुभाष्य के बीच प्रमुख विवाद तो यही है कि शांकर भाष्य प्रपञ्चको आविद्यक भ्रमारोप और ब्रह्मको उसका विवर्तोपादान या अधिष्ठान मानता है. यथा —

"ब्रह्म स्वतः ही जगदात्मना परिणत भी हो और अपरिणत भी रहे, ऐसा स्वीकारा नहीं जा सकता...

सूत्रकारभी, अतएव, परमार्थदृष्टिसे 'वह अनन्य है' ऐसा कहते हैं. व्यवहारदृष्टि रख कर 'लोकमें जैसे मृत्तिका घटका या जैसें समुद्र तरंगका उपादानकारण बनते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी बनता है' यों महासमुद्र जैसा ब्रह्मका निरूपण भी करते हैं. यहां कार्यरूप प्रपञ्चका निरसन किये बिना परिणामप्रक्रिया अपनायी गयी है, ब्रह्मकी सगुणोपासनामें उसका विनियोग हो पाये एतदर्थ'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।१४).

अणुभाष्य, जबकि, उपासनार्थ नहीं प्रत्युत तत्त्वतः प्रपञ्चको परब्रह्म परमात्मा भगवान्का आनन्दात्मक लीलाविलास और लीलाकर्ता ब्रह्मको उसका अविकृतोपादान मानता है. यथा—

''किन्हींको 'वाचारम्भण' श्रुतिका अर्थ ऐसा प्रतीत होता है कि कार्यप्रपञ्च केवल वाणीविलासका ही विषय है, वस्तुत: कार्य जैसा कुछ प्रकट होता नहीं. तब तो ब्रह्मको किसका कारण मानना?... कार्य और कारण का यहां अनन्यत्व (तादात्म्य) विवक्षित है नकि मिथ्यात्व. अत: मिथ्यात्वका प्रतिपादन करनेवालोंने व्याख्यारूप ब्रह्मसूत्र और व्याख्येय श्रुति दोनोंके अर्थोंके विनाशद्वारा ब्रह्मवादका ही श्राद्ध कर दिखाया! जबकि अलौकिक प्रमेयके बारेमें ब्रह्मसूत्रोंके अनुसार ही निर्णय करना उचित था नकि स्वतन्त्र कुछ कल्पनाद्वारा. इसीलिये तो 'तर्काप्रतिष्ठानाद्' सूत्रमें इस तरहकी कल्पनाओंका निरास किया गया है. अत: यहां इस सूत्रमें कार्यप्रपञ्चके मिथ्या होनेकी बात सोची नहीं जा सकती. एक उपादान या समवायी कारणके ज्ञानसे सभी उपादेय या समवेतकार्यों के ज्ञानके सन्दर्भमें

यहां 'अनन्यत्व' पद प्रयुक्त हुवा होनेसे यह बात प्रकरणसे भी विरुद्ध है'', ''लोकमें की जाती लीलाकी तरह कार्यप्रपञ्चको ब्रह्मने स्वयं अपने भीतरसे बाहर प्रकट किया है... यह सब कुछ उसकी लीला ही तो केवल है'' (ब्र.सू.वा.भा.२।१।१४,२८,३४).

अब इस 'अनन्यत्व'रूप एक पदसे अभिप्रेत अर्थके बारेमें इतनी विसंमति रखनेवाले दोनों भाष्योंमें यहां जो कुछ एकमति सी प्रकट हुयी वह केवल समान भाषा ही है पर भाव कुछ अलग है क्या? अथवा श्रुति-सूत्रोंमें अभिप्रेत लगते उपासनौपयिक व्यावहारिक अभिप्रायसे पाञ्चरात्रागमको भी एकमत मनवाना क्या शारीरकभाष्यको विवक्षित है? अथवा पाञ्चरात्रागममें श्रुत्यविरोध सम्पादनद्वारा उसके प्रामाण्यके रक्षणार्थ यह कोई मन्द प्रयास है क्या? इनमें प्रामाण्यरक्षण भाष्यकारको अभीष्ट माने तो भाष्यपरकी प्रटीका प्रप्रटीका रूपी वेदान्तकल्पतरु और कल्पतरुपरिमल उद्भाष्य व्याख्यान सिद्ध होंगे. क्योंकि वेदान्तकल्पतरुमें, वेदसिद्ध परमेश्वर सर्वज्ञ वासुदेव द्वारा प्रणीत होनेपर भी, पाञ्चरात्रागमोंको पुराणोक्त प्रमाणके अवलम्बनद्वारा व्यामोहक शास्त्र माना गया है. इसी तरह कल्पतरुपरिमलमें भी यह विचारा गया है कि यदि पाञ्चरात्र आगम वेदमूलक स्मृति हों तो उपजीव्यविरुद्ध होनेके कारण वे अप्रमाण ही ठहरेंगे. अथवा वेदामूलक और वेदविरुद्ध दोनों होनेपर तो साक्षात् नारायणके द्वारा भी उपदिष्ट क्यों न हों, तोभी बुद्धवचनकी तरह व्यामोहक ही इन्हें मानने पड़ेंगे. इस शास्त्रको वेदकी एकायनशाखा मानना भी अनुचित है, क्योंकि वैदिक स्वाध्यायमें 'एकायन' शास्त्रका उल्लेख मिलनेपर भी किसी एकायनशाखाका उल्लेख कहीं मिलता नहीं है. अतः पाञ्चरात्र आगमका अनुसरण करनेवालोंका तो ब्राह्मण्य ही लुप्त हो जाता है, ऐसा मान कर चलना चाहिये. ऐसा कठोर विधान भी कल्पतरुपरिमलमें किया गया है.

अतः उपासनौपयिक व्यावहारिक अभिन्ननिमित्तोपादनभावसे परमेश्वरको सृष्टिका कारण मान कर ऐसे परमेश्वरकी उपासनाके निरूपणार्थ आगमोंको प्रवृत्त माननेको उद्यत होते हैं तो पाञ्चरात्रागमोंके वास्तविक अभिप्रायके विमर्शार्थ उद्यत होना पड़ेगा.

वैष्णवागमोंकी कुछ दो सौ या ढाई सौ संहिता मानी जाती हैं. न तो प्रस्तुत आलेखपत्रकारका अध्ययन-अनुशीलन इतना व्यापक है और न उन सभी संहिताओंका कोई सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत कर पाना यहां शक्य ही है. फिरभी कुछ संहिता दैवी होनेसे जो प्रमुख मानी जाती हैं, नामशः, सात्वत पौष्कर और जयाख्य संहिता. अन्य कुछ प्रकाशित होनेके कारण अवलोकनार्थ सुलभ हैं, नामशः, श्रीप्रश्न नारदीय श्रीपाद्म ईश्वर भार्गव अनिरुद्ध तथा लक्ष्मीतन्त्र संहिता. इन आगमसंहिताओंमें मिलते इस विषयके निरूपणके अनुशीलन करनेपर ऐसा स्वीकरणार्ह नहीं लगता. इन संहिताओंमें परमेश्वरके निर्गुण-निराकार तथा सगुण-साकार होनेका प्रभेद तो अवश्य प्रतिपादित किया गया है. पर वह शांकर वेदान्ताभिमत पारमार्थिक तथा व्यावहारिक/आविद्यक होनेके अभिप्रायवश समझाया गया हो, ऐसा लगता नहीं है.

यह देखना हो तो सर्वप्रथम सात्वतसंहिताके द्वितीय परिच्छेदमें—

"निराकारो निरंगः च स्मर्तव्यो ब्रह्मलक्षणः तत्प्राप्त्युपाये प्रथमे यागहोमादिके साकारं संस्मरेत् सांगं परिवारेण च आवृतं, आनीताः व्यक्ततां येन स्वयं ज्ञानादयो गुणाः शश्वद् यागसमाप्त्यर्थं कर्मिणाम् अनुकम्पया. सो अनंगः संस्मृतो मन्त्रो भक्तिश्रद्धावशेन तु फलं यच्छति वै नूनं नित्यं तद्भावितात्मनाम्. प्राधान्येन क्रतोः स्थैर्यं मोक्षो यत्र अनुषंगतः" (सात्व.संहि.२।३६-३९).

"व्यापके तु जगन्नाथे नित्यतृप्ते निराश्रये निरञ्जने

इच्छारूपधरे नित्ये शुद्धे बुद्धे सुनिर्मले, यत् तद् अक्षरम् अक्षोभ्यं परं ब्रह्म सनातनं, परा गतिः या सर्वेषाम् अच्युतं... शंखचक्रधरं विष्णुम् आनन्दस्यन्दनिर्भरम्'' (जया.संहि.१।१५-२४).

''आदिमध्यान्तरहितम् अवृद्धिक्षयम् अच्युतं नित्यं निरुपमं ज्योतिः नित्यतृप्तं निरञ्जनं सर्वाकारं निराकारं तमसः परम्. तत्कारणवशात् तस्माद् आविरासीत् सनातनात् द्विहस्तम् एकवक्त्रं च... स वासुदेवो विज्ञेयः सृज्यं सर्वं च तन्मुखात्'' (श्रीपा.संहि.२।६-११).

''स वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञः परमो मतः विष्णुः नारायणो विश्वो विश्वरूपः... अनन्तो देशकालादिपरिच्छेदवि-वर्जितःनिस्तरंगामृताम्भोधिकल्पं षाड्गुण्यम् उज्वलं... अपृथ-ग्भूतशक्तित्वात् 'ब्रह्माद्वैतं' तद् उच्यते... सर्वावस्थागता देवी स्वात्मभूता अनपायिनी अहंता ब्रह्मणः तस्य सा अहम् अस्मि सनातनी येन भावेन भवति वासुदेवः सनातनः भवतः तस्य देवस्य स भावो अहम् इति ईरिता. तादात्म्यं विद्धि सम्बन्धं मम नाथस्य च उभयोः'' (ल.त.सं.२।५-१८).

इन वचनोंका अनुशीलन करते ही इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इन संहिताओंमें आविद्यक व्यावहारिक द्वैत या उपासनार्थ कल्पित द्वैत की अवधारणा तो गन्धमात्र भी प्रसक्त नहीं है. साथ ही साथ यह भी अवधेय है कि इन वचनोंके स्वारसिक अभिप्रेतार्थका वाल्लभ वेदान्तमें यथावत् अंगीकार पर्याप्त सुकर भी है (द्रष्ट. : ब्र.सू.वा.भा.३।२।-२७).

द्वितीय विधानमें भाष्यकार कहते हैं : [२] अव्यक्तसे पर प्रसिद्ध परमात्मा सर्वात्मा नारायणका आत्मना अनेकविध आत्मव्यूहोंको प्रकट करना भी **''स एकधा भवति त्रिधा भवति''** (छान्दो.उप.७।२६।२) जैसी अनेक श्रुतिओंमें उपलब्ध होता मत ही है. यद्यपि प्रस्तुत श्रुतिका

निष्कृष्ट अर्थ क्या है, यह यहां तो स्पष्ट नहीं किया गया परन्तु छान्दोग्योपनिषद्में जहां यह वचन स्थित है वहां भाष्यमें "**इसका ज्ञाता सृष्टिभेदके प्रकट होनेसे पूर्व एक ही था और स्वयं एकाकी होनेपर भी त्रिधा आदि भेदोंके अनुसार अनन्त भेदोंवाला सृष्टिकालमें बन जाता है. वह संहारकालमें पुनः अपने मूल पारमार्थिक एक होनेके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है स्वतन्त्र रहते हुवे, ऐसी विद्याके हेतु फलप्ररोचनात्मिका स्तुति यहां की गयी है**" (छान्दो.उप.शां.भा.७।२६।२) ऐसी व्याख्या भाष्यकार देते हैं. धैर्यपूर्वक इस विधानकी तात्पर्यमीमांसा करनेपर एककी अनेकभावापत्ति अपारमार्थिकी ही फलित होती है. इसका अलावा यह श्रुति स्तुत्यर्थवाद हो तो वह स्वार्थमें प्रमाण है या "फलवत्संनिधौ अफलं तदंगम्" न्यायेन औपनिषदिक उपासनाविधिशेष है? यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता. अतः क्या भाष्यकार पाञ्चरात्रागममें भी ऐसी ही प्रक्रियाके अवलम्बन द्वारा पारमार्थिक एकका अपारमार्थिक अनेकवद्भाव सिद्ध करना चाहते हैं? या आगमिक प्रतिपादनको भी फलप्ररोचनार्थ स्तुत्यर्थवाद मान रहे हैं?

एतदर्थ पुनः सात्वतसंहिताका अनुशीलन करनेपर "**परं ब्रह्म परं धाम चातुरात्मकम् अव्ययम्**" (सात्व.संहि.७।३) वचन उपलब्ध होता है. जयाख्यसंहितामें यद्यपि आनन्दरूप ब्रह्मके स्वरूपनिरूपणमें अनेकविध परस्पर विरुद्ध गुण धर्म और शक्ति से उसे विशिष्ट दिखानेको केवलाद्वैतवादाभिप्रेत, नामशः, अयोगोलक, दर्पण-प्रतिबिम्ब, घटाकाश-नयन आदि अनेक उदाहरण प्रयोगमें लाये गये हैं (द्रष्ट. : जया.संहि.४।६०-११७). परन्तु ये जिस विशेष दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभावके अनुरोधवश निर्दिष्ट हुवे हैं, उसकी विवेचना करनेपर तथा मूलरूप जैसा स्वीकारा गया है, उसके साथ संगति बैठानेका प्रयास करनेपर कुछ अन्य ही तथ्य प्रकट करते हैं. तब एककी मिथ्या अनेकताके प्रतिपादनार्थ यह नहीं है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है. अयोगोलकका उदाहरण अन्तर्यामिताके निरूपणार्थ प्रयुक्त हुवा है, जो अयोगोलक और अग्नि के अमिथ्या

होनेपर ही संगत होता है. प्राकृत इन्द्रियों एवं गुणों से संयुक्त तथा वर्जित होनेकी उभयविधताको समझानेको दर्पण-प्रतिबिम्बका उदाहरण दिखलाया गया है. यह प्रतिबिम्बके मिथ्या होनेके आशयवश प्रयुक्त होनेके बजाय एकहेलया इन्द्रियादिसंयुक्त और इन्द्रियादिवर्जित होनेके अंशमें ही ग्राह्य लगता है. विशेषतः इसलिये कि चतुर्व्यूहकी व्याख्या परमात्मा जीवात्मा मनआदि इन्द्रियोंके रूपमें भी पाञ्चरात्रागमोंको अभिप्रेत है. विभु ब्रह्मकी सचलता और अचलता रूपी विरोधी गुणोंको सुबोध बनानेको घटाकाश-नयनका उदाहरण दिया गया है. एतावता क्रियावत्त्व निजशक्तिरूपी उपाधिसे प्रयुक्त प्रतीत होनेपर भी आविद्यक मिथ्यारोप होना उसका आवश्यक नहीं लगता. क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप, "**सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वः सर्वेश्वरः प्रभुः सर्वशक्तिमयः चैव स्वाधीनः परमेश्वरः... एवम् एकः परो देवो नानाशक्त्या आत्मरूपधृत् नारायणः परं ब्रह्म...**" (जया.संहि.४।६९-७०, ११७) इन शब्दोंमें निरूपित हुवा है. लक्ष्मीतन्त्रमें भी आता है कि "**त्रयः च चातुरात्म्यं तत् चत्वारो अमी... एतावद् 'भगवद्'वाच्यं...**" (ल.तं.सं.७।८). अतः हम देख सकते हैं कि शारीरकभाष्यकाराभिप्रेत आविद्यक मायिक होनेके अर्थमें पाञ्चरात्रकी संहितामें एककी अनेकता प्रतिपादित हुयी नहीं है. ऐसा भी कहा नहीं जा सकता कि चार व्यूहोंकी धारणा अशास्त्रीय है क्योंकि महाभारतके आश्वमेधिक पर्वके "**... पाञ्चरात्रिकाः वासुदेवं... संकर्षणं... प्रद्युम्नं च अनिरुद्धं चतुर्मूर्तिं प्रचक्षते. एताश्च अन्याश्च... संज्ञाभेदेन मूर्तयः. विद्धि अनर्थान्तराण्येव माम्; एवं च अर्चयेद् बुधः**" (महाभा.१४।४।१६६१) वचनमें मान्य रखा ही गया है.

इसके बाद तृतीय विधानमें भाष्यकार कहते हैं : [३]ईश्वरप्रणिधान भी श्रुति-स्मृतिद्वारा सिद्ध होनेके कारण पाञ्चरात्रोक्त अभिगमन उपादान इज्या स्वाध्याय योग काल रूपी आराधन या निरन्तर चिन्तन भी श्रुति-स्मृतिसे अविसंवादी है. इस विषयमें यही वक्तव्य है कि शांकर वेदान्तके अनुसार सगुणोपासनामें तो, गन्ता और गम्य के प्रभेदवश,

मुक्तिदेशमें गति उपपन्न होती है. निर्गुणोपासनामें, किन्तु, ऐसे प्रभेदके रह न जानेसे वह अनुपपन्न मानी गयी है (द्रष्ट. : ब्र.सू.शां.भा.३।३।२९-३१). नारदीय संहितामें, परन्तु, परममुक्तिका ऐसा निर्गुण स्वरूप निरूपित नहीं हुवा है. क्योंकि गति और लय के द्वारा सम्पन्न होता अभेद स्वयं गन्ता-गम्य और लाता-लयाधिकरण रूप होनेसे भेदसहिष्णु अभेद ही प्रतीत होता है. ऐसा भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "**वासुदेवपदं याति यद् गत्वा न निवर्तते. लीनः तस्मिन् परे व्योम्नि तद्भावं प्रतिपद्यते. घृते घृतं जले तोयं क्षीरे क्षीरमिव स्थितम्. एतत् परं समुद्दिष्टं परमं ब्रह्म शाश्वतम्**" (नार.संहि.३।६३-६४). यहां गन्ता-लाताका वासुदेवकर्मक गतिपूर्वक वासुदेवाधिकरणक लय जो निरूपित हुवा है, वह केवलाद्वैतवादाभिप्रेत परममुक्तिके स्वरूपसे विपरीत है. क्योंकि केवलाद्वैतवादके अनुसार गति और लय दोनों वाणीविलासरूप होते हैं, गम्य-गन्ता और लयाधिकरण-लीन होनेवालेके आत्यन्तिक अभेदवश.

चतुर्थ विधानमें [४] 'वासुदेव' नामक परमात्मासे 'संकर्षण' नामक जीवकी उत्पत्ति, जीवात्माके अनित्यत्वमें पर्यवसित होनेसे नित्यात्मवादी वैदिक मान्यतासे विरुद्ध है, ऐसी भाष्यकारने आपत्ति उठायी है. यह आपत्ति भी उतनी प्रबल नहीं लगती क्योंकि सर्वप्रथम तो स्वयं भाष्यकार भी "**दूध जैसे अपना स्वरूप खो कर दधिभावापन्न होता है, वैसे ही विराट् भी अपने सारे स्वरूपको खो कर इतना सारा विश्व बनता हो, ऐसे नहीं बना. तो कैसे बना? आत्मना अवस्थित रहते हुवे ही वह विराट् सत्यसंकल्प होनेके कारण आत्मव्यतिरिक्त... शरीरान्तर भी बन गया. वह विराट् आत्मस्वरूपमें अवस्थित रहते हुवे ही यह सब कुछ बना. इस तरह बननेवाला मूलरूप और बन जानेके बादवाला रूपान्तर दोनोंकी एकता निरूपित हुयी है**", "**ऐसी स्थितिमें असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत्का विनाश नहीं हो सकता, कार्यका स्वरूप ऐसा समझना चाहिये**" (छान्दो.उप.भा.१।४।३,१।४।७) इन वचनोंमें सत्कार्यवादाश्रित आविर्भावकी प्रक्रिया स्वयं भाष्यकारने भी स्वीकारी

ही है तो वही प्रक्रिया पाञ्चरात्रके भी "**ज्ञानस्वरूपो भगवान्... तस्य अहं परमा शक्तिः सिसृक्षालक्षणा... साहं सृजामि स्वाच्छन्द्याद् द्विधा भेदम् उपेयुषी चेत्यचेतनभावेन... चेत्यचेतनता प्राप्ता संविदेव मदात्मिका**" (ल.तं.सं.१४।१-५) इस वचनमें स्वीकारी गयी है. अतः जीवके उत्पत्तिमान् होनेपर भी अनित्य होनेकी आपत्ति उठनी तो नहीं चाहिये.

पांचवें विधानमें [५] 'संकषर्ण' नामक कर्तासे 'प्रद्युम्न' नामक करणरूप मनकी उत्पत्तिके असंगत होनेकी युक्ति भी बृहदारण्यकोपनिषद्के "**स यथा ऊर्णनाभिः तन्तून् उच्चरेद्, यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति, एवमेव एतस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः... व्युच्चरन्ति**" (बृह.उप.२।२।२०) इस वचनके भाष्यमें स्वयं भाष्यकार भी "**सर्वे प्राणाः वागादयः**" अर्थ जब करते ही हैं तब कर्तासे करणकी उत्पत्तिमें आपत्ति कैसे उठायी जा सकती है? अतः इस विषयमें भी श्रुति और पञ्चरात्रागम के बीच विरोध खोजना अनावश्यक लगता है.

इसके बाद छठे विधानमें [६] वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध की चार संख्या नियत होनी भी संगत नहीं; क्योंकि, ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी कुछ भगवान्के व्यूह हैं, यह आपत्ति प्रस्तुत की गयी है. इस विषयमें नारदीयसंहिताके पंदरहवें अध्यायके ८६ वें श्लोकसे १०६ श्लोक पर्यन्त भागका अनुशीलन करनेपर वहां "**सहि सर्वात्मको ब्रह्म सिसृक्षुः सकलं जगत् सृष्ट्याधारम् अपूर्वन्तु तदन्तम् अकरोत् प्रभुः**" (तत्रैव) यहां ब्रह्मको सकल जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान तथा जगदात्मक माना जाना इन व्यूहोंको चार संख्यामें सीमित रखनेकी बातका समर्थन नहीं करता. "**विधत्से केन रूपेण, केन रूपेण पासि वा...? अनन्ताः शक्तयः सृष्टाः... चतस्रः तासु निर्दिष्टाः मुख्याः**" (श्रीपाद्म.संहि.४।१-२) ऐसा सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है. इसी तरह लक्ष्मीतन्त्रमें भी "**कथं सृजसि वै लोकान्?... विभजे बहुधा आत्मानं कर्तृ-कर्म-क्रियादिना लीलायै...**" (ल.तं.सं.३।३२-३७) वचनके अनुशीलन करनेपर भी

ब्रह्मशक्तिका सकल विश्वात्मना परिणत होना इस तथ्यका प्रमाण है कि पञ्चरात्रमें चतुर्व्यूहकी संख्या चार संख्यामें परिसीमित नहीं रहती है.

सातवें विधानमें ७गुणगुणीके परस्पर भिन्न होनेकी अवधारणा विरुद्ध लगती है, ऐसा भाष्यकार कहते हैं. लक्ष्मीतन्त्रमें, परन्तु, लक्ष्मी और नारायण का परस्पर गुणगुणिभाव तादात्म्यमूलक निरूपित हुवा है नकि भेदमूलक. जैसे कि ''अन्योन्येन अविनाभावाद् अन्योन्येन समन्वयात् तादात्म्यं विद्धि सम्बन्धं मम नाथस्य च उभयोः, अहंतया विना अहं हि निरुपाख्यो न सिद्ध्यति, अहमर्थं विना अहंता निराधारा न सिद्ध्यति'', ''व्यापारः तस्य देवस्य सा अहम् अस्मि न संशयः, मया कृतं हि यत् कर्म तेन तत्कृतम् इति उच्यते. अहं हि तस्य देवस्य स्मृता व्याप्रियमाणता'' (ल.तं.सं.२।१८-१९, ११।६-७) इन वचनोंके अवलोकन करनेपर भी स्पष्ट होता ही है.

अन्तिम विधान ८वेदको गौण बनाना या उसकी निन्दा जो आगम ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है, उसके कारण भी आगमग्रन्थ मुमुक्षुजनोंके लिये अनुपादेय सिद्ध होते हैं. इस विधानके बारेमें यह स्मारणीय है कि उपनिषद् और भगवद्गीता के वचनोंमें भी वेदनिन्दा तो मिलती ही है, एतावता उन्हें जब अनुपादेय नहीं माना जाता तो आगमद्वेषका प्रयोजन क्या ?

जहां तक भाष्यकारकी अभिमतिका प्रश्न है तो यह एक वास्तविकता है कि पूर्वोदाहृत वचनमें 'एकायन' पदका अभिप्राय उनके अनुसार नीतिशास्त्र है. पाञ्चरात्रसंहिताओंमें, किन्तु, अनेक स्थलोंपर स्वयंको 'एकायनवेद' या 'एकायनश्रुति' कहा गया है ''श्रुतिमूलम् इदं शास्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्'' (ल.तं.सं.उपो.पृ.४) ''श्रुत्यैव प्रथमं शास्त्रं 'रहस्याम्नाय'संज्ञितम्...सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्या इत्येवमादिकम्'' (तत्रैव). ''वेदम् 'एकायनं' नाम वेदानां शिरसि स्थितं तदर्थकं पाञ्चरात्रं

मोक्षदं... यस्मिन् एको मोक्षमार्गो वेदे प्रोक्तः सनातनः मदाराधनरूपेण तस्माद् एकायनं भवेत्'' (श्रीप्र.संहि.२।३८-३९). जयाख्यसंहितामें वैष्णव शास्त्रज्ञके जो लक्षण प्रतिपादित हुवे हैं, उन्हें ये आगम यदि वेदविरोधी होते कदापि नहीं देते. द्रष्टव्य : ''**पुराणं धर्मशास्त्राणि इतिहासान् च वैष्णवान् वेत्ति वेदान्तसिद्धान्तान्... विद्धि तं शास्त्रज्ञं हि वैष्णवम्**'' (जया.संहि.२२।५२-५३). यह स्पष्टोक्ति भी उपलब्ध होती है. अतः अन्तःसाक्ष्यके आधारपर तो उन्हें वेदविरोधी माना नहीं जा सकता. जहां तक वेदामूलक होनेका प्रश्न है तो उपलब्ध वेदभागमें यदि कहीं पञ्चरात्रोक्त प्रत्येक उपदेश मिलते न हों तो एतावता विरोधी मान लेनेका आग्रह रखनेपर तो महाभारत-पुराणोंके भी बहुत सारे विषय उपलब्ध वेदभागमें मिलते नहीं होनेके कारण उन्हें भी वेदविरोधी मानना पड़ेगा. अन्यथा स्वयं शारीरकभाष्यकारद्वारा अंगीकृत उपदेशसाम्य ही इन पाञ्चरात्र संहिताओंके वेदाविरोधी होनेका प्रमाण माना जाना चाहिये.

आधुनिक इतिहासविदोंकी कालनिर्धारणकी विचाररीतिके निकषपर तो स्वयं ऋक्संहिताके विभिन्न मण्डलोंको, ब्राह्मणभागोंको और उपनिषदोंको भी श्रुति सिद्ध करना कठिन हो जाता है. अतः उस पचड़ेमें पड़े बिना इस विमर्शमें प्रवृत्त होनेवालेकेलिये यह सारा प्रयास है. अस्तु इस तरह पाञ्चरात्रागमोंके स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता की सामान्य रूपरेखाके बाद अब वाल्लभ वेदान्तके अभिप्रायको परखनेमें कोई क्लिष्टता नहीं रह जायेगी.

(७.पाञ्चरात्र आदि आगमशास्त्रोंका श्रौत निगमशास्त्रोंके साथ तुलनात्मक स्वरूप प्रामाण्य और एकवाक्यता का वाल्लभ वेदान्ताभिमत स्वरूप)

बादरायणसूत्रोंमें विचार्यभूत प्रस्तुत अधिकरणकी सूत्रचतुष्टयीके भाष्यमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भी भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यकी तरह पाञ्चरात्रागमोंको ही आलोच्य माना है. यह वाल्लभ वेदान्तको अभिमत प्रामाण्यव्यवस्थाके

प्रथम तलपर प्रस्तुत की गयी आलोचना है. क्योंकि भाष्यकार कहते हैं "**भागवत (पाञ्चरात्र) मतमें कुछ अंश विरुद्ध लगते हैं उनका निराकरण यहां अभिप्रेत है...**" (ब्र.सू.वा.भा.२।२।४२). अनुसन्धेय है कि वहां तत्त्वार्थदीपनिबन्धके भी प्रथम प्रकरणमें "**प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिसे जो अविरुद्ध हो उसे ही प्रमाण परन्तु जो विरुद्ध हो उसे तो अप्रमाण ही मान लेना चाहिये**" (त.दी.नि.१।८) ऐसा समझाया गया था. द्वितीय तलपर विरुद्धांशपरित्याग करके प्रमाण मान लेनेकी बात भी सुझायी गयी थी, जहां "**अर्थो अयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः... पञ्चरात्रैः**" (त.दी.नि.१।१०४) विधानमें पाञ्चरात्रागमोंको प्रमाणत्वेन स्वीकारा भी गया ही है.

उसी उत्तरदायित्वको निभानेको यहां ४२ वें सूत्रमें अणुभाष्यप्रकाशकार शंका-सामाधान करते हैं कि जीवात्माकी उत्पत्ति और नित्यता, दोनों ही, जीवको विरुद्धधर्माश्रयतया मान्य रख कर क्यों नहीं स्वीकार लिये जाते? इससे श्रुति और पाञ्चरात्रागम के बीच एकवाक्यता भी सम्पन्न हो जायेगी! समाधानतया, किन्तु, कहते हैं कि विरुद्धधर्माश्रय होना ब्रह्मके असाधारण गुणतया उपनिषदोंमें प्रतिपादित हुवा है, नकि जीवात्माके गुणतया. उपनिषदोंमें जो जीवात्माका व्युच्चरण प्रतिपादित हुवा है, उसे अंशत्वापादक विभाजन ही केवल समझना चाहिये उत्पत्ति नहीं.

यह सूक्ष्म विवेचनकी अपेक्षा रखता है. क्योंकि ब्रह्म नित्य होनेपर भी विरुद्धधर्माश्रयतया अपने सदंशभूत जड़ोंके रूपमें उत्पत्त्यादि षड्भावविकारोपेत बन सकता है. जड़ पदार्थ, परन्तु, स्वयं कार्य होनेके रूपमें अनित्य होते हैं नित्य नहीं. क्योंकि प्रत्येक जड़ पदार्थके साथ तत्तद् नाम एवं तत्तद् रूप के संयोजनको ही उत्पत्तिके रूपमें स्वीकारा गया है "**तद्धा इदं तर्हि अव्याकृतमेव आसीत्. तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनामा अयम् इदंरूपः' इति. तदिदमपि एतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते 'असौनामा अयम् इदंरूपः' इति**" (बृह.उप.१।४।७). ब्रह्मके

तत्तत् सदंशोंके साथ इस नामरूपके संयोजनको नित्य तो माना नहीं जा सकता. अन्यथा 'मृत्तिका'नामक विरल पार्थिव असंख्य कणरूप सदंशोंसे 'घट' नामक पृथुबुध्नोदराकाररूप पार्थिव वस्तुकी उत्पत्तिके बाद इन सदंशोंके साथ नामरूपोंकी योजनाको नित्य माननेपर घटनाश असम्भव हो जायेगा. अतः उन्हें कहीं 'नित्य' कहा भी जाता हो तो सदंश और उससे संयोजित होनेवाले नाम-रूप-कर्म, इन सभीके ब्रह्मोपादानक और ब्रह्मात्मक होनेके रूपमें ही, नकि इनके इतरेतरसंयोजनके रूपमें उत्पन्न घट-पट आदि रूपोंमें.

जीव, परन्तु, ब्रह्मका अणुपरिमाण चिदंश तथा नित्य होता है. अपने इस मौलिक स्वरूपमें वह किन्हीं विशेष नाम-रूपका धारक नहीं होता. इसी तरह सूक्ष्मदेहसंघातके घटक प्राण-कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय-मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्त भी आकल्पसमाप्ति नित्य होते हैं. अतः सूक्ष्मशरीर आमोक्षस्थायी होनेपर भी इन तत्त्वोंके साथ संहत जीव नित्यसंहत न होनेके कारण अनित्य माना जा सकता है. स्थूलशरीर तो निरन्तर जन्ममृत्युके चक्रमें फंसा होनेके कारण ही अनित्य होता है. अतएव इन सूक्ष्म-स्थूल शरीरोंकी अपेक्षावश जीवात्मा कहीं ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाली वस्तु भी मानी जाती है. बन्धनकी अपेक्षावश अनित्यतया बद्ध जीवात्मा भी, स्वरूपेण किसी विशेष नाम-रूपसे असंयोजित होनेके कारण, नित्य मानी जाती है. अतएव नित्य मोक्षकी अनुभूतिके हेतु भी वह अधिकारी हो पाती है. अतएव ब्रह्मके भीतर लयात्मिका मुक्तिमें भी जीवात्माका स्वरूपनाश नहीं पर ब्रह्मसे अविभक्त स्वरूपापत्ति हो जाती है, उल्लिखित ''घृते घृतं, जले तोयं'' न्यायेन. यह सब ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय और सर्वभवनसामर्थ्य के विचारवश सम्भव माना गया है. जीवके स्वरूप या सामर्थ्य के विचारवश नहीं. इस औपनिषदिक प्रक्रियाके साथ पाञ्चरात्रागमोंमें प्रतिपादित जीवोत्पत्ति स्वीकारी जाये तो वह प्रामाणिक मानी जा सकती है. अन्यथा जीवको जड़की तरह उत्पन्न होता माननेपर तो वेदविरोध प्रसक्त होगा ही, बस यही अभिप्राय

यहां पाञ्चरात्रागममतकी आलोचनाका है, जीवोत्पत्तिके सन्दर्भमें. इस प्रक्रियाके अनुसार पाञ्चरात्रागमोक्त जीवोत्पत्तिकी व्याख्या करनेके बजाय भेदवादाश्रित व्याख्या करनेपर पाञ्चरात्रागमीय जीवोत्पत्ति वेदसे विरुद्ध भी हो सकती है.

इसे लक्ष्यमें रखनेपर पुराणों और महाभारत में उपलब्ध होते उभयविध वचन यथा : "**एवं सम्बोधितो रुद्रो माधवेन मुरारिणा चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः, कापालं लागुडं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमं पाञ्चरात्रं पाशुपतं...**" (कूर्मपुरा.पू.वि.१५।११२-११३) तथा "**पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्**" (महाभा.१२।३३७।६३) इन और ऐसे अन्य भी वचनोंमें झलकते विरोधाभासका परिहार हो जाता है. मूलमें वेदसे अविरुद्ध तत्त्वनिरूपण करनेवाले आगमवचनोंमें भी तत्तन्मतीय पूर्वाग्रहोंके कारण अन्यथार्थबोधनकी सम्भावना रहनेके कारण इन्हें 'व्यामोहक' कहा जाता है. जैसे भगवान्‌की दिव्यशक्तियों (द्रष्ट. : भाग.पुरा.१०।३९।५५) को भी "**परस्य विष्णोः ईशस्य मायिनापि मोहिनीं मायां वेदितुम् इच्छामि... एभिः भूतानि भूतात्मा महाभूतैः... ससर्ज उच्चावचानि आद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये. एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः एकधा दशधा आत्मानं विभञ्जन् जुषते गुणान्**" (भाग.पुरा.११।३।१-४) इस प्रश्नोत्तरीमें 'मोहिनी' माना गया है, तद्वत् आगमवचनोंमें भी कहीं-कहीं वेदविरुद्धतया प्रतीत होनेकी व्यामोहकता प्रकट हो जाती है. परन्तु वेदाविरोधी अभिप्रायपरकता आगमवचनोंकी खोज पानेपर या एकवाक्यता सध जानेपर इन्हीं शास्त्रोंको मोक्षप्रद भी स्वीकारा जाता है.

अगले ४३ वें सूत्रमें 'संकर्षण' पदको आहंकारिक जीवात्मपरक परिसीमित मान करके कर्तासे करणग्रामकी उत्पत्ति स्वीकारनेपर दोष है, ऐसा कहा गया है. अन्यथा कर्ता और करण सभीकी परमात्मासे उत्पत्ति स्वीकारनेपर तो वेदविरोधका समाधान स्वयं पाञ्चरागमोंके विमर्श करनेपर भी सुशक्य ही है.

बादमें आते ४४ वें सूत्रमें भाष्यकार कहते हैं कि परस्पर स्वतन्त्र अनेकेश्वरवाद वेदसे विरुद्ध होता है परन्तु एक परमेश्वरके आधीन दिव्य ऐश्वर्यवान् अनेकविध देवरूपोंका होना वेदसे विरुद्ध नहीं होता. यह कहा भी गया है **"जो देवोंकेलिये प्रकाशित होता है, जो देवोंका पुरोहित होता है, जो देवोंके प्रकट होनेसे पहले प्रकट था, उस ब्राह्मी कान्तिको नमन"** (तैत्ति.आर.३।१३।३) इस वचनमें. फिरभी आगमके वचनोंका अन्यथा अर्थघटन किया जाये तो, वे अवश्य निरसनीय बन जाते हैं. अन्यथा नहीं.

अन्तिम ४५ वें सूत्रमें पाञ्चरात्रागमोंमें आते वेदनिन्दापरक वचन यदि भगवान्के अभिमुख बनानेके प्रयोजनवश कहे-माने जायें तो दोषरूप नहीं होते. अन्यथा वेदनिन्दा दोषरूपा होती है. जैसे **"शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे मन्त्रलिंगैः व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम्. यदा अयम् अनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्", "शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि श्रमः तस्य फलं..."** (भाग.पुरा.४।२९।४५-४६, ११।११।१८) ऐसा भागवतपुराणमें भी कहा ही गया है. यह पुनः स्मारणीय है कि ऐसी वेदनिन्दा स्वयं संहितामें भी ऋचाओंकी की गयी ही है. साथ ही साथ यह भी पुनः अनुसन्धेय होता है कि प्रामाण्यव्यवस्थाके प्रथम तलपर प्रमाणचतुष्टयीके अन्तर्गत श्रीमद्भागवतको सर्वसन्देहवारक माना गया है. तदनुसार भगवान्के चार व्यूह, उनका ध्यान-अर्चन आदि विषयोंमें स्वयं निगमकल्पतरुगलितफलरूप श्रीमद्भागवत आगमशास्त्रोंका प्रामाण्य अंगीकार करती हो तो भागवतप्रामाण्यकी प्रबलताके वश भी आगमशास्त्रोंको वेदान्तमें अप्रमाण माना नहीं जा सकता.

भागवतमें सुपष्ट शब्दोंमें यह निरूपण मिलता है—

"त्वां योगिनो यजन्ति अद्धा महापुरुषम् ईश्वरम्।।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ।।४।।

त्रय्या च विद्यया केचित् त्वां वै वैतानिका: द्विजा: ।।
यजन्ते विततैः यज्ञैः नानारूपामराख्यया ।।५।।
एके त्वा अखिलकर्माणि संन्यस्य उपशमं गता: ।।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ।।६।।
अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिना अभिहितेन ते ।।
यजन्ति तन्मया: त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ।।७।।
त्वामेव अन्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ।।८।।
सर्वएव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।।
येऽपि अन्यदेवताभक्ता: यद्यपि अन्यधिय: प्रभो! ।।९।।
यथा अद्रिप्रभवा: नद्य: पर्जन्यापूरिता: प्रभो! ।।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत् त्वां गतयो अन्ततः ।।१०।।"

(भाग.पुरा.१०।३७।५-१०).

इन कारिकाओंपरकी 'सुबोधिनी' नामिका व्याख्यामें महाप्रभु कहते हैं कि योगमार्गद्वारा आन्तर उपासना करनेवाले, स्मार्त कर्तव्योंके निर्वाहके रूपमें परमात्माके उपासक, विविध देवताओंके यजनरूप श्रौतकर्मोंके रूपमें उस परमात्माके उपासक, ब्रह्मात्म्यैक्यके अनुसन्धानद्वारा ज्ञानमार्गीय उपासक, अन्यान्य प्रणवादिमन्त्रोंके द्वारा उसके उपासक, विष्णुके विविध अवताररूपोंके उसके उपासक, शैवागमोंके अनुसार शिवरूपी परमेश्वरके उपासक, ग्रामदेवता कुलदेवता आदि अनेक क्षुद्र देवोंके रूपोंमे उसकी उपासना करनेवाले; अथवा अपने आराध्य देवको विष्णुसे पृथक् माननेवाले भी, यों सभीके सभी उसीकी उपासना करते हैं. पर्वतोद्भूता नदी हो या वर्षाके जलसे बहती नदी हो, सभी नदियां अन्तमें तो सागरमें ही लीन होती हैं, ऐसे ही सभी उपासना अन्तमें तो भगवान्में ही पर्यससित होती हैं.

अतएव श्रीमद्भागवतके स्वरूपनिरूपणतया महाप्रभु कहते हैं

''आत्मोद्धारके उपायरूप प्रमुख पांच 'श्रुति-सांख्य-योग-पशुपति-वैष्णव' नामक मुख्य शास्त्र हैं. इन सभी शास्त्रोंको अपने अंगके रूपमें धर्मशास्त्रोंकी अपेक्षा रहती है. इनमें यह भागवतपुराण वैष्णवशास्त्र है'' (भाग.सुबो.१।२।२८-२९). इस वचनके अवलोकन करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं न कहीं महाप्रभु वैष्णवागमोंके द्वैविध्यको ध्वनित करना चाहते हैं : एक आगमिक वैखानस-पाञ्चरात्ररूप और दूसरा पौराणिक स्वयं श्रीमद्भागवतरूप. अतएव भागवतके एकादशस्कन्धके—

> ''वैदिक कर्मयोगके निर्धारके बाद अब सुगम सार्वजनीन तान्त्रिक कर्मका निर्धार करनेको... जो सांख्य आदि शास्त्र प्रवृत्त हुवे उनमें शीघ्र ही हृदयकी सारी ग्रन्थियोंका विभेदक वैष्णवागम होता है. इस वैष्णवागमके अनुसार कर्मानुष्ठान करनेवालेको भी भगवान्‌की विभिन्न विभूतियोंको भजनेके बजाय साक्षात् परमात्मको भजनेकी विधि अपनानी चाहिये. यहां तात्पर्य पुष्टिभक्तिमार्गीय प्रणालीसे भगवान्‌को (अपने चिदंशभूत जीवात्माके भीतर बिराजमान आनन्दरूप परमात्माके अनुग्रहके अनुभावरूपेण अपने भजनके सामर्थ्यको निहार कर) भजनमें प्रवृत्त होनेका है. इस पुष्टिमार्गीय प्रणालीसे भगवान्‌का भजन करने असमर्थ तन्त्रोक्त प्रणालीसे भी श्रीकृष्णका ही भजन करे; अथवा दोनोंके समुच्चयपूर्वक भजन करे. कैसे भी करे भजन पर केशवका ही करना चाहिये... उपनीत द्विजको आचार्य बनानेपर भजनके निर्देशन प्राप्त करनेमें वेदके प्रतिकूल जानेकी भीतिका निवारण किया जा सकता है. भजनकी रीति समझानेवाले आचार्यका भी यह कर्तव्य होता है कि पञ्चरात्र आदि आगमोक्त प्रणालीका अनुसरण करे. महापुरुष या पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी कैसी मूर्तिको भजना इस बारेमें भजनकर्ताका स्वभाव ही नियामक बन जाता है''.
>
> (भाग.सुबो.११।३।४८)

एतावता यह सिद्ध हुवा कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको अभिप्रेत, श्रीमद्भागवत महापुराण(द्रष्ट. : भाग.पुरा.३।९।४२)में वर्णित भगवल्लीलासे अनुप्रेरित पुष्टिभक्ति, जो अपने मूलरूपमें तो आत्मपरमात्मभावमूलक औपनिषदिक (द्रष्ट. : बृह.उप.४।६।६) निरुपाधिक निर्हेतुक स्वतःसिद्ध विध्यगोचर निर्गुणा भक्ति ही है, वही श्रीकृष्णके भजनार्थ सर्वोत्तमा मानी गयी है. फिरभी पाञ्चरात्र आगमविहित मर्यादाभक्तिको भी पुष्टिभक्तिके पुराणविहित नवधा भक्तिमें संमिश्रित कर आनुषंगिकतया अथवा अनुकल्पतया अनुसरना अनुमत माना गया है.

यहां एक सन्देह यह उभरता है कि तब महाप्रभुके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणने **"मन्त्रोपासन-वैदिक-तान्त्रिक-दीक्षार्चनादि-विधिभिः यो अस्पृष्टो रमते"** (भक्तिहं.२) वचनमें भगवान्को मन्त्रोपासना वैदिक या तान्त्रिक दीक्षा अर्चना आदिकी विधिसे भगवान्को प्राप्यतया साध्यतया उद्देश्यतया या विधेयतया अस्पृष्ट क्यों कहा? समाधानतया दो बातें समझ लेनी आवश्यक हैं कि यह निरूपण :

१.भजनीय परमात्माके सर्वातिशायी स्वातन्त्र्यके प्रतिपादनार्थ है नकि भक्तिभावके वैसे उत्कर्षके अभावमें इन विधिओंके बन्धनसे भजनकर्ता जीवोंके स्वातन्त्र्यके प्रतिपादनार्थ.

२.विविध शास्त्रोंके अनुसार जो जीवगण सुसाधन निःसाधन या दुष्टसाधन होते हैं, उनकेलिये शास्त्रनिरूपित सुफल नैष्फल्य या दुष्फल की नियति प्रमाणबलसे निश्चित होनेपर भी कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थ भगवान्के प्रमेयबल या कृपाबल के विचारसे उसे नियति मानना अनिवार्य नहीं.

यह जतानेको भी ऐसा मंगलाचरण किया गया है. जैसाकि

भक्तिहंसकारके ही शब्दोंमें देखना हो तो "न स्वाध्यायबलं न यागजबलं नोवा तपस्याबलं नो वैराग्यबलं न योगजबलं नापि उक्तभक्तेः बलं नैव ज्ञानबलं नच अन्यदपि यत् किञ्चिद् बलं मे अस्ति किन्तु अद्य श्वोऽपि यदा तदा तव कृपाकूतेक्षणं मे बलम्","शास्त्रं नियामकं तावद् यावत् पूर्णा कृपा न ते, त्वत्कृपापरिपूर्णस्य नैव कोऽपि नियामकः" (नवविज्ञ.८।९,३।६) तथा "निःसाधनफलात्मा अयं प्रादुर्भूतो अस्ति गोकुले अतो वयं सुनिश्चिन्ताः जाताः सर्वतएव हि" (सुबो.टिप्प.१०।५।२८). अतएव वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्रामाण्यव्यवस्थाके चतुर्थ तलपर अर्थात् अवतीर्ण भगवत्स्वरूपके निःसाधनफलात्मा होनेके निरंकुश सामर्थ्यके उद्बोधनतया ही यहां ऐसा निरूपण किया गया है. अतएव महाप्रभु, निज सम्प्रदायमें श्रीकृष्णकी अनन्या भक्ति और प्रपत्ति के बारेमें किसी समझोता न करनेके दृढ़ाग्रहके बावजूद, अपने अनुगामिओंको पुष्टिभक्ति असाधारण उपादेयता समझानेसे पहले 'बालबोध' नामक ग्रन्थमें निजात्मावलम्बी सांख्य और योग साधना एवं परमात्मावलम्बी पाशुपत और वैष्णव साधना, इनके द्वारा मोक्षप्राप्ति स्वीकारते हैं : "चार शास्त्र मोक्षप्रापक माने जाते हैं... इनमें सांख्य और योग शास्त्र जीवात्माको निजाश्रित मोक्षके प्रदायक होते हैं... सांख्यकी विवेकख्यातिकी प्रक्रियाके अनुसार वैराग्य सिद्ध होनेपर जीव जब स्वरूपस्थ हो जाता है तो वह कृतार्थ हो जाता है... इसी तरह योगके परिपक्व होनेपर भी जीव कृतार्थ हो जाता है. पराश्रित मोक्ष पानेके भी दो प्रकार हैं. .. स्वयं सर्वात्मक ब्रह्मने ही जगत्के हितकारक बननेको शिव और विष्णु रूपी मोक्षप्रद रूप धारण किये हैं, अतः उनमें से किसी भी एककी भक्ति और/अथवा शरणागति करनेपर भी मोक्ष प्राप्त होता है" (बा.बो.५-१२). अतएव तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें भी जो पुष्टिभक्ति निभाने समर्थ न हों उन्हें अनुकल्पतया पाञ्चरात्रागमिक पूजाविधानवाले देवालयोंमें, उदाहरणतया, श्रीजगन्नाथ पांडुरंग श्रीविठ्ठलनाथ श्रीरंगनाथ श्रीतिरुपति श्रीबद्रीनाथ श्रीद्वारकानाथ श्रीवरदराज सदृश देवमूर्तिओंके नित्य पूजनके स्थलोंपर अथवा गंगादि तीर्थोंमें रह कर प्रपत्तिमार्गके अनुसरण करनेकी आज्ञा देते हैं (द्रष्ट. : त.दी.नि.२।२५५

साध.दीपि.३६-३७). इस तरह महाप्रभु और उनके आत्मज प्रभुचरण के प्रतिपादनोंमें कहीं कोई विरोधाभास नहीं. अतएव गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण द्वारा निज जनकप्रवर्तित पुष्टिभक्तिकी प्रणालीके अन्तर्गत भजनके प्रकारविस्तारमें अधिकाधिक उत्सव आदिके अनेकानेक विधि-विधान पाञ्चरात्रागमोक्त ही अपनाये गये हैं, पुष्टिभक्तिके आनुकूल्येन.

(८.उपसंहार)

इसके अलावा पाञ्चरात्रागमोंके विशिष्ट विषयतया भगवत्स्वरूपके [१]पर [२]व्यूह [३]विभव [४]अर्चा [५]अन्तर्यामी रूपी जो पञ्चविध प्रभेद प्रतिपादित हुवे हैं और इनकी आराधनाके भी जो प्रकारभेद प्रतिपादित हुवे हैं, वे भी श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराणकी परम्परासे अविपरीत ही हैं. विशेषतः श्रीमद्भागवतपुराणमें भी ऐसा प्रतिपादन उपलब्ध होनेसे वाल्लभ वेदान्त, अपनी भागवतनिष्ठाके अनुरूप, हृदयपूर्वक इन्हें अंगीकरणीय मानता ही है. इस बारेमें अन्यभी सभी स्रोतोंसे वचनोंके संकलन और तात्पर्यान्वेषण करनेपर इसे भी सुनिर्धारित किया जा सकता है. विस्तारभीतिवश, किन्तु, इसकी विवेचनामें उतरनेके बजाय संकेतमात्र ही कर देना उचित होनेसे इस आलेखपत्रको यहीं उपसंहृत करते हैं. इति शम्.

अनुद्धृत आधारभूत वचनावली

[१] किंस्विद् आसीद् अधिष्ठानम्? आरम्भणं कतमत्स्वित्? कथा आसीत्? यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्याम् और्णत् महिना विश्वचक्षाः? विश्वतश्चक्षुः उत विश्वतोमुख! विश्वतोहस्तः उत विश्वतस्पात् सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देवः एकः! किंस्विद् वनं क उ स वृक्षः आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा पृच्छत इदु तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्!... यो देवानां नामधा एकएव (ऋक्संहि.१०।८१।२-४...८३।३), इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति

अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः (ऋक्संहि.१।१६४।४६).

[2] सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते (तैत्ति.आर.३।१२।७), (नाम-रूपं-कर्म) तदेतदत् त्रयं सद् एकम् आत्मा आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम् (बृह.उप.१।६।३).

[3] नहि इदम् अतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनम् आगमम् अन्तरेण उत्प्रेक्षितुमपि शक्यं, रूपाद्यवाभाद् हि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावात् च न अनुमानादीनाम् इति च अवोचामः (ब्र.सू.शां.भा.२।१।११). शब्दब्रह्मव्यतिरेकेन परब्रह्मणः प्रकाशनं भवति. शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाशते स्वप्रकाशमपि (भाग.सुबो.३।१२।४६). वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, न अनुमादिप्रमाणान्तनिर्वृत्ता. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन् न निवार्यते, श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपेतत्वात्... न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादयएव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायां किन्तु श्रुत्यादयो अनुभवादयः च यथासम्भवमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वात् च ब्रह्मज्ञानस्य (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२). महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य (पुराणन्यायमीमांसादयो दश विद्यास्थानानि भाम.१।१।३)... अथवा यथोक्तं ऋग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणम् अस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे. शास्त्रादेव प्रमाणाद् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्म अधिगन्तव्यम् (ब्र.सू.शां.भा.१।१।३). किञ्च वेदान्ताः किं वेदशेषाः वा वेदाः वा? नाद्यो अनुपयोगाद् अनारभ्याधीतत्वेन तदुपयोगित्वे पूर्वकाण्डविचारेणैव गतार्थत्वं विद्याप्रवेशः च. न द्वितीयो यज्ञाप्रतिपादनाद् मन्त्रब्राह्मणत्वाभावात् च... अस्ति तावद् वेदत्वम् अध्ययनादिभ्यः स्मरणात् च. प्रमाणञ्च सर्वोऽपि वेदः स्वार्थे. सच न यज्ञः चेद् ब्रह्म भवतु. नच एतावता अवेदत्वम् अतिप्रसंगात्. शक्यते हि अग्निहोत्रादीनाम् अन्यतरद् अनन्तभार्वव्य तथा वक्तुम्. तस्माद् ब्रह्मापि प्रतिपादयन्तो वेदान्ताः वेदत्वं न व्यभिचरन्तीति... पूर्ववैलक्षण्यन्तु भूषणाय, काण्डद्वयस्य अन्यान्योपकारिकारित्वाय साधारणग्रहणम्... तस्मात् शास्त्रयोनित्वं सिद्धम्... अनधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रमाणस्य...

सन्देहवारकत्वात् च शास्त्रस्यापि तदंगत्वम् (ब्र.सू.वा.भा.१।१।२). प्रमाणचतुष्टये श्रुतिः-सूत्राणि एका कोटिः, गीता-भागवतं च अपरा स्पष्टैव. तत्र उभयत्र प्रमेयभेदाभावे द्वयनिरूपणार्थं भेदे विरोधइति कथम् एकवाक्यता ? इति आशंक्य द्वयं समर्थयितुम् आह यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे, ब्रह्मतनुः परे, अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवते ईर्यते, सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानांगम् ईर्यते. पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिः तथा. ''यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः'' इति श्रुतेः ज्ञानक्रियोभययुतः सर्वेषाम् अर्थः. क्रियारूपो यज्ञात्मा पूर्वकाण्डार्थो ज्ञाने प्रविष्टो, ज्ञानात्मा ब्रह्मरूपः उत्तरकाण्डार्थः. 'तनु'शब्दः साकारब्रह्मप्रतिपादनाय 'परे' उत्तरस्मिन् काण्डे. क्रिया ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य यो अवतीर्णः कृष्णः स श्रीभागवते विशिष्टो निरूप्यते. अतः खण्डशो निरूपणं वेदे, भागवतेतु समुदायेन निरूप्य तस्य लीलाः अनेकविधाः निरूप्यन्तइति एकार्थत्वेऽपि पृथग्वचनं युक्तम् इति अर्थः... साधनरूपः फलरूपः च स्वयमेवेति एकवाक्यता (त.दी.नि.प्र.१।११-१२).

४ कल्पे अस्मिन् सर्वमुक्त्यर्थम् अवतीर्णस्तु सर्वतः सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसंगाद् आह पाण्डवे... सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतया उदितः... भगवति वेदार्थएव परं गुप्तो भगवदिच्छया यदा पुनः सर्वोद्धारार्थं प्रयत्नं कृतवान् तदा परम्परायाः अभावाद् नान्यैः व्यासैः वक्तुं शक्यतइति व्यासासतारः... स इदानीन्तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः तद्व्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवता उदितं... तर्हि पञ्चरात्रवत् स्वतन्त्रता भवतु इति आशंक्य आह विश्वासार्थं — आगमापेक्षयापि लोकानां पुराणे विश्वासः — पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम् — तद्धि उपासनाविधायकम्. अन्यमपि हेतुम् आह — प्रतिपाद्येशलीलायाः — ईशलीला सर्गादिरूपा... — पुराणार्थन्तु अतः परम्... कालादिधर्महेतूनाम् अभावात् साम्प्रतं कलौ वेदस्मृतिपुराणानाम् अर्थाः सर्वे हि बाधिताः... भागवतस्तु न तान् अपेक्षते नित्यत्वात् सर्वाधिकारत्वात् सुलभत्वात् च (त.दी.नि.प्र.२।६३-६९), इति इदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः... एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतो अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति (त.दी.नि.३।१।६-११).

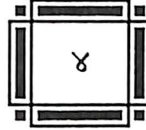
५ वेदाः — शब्दएव प्रमाणं तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं

प्रमाणम्. वेदाः सर्वे काण्डद्वयस्थिताः अर्थवादादिरूपाअपि. स्मृतित्वेन कृष्णवाक्यानि वेदत्वेऽपि पृथग् उक्तानि. व्याससूत्राणि — 'च'काराद् जैमिनिसूत्राणि च... समाधिभाषा व्यासस्य — व्यासस्य समाधिभाषा भागवतं... यावत् समाधौ स्वयम् अनुभूय निरूपितं सा समाधिभाषा. एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं सत् प्रमाजनकं... ननु चतुर्णा क्व उपयोगः ? एकेनैव चरितार्थत्वात् इति आशंक्य आह उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् अविरुद्धन्तु यत्तु अस्य प्रमाणम्. तच्च नान्यथा. एतद्विरुद्धं यत् सर्वं न तद् मानं कथञ्चन (त.दी.नि.प्र.१।७-८).



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



मनुस्मृतिकी दार्शनिक धारणा

नारायणः परोऽव्यक्ताद् अण्डम् अव्यक्तसम्भवम्।
अण्डस्यान्तस्तु इमे लोकाः सप्तद्वीपाश्च मेदिनी॥

(उपक्रम)

मनुस्मृति ग्रन्थकी दार्शनिक धारणाओंके विमर्शार्थ प्रवृत्त होना हो तो इस अनुभूयमान जगत्‌की उत्पत्तिसे पूर्व, ग्रन्थवर्णित, अप्रज्ञात अलक्षण अप्रतर्क्य अविज्ञेय सर्वतः प्रसुप्तोपम तमोभूत अवस्थाका; उस अव्यक्त स्वयंभू भगवान, जो तमोपनोदनद्वारा महाभूतादिको प्रकट करनेमें समर्थ है, के साथ क्या-कैसा सम्बन्ध है उसकी मीमांसा करनी चाहिये.

(परिभाषा तथा संगति)

विषयोपक्रमगत सुविधाके हेतु पूर्ववर्णित अवस्थाको हम 'मूलावस्था' कहे और सृष्टिकर्ता स्वयंभू भगवान्‌को 'ब्रह्म' कहे तो इस मूलावस्थाका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध द्वैत या अद्वैत या द्वैताद्वैत अथवा द्वैताद्वैतविलक्षण-तादात्म्यघटित है, यह प्रस्तुत मीमांसाका विषय है.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी दार्शनिक धारणा, जो 'शुद्धाद्वैतवाद' नामसे विख्यात है, द्वैताद्वैतविलक्षण तादात्म्यवादकी पोषक है. अतः

वाल्लभदृष्टिकी प्रासंगिकता सिद्ध होती है.

(व्यावर्त्यदृष्टि)

१. मूलावस्था तथा ब्रह्म के बीच विजातीयद्वैतघटित सम्बन्धकी कल्पना प्रस्तावित की जा सकती है. जैसे जड़ मिट्टी तथा चेतन कुम्भार के बीच विजातीयद्वैत रहता है तथा कुम्भार मिट्टीमेंसे घडा बनाता है.

२. इन दोनोंके बीच सजातीयद्वैतघटित सम्बन्ध भी सोचा जा सकता है. जैसे विभु तथा जड़ आकाशमें मूर्त जड़ द्रव्य घटादि उत्पन्न-स्थित-नष्ट होते हैं.

३. इन दोनोंके बीच स्वगतद्वैतघटित सम्बन्धकी कल्पना भी सम्भव है. जैसे गर्भवती स्त्रीके उदरमें शिशु रहता है. उससे भिन्न फिर भी उसके भीतर तथा उसपर निर्भर. इसी तरह वह मूलावस्था भी ब्रह्मके गर्भमें ब्रह्मभिन्न होनेपर भी ब्रह्मनिर्भर थी ऐसी बात भी सोची जा सकती है.

इस प्रकारकी द्वैतघटित व्याख्याओंके निषेधार्थ 'द्वैत'के साथ 'नञ्' विन्यास करके अद्वैतकी कल्पना भी की जा सकती है. इसके भी पुनः दो प्रकार सामने आते हैं:

४. जैसे शुक्तिपर भ्रमवृत्तिभात रजत सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या होती है, वैसे ही ब्रह्मरूप अधिष्ठानपर यह मूलावस्था आविद्यक आवरण और / अथवा विक्षेपरूपतया भ्रमवृत्तिभात मिथ्यारोपित थी. और उस अज्ञानावच्छिन्न विशुद्धचिन्मात्र निर्गुण ब्रह्म अथवा ऐसे आवरणोपहित विशुद्धचिन्मात्र निर्गुण ब्रह्मके विवर्तोपादानतया तथा आवरणप्रयुक्त विक्षेपरूप सगुण ईश्वरके परिणाम्युपादानतया कारण बननेपर वह कार्यरूप द्वैतप्रपंच प्रकट हुवा. ऐसा मायिक द्वैत भी सोचा जा सकता है.

शांकरसम्प्रदायानुसारी मनुस्मृतिके व्याख्याकार राघवानन्द तथा गोविन्दराज कुछ ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत करना चाहते हैं.

५. द्वैतके निषेधका एक अन्य प्रकार उसे सदसद्विलक्षण मिथ्या माननेके बजाय असद्रूप मानकर भी सम्भव है. जैसे ''चैतन्यं पुरुषस्य धर्मः'' अथवा ''अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः'' में वस्तुदृष्ट्या भेद जैसा कुछ भी न रहनेपर द्वैतघटित सम्बन्ध या भेद का भास होता है, शब्दकी प्रमाणवृत्तिसे नहीं किन्तु विकल्पवृत्तिसे. ''शब्दज्ञानानुपाति वस्तुशून्यो विकल्पः'' (पा.यो.सू.१।९)के भाष्य तथा तत्त्ववैशारदी द्वारा इसी विकल्पवृत्तिका स्वरूप भली भांति समझा जा सकता है.

६. मूलावस्था और ब्रह्म के सम्बन्धको द्वैताद्वैतघटित सम्बन्ध भी माना जा सकता है. मनुस्मृतिव्याख्याकार कुल्लूक भट्टके अनुसार मनुस्मृतिकी दार्शनिक धारणा श्रीभास्कराचार्यके भेदाभेदवादका ही समर्थन करती है.

इतनी विविध सम्भावनाके होते द्वैताद्वैतविलक्षण तादात्म्यका समर्थन, यदि मनुस्मृतिवर्णित मूलावस्था और ब्रह्मके बीच, स्वीकारना हो तो सर्वप्रथम यह तादात्म्यवादको ही थोडे-बहुत संक्षेपमें समझ लेना अनुचित न होगा.

(द्वैताद्वैतविलक्षण तादात्म्य)

''द्वैताद्वैतविलक्षण तादात्म्य'' पद ''द्वैताद्वैत''पदघटित है. तथा वह द्वैत और अद्वैत के द्वन्द्वसे घटित है. 'अद्वैत'पद पुनः 'द्वैत'पदके साथ नञ्समाससे निष्पन्न होता है. अतः सर्वमूल द्वैतका स्वरूप सर्वप्रथम हमारे लिये मीमांस्य बन जाता है.

'द्वैत'पदकी व्युत्पत्ति वस्तुदृष्टिसे ''द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतम्'' दी जाती है. तथा बोधदृष्टिसे ''द्विधा इतं ज्ञातं द्वीतं, द्वीतस्य भावो द्वैतम्'' भी शक्य है.

वस्तुदृष्टिवाली अथवा बोधदृष्टिवाली किसी भी व्युत्पत्तिका अवलंबन करनेपर वस्तुमें द्वित्व संख्या या कर्म स्वतएव अन्यनिरपेक्षतया सिद्ध

नहीं होता. अतएव कहा जाता है: **''अयमेकः अयञ्च एकः इमौ द्वौ.''** केवल द्वित्वादि संख्या ही नहीं अपितु एकत्व भी किसी वस्तुमें सर्वथा निरपेक्ष प्रत्ययद्वारा भासित नहीं होता. उदाहरणतया शाखा एवं पत्रों पर दृष्टि रखनेपर वृक्षको 'एक' नहीं कहा जा सकता. शाखापत्रादिमान् अवयविकी अपेक्षासे ही किसी वृक्षको 'एकवृक्ष' कहा जा सकता है. यह निरवयव परमाणु अथवा विभु आकाश द्रव्य के बारेमें भी इतना ही सच है. किन्हीं दोके विरोधाभासमें ही किसी वस्तुमें उसके एक होनेका प्रत्यय उत्पन्न होता है, अन्यथा स्वतएव नहीं. अतएव श्रीशंकराचार्य भी यह कहते हैं: **''न चैकं ततो अन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद्?''**

ऐसी स्थितिमें यदि 'द्वैत'को एकत्वके अत्यंताभावके रूपमें परिभाषित किया जाये अथवा 'अद्वैत'को ''द्वैत''के अत्यंताभावके रूपमें परिभाषित किया जाये तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिये कि अभावप्रतियोगि ज्ञान सापेक्ष होता है. वह प्रतियोगि भी यदि पुनः सापेक्षप्रत्ययद्वारा ही भासित होता हो तो द्वैत या अद्वैत दोनों ही सापेक्षप्रत्ययद्वारा भासित वस्तुधर्म या ज्ञानप्रकार सिद्ध होते हैं. और इस सापेक्षताके सिद्ध होनेपर जहां द्वैत (एकत्वात्यंताभावरूप)में भासित होता है वही द्वैतात्यंताभावरूप (अद्वैत) भी भासित हो सकता है. अतः एकत्व और द्वित्व अपेक्षाभेदसे एक ही वस्तुमें भासित हो सकते हैं. पर दोनोंमें किसी भी एकका तथा परिभाषित उभयविध 'अत्यंताभाव' वस्तुसंवादी प्रत्यय नहीं होता. अतः 'वन्ध्यापुत्र' या 'वर्तुलचतुष्कोण' जैसे अर्थात् शब्दज्ञानानुपाति वस्तुशून्यात्मिका विकल्पवृत्तिद्वारा भासित होते प्रत्ययोंकी कोटिके ये प्रत्यय हैं — यह सिद्ध हो जाता है.

जब 'द्वैत' और 'अद्वैत' प्रत्यय इतरेतर-अत्यन्ताभावके रूपमें वस्तुसंवादी प्रत्यय सिद्ध नहीं होते तो इनके द्वन्द्वोंको तो स्वतोव्याहत सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती.

वस्तुसंवादी अनुभूतिमें गोचर होते द्वैत और अद्वैत बहुत ही लचीले सापेक्ष प्रत्यय हैं. शाखाप्रत्ययदृष्ट्या द्वैत; और शाखापत्रमान् वृक्षरूप अवयविदृष्ट्या अद्वैत-एकता यह सर्वजन-स्वानुभवसिद्ध प्रत्यय है.

सुवर्ण तन्निर्मित आभूषणके बीचमें यदि आत्यन्तिक अद्वैत होता तो सभी सुवर्णकारोंको भूखे मरना पड़ता! इसी तरह सुवर्ण और तन्निर्मित आभूषणों में आत्यन्तिक द्वैत होता तो आभूषणका मूल्य सुवर्णमूल्यानुपाति क्यों माना जाता?

अतः उपादानोपादेय अंशांशि आकृति-द्रव्य क्रिया-क्रियावान बुद्धि-प्रत्यय अवयवावयवि के बीच जो सम्बन्ध होता है उसकी व्याख्या आत्यंतिक एकत्व-द्वित्व या आत्यंतिक द्वैत या अद्वैत में सम्भव नहीं है. इस अर्थमें ही दोनोंके बीच रहे सम्बन्धको द्वैताद्वैतविलक्षण तादात्म्य माना जाता है.

इसे गणितकी भाषामें कहें तो यह तादात्म्य न तो (१x0 = 0) सम शून्यवादी अद्वय है और न (२-१ = १)सम केवलाद्वैतवादी अद्वैत है. यह (१ = अनन्त, अनन्त = १) है. वस्तुदृष्ट्या एक द्रव्यका अनेक नामरूपोंमें व्याकरण है तथा बोधदृष्ट्या अनेकतामें एकत्वका अनुदर्शन. अनुवादमें मूल बाधित नहीं होता. यह तादात्म्य भावरूप अभेद है जिसे वाचस्पति भामती (तदनन्यत्वाधिकरण)में ''अनन्यत्वमिति न अभेदं ब्रूम किन्तु भेदं व्यासेधामः'' कहकर 'अभेद' पद द्वारा अभिहित करते हैं.

(प्रसिद्ध प्रत्ययतया सम्भावना)

इस तादात्म्यरूप अभेदको ब्रह्म एवं जगत के बीच कोई मान्य करे या न करे पर, केवलाद्वैतियोंको भी माया तथा मायिक जगत

को तो मान्य करना ही पड़ता है. अन्यथा ब्रह्मज्ञानसे माया निवृत्त होनेपर भी मायिक जगत निवृत्त नहीं हो पायेगा. इसी तरह केवलद्वैतवादियोंको भी परमेश्वर तथा उसके गुण-कृतिके बीच यह तादात्म्य स्वीकारना ही पड़ता है, प्रमावृत्तिगोचरतया अथवा भ्रमवृत्तिगोचरतया. किसी भी सूरतमें इस दोनोंमेंसे कोई भी विकल्पवृत्तिगोचर प्रत्यय नहीं कह पायेगा.

जैसे शांकरमतमें सत् असत् एवं सदसत्से भी अतिरिक्त सदसद्विलक्षणता एक चतुर्थकोटि मानी जाती है, ऐसे ही तादात्म्य एकात्यंताभाव द्वित्वात्यंताभाव तथा इनके द्वन्द्वसे अतिरिक्त चतुर्थ एक भावरूपा कोटि है. वाल्लभभाष्यके प्रमुख व्याख्याकार गो.श्रीपुरुषोत्तमजी इसे 'अमित्र' पदकी उपमा द्वारा समझाते हैं. अमित्र जैसे न तो मित्र होता है और न मित्रका केवल अभाव ही. क्योंकि वह तो पत्थर-पेड़ सभी जगह कहा जा सकता है. 'अमित्र' हम उसे कहते हैं जो कोई मित्र बन पाये ऐसा व्यक्ति हो परन्तु हमारा मित्र न हो.

(प्रामाणिक प्रत्ययतया सिद्धि)

ब्रह्म एवं उसकी जगत्कारणता, जैसा कि शंकराचार्यप्रभृति सभी वेदान्ताचार्योंको आग्रहिलतया अभिमत है, श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-इतिहास आदि शास्त्रप्रस्थानोंसे ही सिद्ध होनेवाले प्रमेय हो तो हमारे लिये विचारकृत्य यही शेष रह जाता है कि ऐसा द्वैताद्वैतविलक्षण तादात्म्य शास्त्रवचनोंके तात्पर्यालोचनसे मूलावस्था तथा ब्रह्म के बीच सिद्ध होता है कि नहीं. प्रस्तुत प्रसंगमें अतएव वह मनुस्मृतिके वचनोंकी खींचतान बिना की गई सीधी व्याख्यासे सिद्ध होता है कि नहीं?

(अविरोधसिद्धि)

एकबार यदि यह तादात्म्यघटित सम्बन्ध जड़-जीव-ईश्वरात्मक जगत् तथा ब्रह्म के बीच सिद्ध हो जाये तो शास्त्रमें उपलब्ध होते

परस्पर विरोधाभासी द्वैतप्रतिपादक तथा अद्वैतप्रतिपादक वचनोंका समन्वय एवं अविरोध स्वतएव सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि शास्त्र जब 'द्वैत'की बात करता है तो एकत्वात्यंताभावके रूपमें नहीं. तादात्म्यके प्रत्ययमें 'द्वैत' 'अद्वैत' दोनों ही लचीले प्रत्ययकी तरह अन्तर्भासित होते हैं. अतः किसी भी वचनकी व्यर्थ ही गौणार्थकल्पनामूलक व्याख्याके अपराधसे भी बचा जा सकेगा. इस गौणार्थकल्पनाको केवलाद्वैतवादी श्रीशंकराचार्य तथा केवलद्वैतवादी श्रीमध्वाचार्य दोनों ही शास्त्रापराध मानते हैं (द्रष्टव्य ब्र.शां.भा. १।१।७). **"अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो द्रष्टः न च एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणीकल्पना न्याय सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगात्." "एकस्यापि शब्दस्य गौणार्थस्वीकृतौ सतां महती जायते लज्जा यत्र तत्र अखिला रवाः अमुख्यार्था इति वदन् यः तन्मार्गानुवर्तिनां कथं न जायते लज्जा वक्तुं शाब्दत्वम् आत्मनः?"**

(मनुस्मृतिकारका सम्प्रदाय)

श्रीशंकराचार्यकी षण्मतप्रतिष्ठापक आचार्यके रूपमें लोकप्रसिद्धि है. यह छह मत सूर्य, शिव, शक्ति, गणपति, कार्तिकेय एवं विष्णुकी उपासनाप्रणालीके रूपमें माने जाते हैं. मनोहारिणी भावपरिपूर्ण स्तुतियां भी, अतएव, श्रीशंकराचार्यविरचित अनेक प्रसिद्ध है. इनमें ब्रह्मकी प्रधानोपास्य देवके रूपमें गणना हुई नहीं हैं. प्राचीनकालमें वैखानस सम्प्रदाय, जो सम्भवतः श्रीशंकराचार्यके अवतारसे पहेलेही विलुप्त हो चुका था, ब्रह्माकी प्रधान-देव रूपमें उपासना होती थी ऐसा माना जाता है.

मनुस्मृति ऐसे ही किसी सम्प्रदायका पोषक ग्रन्थ है यह इसमें सृष्टिके जनक, पालक तथा संहारक देवकी तरह ब्रह्म-विष्णु-शिवकी त्रिपुटीको मान्य करनेवाले वचनके उपलब्ध न होने से अनुमान होता है. सभी कार्योंके हेतु इस ग्रन्थमें परमेश्वरके ब्रह्मावाचक नाम ही

प्रयुक्त हुए हैं: स्वयंभू हिरण्यगर्भ परमेष्ठि प्रजापति आदि. न केवल इतना ही अपि तु प्रसिद्ध 'नारायण' पद जो अन्यत्र विष्णुका वाचक माना गया है उसे भी ब्रह्माके अर्थमें ही व्युत्पत्तिघटन द्वारा ले लिया गया है. शैवसम्प्रदायमें जैसे शिव-सदाशिव-परमशिव रूप उत्तरोत्तर उत्कृष्ट शिवके रूप मान्य हुवे हैं; अथवा वाल्लभसम्प्रप्रदायमें जैसे गुणावतार विष्णु समष्टि अन्तर्यामि ब्रह्माण्डमूर्ति नारायण एवं क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण यों तीन रूप मान्य हुवे हैं. ऐसे ही मनुस्मृतिमें भी स्वयं भगवान्, सर्वलोकपितामह ब्रह्मा तथा सर्वलोकपिता मनु यों तीन रूप मान्य हुवे हैं. अन्तिम बारहवे अध्यायमें परतत्त्वके अनेक नाम-रूपोंको गणनाप्रसंगमें भी अग्नि मनु प्रजापति इन्द्र प्राण या शाश्वत ब्रह्म के उल्लेखमें शिव शक्ति गणपति कार्तिकेय सूर्य एवं विष्णु का अनुल्लेख मनुस्मृति ग्रन्थके श्रीशंकराचार्यभिमत षण्मतसे पृथक् किसी ब्राह्मसम्प्रदायके पोषक होनेकी धारणाको पुष्ट करता है.

इस स्पष्टीकरणका प्रयोजन यही है कि वाल्लभदृष्टिसे मनुस्मृतिके शुद्धाद्वैतवादके पोषक होनेके प्रतिपादनमें हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि यह ग्रन्थ वैष्णव सम्प्रदाय या भक्तिमार्गीय साधनाका उपदेशक ग्रन्थ है. द्वैतवादी द्वैताद्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवादी विशेषाद्वैतवादी चिन्तक जैसे वैष्णव सम्प्रदायमें हुवे हैं उसी तरह शैवसम्प्रदायमें भी हुवे हैं. इसी तरह ब्रह्मसम्प्रदाय यदि जीवित रह पाता तो उसमें भी ऐसे सम्प्रदायभेद उठ खडे हो सकते थे. इसे ही लक्ष्यमें रखकर हम यह कहना चाहते हैं कि मनुस्मृति ब्राह्मसम्प्रदायके अन्तर्गत शुद्धाद्वैतवादकी दार्शनिक विचारधाराका पोषक ग्रन्थ है.

(वाल्लभ शुद्धाद्वैतवाद कृष्णभक्त्यर्थ है तथा मानव शुद्धाद्वैतवाद वर्णाश्रमधर्मार्थ)

प्रसंगवशात् यह स्पष्ट कर देना यहां अनुचित न होगा कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैत श्रीकृष्णकी पुष्टिभक्तिकी नींवके रूपमें प्रस्थापित

किया गया है जबकि मनुस्मृतिप्रोक्त शुद्धाद्वैतवाद वर्णाश्रमधर्माचारकी नींवकी तरह प्रस्थापित हुवा है.

अतः जैसे वाल्लभ उपदेशमें वर्णाश्रमधर्मका भी निर्वाह श्रीकृष्णकी पुष्टिभक्तिके अंगत्वेन यथाप्राप्त मान्य हुवा है, उसी तरह मानव उपदेशमें ज्ञानप्रधान कर्मका उपदेश भी वर्णाश्रमधर्मके अंगत्वेन ही मान्य है अन्यथा नहीं.

गीता तथा भागवतादि प्रस्थानोंपर अवलंबित कर्म-ज्ञान-भक्तिके परस्पर समुच्चयके रूपमें या स्वातन्त्र्येण यहां पृथक्मार्ग होनेका कोई भी वचन यहां स्पष्टतया उपलब्ध नहीं होता प्रत्युत मोक्षोपयोगि ज्ञान भी वर्णाश्रमसम्बन्धी देहाभिमानोंपर अवलंबित होकर ही साधनत्वेन विहित हुवा है. "**ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणम्, वैश्यस्य तु तपो वार्ता: तपो शूद्रस्य सेवनम्**" (मनु.स्मृ. ११।२३५).

इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि साधनोपदेशमें जैसे वाल्लभरीतिसे कुछ विलक्षणता मानव उपदेशमें दृष्टिगत होती है इसी तरह शांकररीतिसे भी पर्याप्त विलक्षणता है ही.

(शांकर केवलाद्वैतवाद वर्णाश्रमाभिमाननिवर्तक ज्ञानवैराग्यार्थ है तथा मानव उपदेशमें ज्ञान-वैराग्य भी वर्णाश्रमधर्मांग है)

मनुस्मृतिके अनुसार सकामता शास्त्रप्रशस्त नहीं है तो भी लोकमें अकामता सम्भव नहीं है. अतः आवश्यकता अपनी कामनाओंको शास्त्रविधिके अनुकूलतया ढालनेकी है. वैदिक सभी कर्म, कामनाओंकी तरह ही, संकल्पमूलक है. वह चाहे यज्ञ हो तप हो या व्रत हो या यम-नियमादि धर्म; सभी कुछ संकल्पसे उत्पन्न होते हैं. अतः शुभसंकल्पद्वारा शास्त्रविधिको अनुसरते हुवे कामनाओंमें भलीभांति अवस्थित होना आ जाये तो साधक अमृतत्वको पा लेता है. (मनु. स्मृ. २।२-५).

साथ ही साथ मनुस्मृति यह भी स्वीकारती है कि इस सृष्टिमें भी भूतोंमें प्राणिओंमें बुद्धिजीवियोंमें मनुष्योंमें ब्राह्मण ब्राह्मणोंमें विद्वान विद्वानोंमें कृतबुद्धि कृतबुद्धिओंमें कर्मनिष्ठ तथा कर्मनिष्ठोंमें ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होते हैं (मनु.स्मृ.१।९६-९७). अतः इससे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञानरहित कर्म या कर्मरहित ज्ञानको मनु प्रशस्त नहीं मानते. श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रशस्त अक्रमिक संन्यास या नैष्कर्म्यको मनुस्मृतिकार अधःपातका हेतु मानते हैं. "**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**" की मान्यताके विपरीत "**अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा सुतान् अनिष्टवा चैव यज्ञैश्च मोक्षम् इच्छन् व्रजति अधः**" (मनु.स्मृ. ६।३७)कहते हैं.

इससे सिद्ध होता है कि मनुस्मृतिप्रतिपाद्य साधनाप्रणालीमें देहाभिमानमूलक वर्णाश्रममर्यादाओंका उल्लंघन ज्ञान-त्याग-संन्यास-वैराग्य किसी भी हेतुवश अनुमत नहीं है.

वास्तविकता तो यही है कि मोक्षोपयोगि ज्ञानसाधना भी यहां वर्णाश्रमधर्मत्वेन ही विहित हुई है. अतएव इसी वर्णाश्रमधर्मको "**पश्वादिभिश्चाविशेषात्**" (ब्र.शां.भा.१।१।१) मानना मनुस्मृतिकारके लिये स्वप्नमें भी शक्य बात नहीं है.

यह बारहवें अध्यायमें मनुस्मृतिकारद्वारा वर्णित प्रवृत्तकर्म तथा निवृत्तकर्म के स्वरूप एवं फलों; तथा एतदर्थ ये उद्धरण मननीय है: "**तस्माद् यएव ब्रह्मसंस्थास्वाश्रमविहितकर्मवतां सो अमृतत्वाम् एति. न. कर्मनिमित्तविद्याप्रत्ययोः भेदात्**" (ब्र.सू.शां.भा. २।२३।१). "**अनवेक्ष्यैव जाबालश्रुतिम् आश्रमान्तरविद्याविनियम् आचार्ये विचारः प्रवर्तितः**" (ब्र.३।४।२१). एकाधिक बार श्रीशंकराचार्यकी यह स्वीकृति कि ब्रह्मसूत्रकार 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' जाबालश्रुतिको दृष्टिगत किये बिना संन्यासविचार कर रहे हैं. यह उनकी मान्यतामें कुछ गड़बड़ीकी ओर सोचनेको हमें बाधित करता है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते

हैं : ''अव्यवस्थया प्रव्राजो वैराग्यस्तावकः....अन्यथायं पक्षः मन्वादीभिरुक्तः स्यात्'' (त.दी.नि.प्रका.२।१९१). श्रीशंकराचार्यकी इनके बारेमें विचारधाराके बीच जमीन-आसमानके अन्तरपर ध्यान देनेसे बिलकुल स्पष्ट हो जायेगा.

मनुस्मृतिकार कहते हैं—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृतं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।।
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तं उपदिष्यते।।
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतानत्येति पञ्च वैः ।।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन् आत्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति।।

(मनु.स्मृ.१२।८८-९१).

इसके विपरीत बृहदारण्यकोपनिषद्के भाष्य (३।३।१)में श्रीशंकराचार्यको पाठभेदकी कल्पनाद्वारा ''भूतानत्येति''के स्थानपर 'भूतानप्येति'का समर्थन करना पड़ता है. श्रीशंकराचार्य कहते हैं: ''भूतानप्येति पञ्च वैः, भूतान्यत्येतीति पाठं ये कुर्वन्ति तेषां वेदविषये परिच्छिन्नबुद्धित्वाद् दोषः''.

स्पष्ट है कि श्रीशंकराचार्यके मतमें ब्रह्मज्ञानके साथ संन्यासीमें शास्त्रद्वारा अविहित शयन-जागरण-भोजन-आच्छादन-पर्यटन-ग्रन्थानुशीलन-शिष्योपदेश-शास्त्रार्थ आदि कर्म समुच्चित होनेपर भी वह 'भूतानप्येति' नहीं होते. शास्त्रविहित वर्णाश्रमधर्म, परन्तु, सर्वात्मभावज्ञानमंडित तथा निष्कामतया अनुष्ठित होनेपर भी पांचभौतिक देहसे मुक्ति दिलानेके बजाय पुनर्जन्मजनक हो जाते हैं. जबकि मनुस्मृतिकार इन्हें प्रवृत्तकर्मसे उत्कृष्ट नैःश्रेयसिक मानते हैं स्वाराज्यमोक्षप्रापक. इतना तो स्पष्ट हो कि मनुस्मृतिकार प्रवृत्तके बजाय निवृत्तको उत्कृष्ट मानते हैं और प्रवृत्तसे

ही यदि देवसार्ष्टिताका लाभ हो जाता हो तो निवृत्त जो ब्रह्मज्ञानरूप सर्वात्मभाव तथा निष्कामभावसे भी मंडित है, वह प्रवृत्तसे अपकृष्ट पांचभौतिक देहप्रवेशरूप फल देनेवाला कैसे हो सकता है? क्योंकि तब तो प्रवृत्त ही अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होगा निवृत्तके बजाय. इसीसे श्रीशंकराचार्यके द्वारा प्रस्तावित पाठ मनुस्मृतिकारको अभिमत नहीं हो सकता यह भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है. अतः दोनोंकी विचारधारा भी पूर्व-पश्चिमकी तरह विरुद्ध दिशामें बह रही है.

मनुस्मृतिकारके लिये स्वविरचित ग्रन्थमें प्रतिपाद्य कर्म अशेषतः नैःश्रेयसिक ही है: **“नैःश्रेयसमिदम् कर्म यथोदितम् अशेषतः”** (मनु. स्मृ. १२।१०७). कर्म चित्तशुद्ध्ययर्थ है और ज्ञान मुक्त्यर्थ है ऐसा द्वैतवाद मनुको अभिप्रेत नहीं है. तपोरहित विद्या मोक्षप्रापिका नहीं होती इसी तरह विद्यारहित तप भी निःशेषतया पापापहारी नहीं हो सकता है यह इन दो वचनोंको दृष्टिगत करनेसे समझा जा सकता है. मनुस्मृतिको अभिप्रेत निःश्रेयस अज्ञानमूलक अकर्म तथा विपरीतज्ञानमूलक विकर्मसे निवृत्ति है. अतः वे कहते हैं: **“तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परं तपसा किल्बिषं हन्ति विद्यया अमृतम् अश्नुते”** (मनु. १२।१०४). **“याः वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः सर्वा निष्फलाः प्रोक्ताः तपोनिष्ठाः हि ताः स्मृताः”** (मनु. १२।९५).

यह कहना तो निरर्थक ही है कि संन्यासीको गृहस्थके कर्म करने चाहिये अथवा गृहस्थको संन्यासीके. अपने अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार जो कर्म विहित हैं वही कर्तव्य है अन्य नहीं. अतएव संन्यासाश्रममें अग्निहोत्रादि कर्म क्रियात्मक रूपमें छोड़ देनेके विधानके कारण नैष्कर्म्यवाद नहीं सिद्ध हो जाता. क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मोंका गार्हस्थ्यमें क्रियात्मक अनुष्ठान तथा स्वाध्यायात्मक अनुष्ठान विहिततया कर्तव्य ही है त्याज्य नहीं. क्रियात्मक हो या स्वाध्यायात्मक, अग्निहोत्र अनुष्ठेय रहता है. एतदर्थ अधोनिर्दिष्ट वचन मननीय हैं:

एषः सर्वं समुदिष्टः कर्मणां व फलोदयः।
नैश्रेयस्करं कर्म विप्रस्य इदं निबोधतः॥
वेदाभ्यासः तपो ज्ञानम् इन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसां गुरुसेवा च नैश्रेयस्करं परम्॥
सर्वेषामपि चैतेषां शुभानाम् इह कर्मणाम्।
किंचित् श्रेयस्करं कर्म उक्तं पुरुषं प्रति॥
सर्वेषां चैतेषां आत्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते हि अमृतं ततः॥
षण्णाम् एतां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्॥
वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाणि एतानि अशेषतः।
अन्तर्भवन्ति क्रमशः तस्मिंतस्मिन् क्रियाविधौ॥
सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।
प्रवृतं च निवृत्तं द्विविधं कर्म वैदिकम्॥

(मनु.स्मृ. १२।८२-८८).

सब कुछ (ब्रह्मज्ञान भी) वैदिककर्मके अन्तर्गत है तथा उसी रूपसे विहित हुवा है. अतः सिद्ध होता है कि नैष्कर्म्यवाद मनुस्मृतिकारके लिये स्वप्नदृष्टसिद्धान्त भी नहीं.

अब मनुस्मृतिकारको अभिमत मोक्षोपयोगि ज्ञानके विषयतया जड़-जीव-ईश्वर और ब्रह्म के बीच रहे तादात्म्यसम्बन्धकी विवेचनाके अर्थ हम उद्यत हो सकते हैं.

(प्रतिपाद्यविषयोपन्यास)

एतदर्थ ग्रन्थोपक्रमगत प्रथमाध्यायकी पांचवी कारिकासे प्रारम्भ कर अस्सीवीं कारिकापर्यन्त जो सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन हुआ है उसके आधारपर विमर्श करके बादमें बारहवें अध्यायमें प्रतिपादित सर्वत्मभावका

विमर्श करना उपयुक्त होगा.

सर्वप्रथम पांचवी तथा छठ्ठी कारिकाओंकी परीक्षा आवश्यक है. वे यों हैं—

आसीद् इदं तमोभूतम् अप्रज्ञातम् अलक्षणम्।
अप्रतर्क्यम् अविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।।
ततः स्वयंभूर्भगवान् व्यक्तो व्यञ्जयन् इदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः ।।

यहां 'आसीद् इदं तमोभूतं' अंशसे इतना तो स्पष्ट ही है कि यह तमोभूत अप्रज्ञातादि अवस्था पुरोवस्थित दृश्यमान प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पूर्वकी अवस्थाके रूपमें विवक्षित है.

छठे श्लोकमेंके तीन पद पांचवी कारिकोक्त विषयके परामर्शी हैं. शब्दतः— १. ततः २. इदं (व्यञ्जयन्) ३. तमोनुद.

इसमें 'ततः'के तीन अर्थ शक्य हैं: (क) तस्मात् कारणात् (ख) तस्मात् प्रयोजनात् (ग) तदनन्तरम्.

तथा इस 'ततः'का कारिकास्थ इतर पदोंके साथ अन्वय चार तरहसे सम्भव है. उस चतुर्विध अन्वय तथा विविध अर्थके परस्पर मेलनद्वारा नौ तरहके वाक्य घड़े जा सकते हैं:

१. ततः (तस्मात् प्रयोजनात्) स्वयंभूर्भगवान् इदं व्यञ्जयन् प्रादुरासीत्.
२. ततः (तदनन्तरं) स्वयंभूर्भगवान् इदं व्यञ्जयन् प्रादुरासीत्.
३. स्वयंभूर्भगवान् इदं ततः (तस्मात् कारणात्) व्यञ्जयन् प्रादुरासीत्.
४. स्वयंभूर्भगवान् इदं व्यञ्जयन् ततो (तस्मात् कारणात्) प्रादुरासीत्.
५. स्वयंभूर्भगवान् इदं व्यञ्जयन् ततो (तस्मात् प्रयोजनात्) प्रादुरासीत्.
६. स्वयंभूर्भगवान् इदं व्यञ्जयन् ततो (तदनन्तरं) प्रादुरासीत्.
७. स्वयंभूर्भगवान् इदं व्यञ्जयन् ततो (तस्मात् कारणात्) महाभूतादिवृत्तौजाः

प्रादुरासीत्.

८. स्वयंभूर्भगवान् इदं व्यञ्जयन् ततो (तस्मात् प्रयोजनात्) महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्.

९. स्वयंभूर्भगगवान् इदं व्यञ्जयन् ततो (तदनन्तरं) महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्.

अन्य अन्वयके प्रकार इतने ऋजु नहीं सिद्ध हो पायेंगे. इन नौ अन्वयरीतिमें प्रथम और द्वितीय रीतिमें तो मायावादका कोई उपोद्बलन नहीं होता. तीसरी रीतिमें अवश्य ही पूर्वश्लोकमें वर्णित मूलावस्थाकी कारणता आ पाती है. चतुर्थरीतिमें सगुणब्रह्मकी भी मायिकता सिद्ध हो पाती है. पंचम-षष्ठ अन्वयरीति विशेषतया कुछ मायावादोपकारिणी नहीं. सप्तम अन्वयरीति पुनः मायावादके समर्थनार्थ कल्पित की जा सकती है. अष्टम-नवम अन्वयरीति पुनः कुछ विशेषतया मायावादकी उपकारक नहीं है अतः तीसरी चौथी तथा सातवी अन्वयरीतिका विचार विशेषतया करणीय रह जाता है.

तदन्तर्गत सर्वप्रथम तृतीय अन्वयरीतिके बारेमें यह कथनीय है कि भेदवादानुसारी प्रक्रियामें मृत्तिका घट तथा कुम्भार की तरह माया जगत् तथा सगुण ब्रह्मके बीच भेद यदि मान्य न हो तो सगुण ब्रह्म स्वयंभू न होकर मायाभू है वह जगत्को मायासे उत्पन्न करता है ऐसा निरूपण निरर्थक है क्योंकि स्वयं भी मायासे ही उत्पन्न है. तथा 'स्वयं'पदको निर्गुण ब्रह्मके अर्थमें प्रयुक्त माननेपर वह केवलाद्वैतवादके अनुसार वह न महाभूतादिवृत्तौजा होता है और न मुख्यतया मायासे उद्भूत दृश्यमान जगत्को गौणतया. साक्षी चैतन्यरूपेण भासित करने वाली विशुद्धचित्के निरूपणार्थ यह शब्दावली सहज कल्पना ही लगती है कि ''व्यञ्जयन् इदं भगवान् प्रादुरासीत्''.

चतुर्थ अन्वयरीतिमें 'ततः' और 'स्वयंभू' रूप परस्पर व्यावृत्तार्थक

पदोंके समभिव्याहारकी आपत्ति आयेगी. पंचम अन्वयरीतिमें ''स्वयंभूः अव्यक्तो भगवान् इदं व्यञ्जयन् ततो (तस्मात् कारणात् अज्ञानोपाधिरूपात्) महाभूतादिवृत्तौजाः (भूत्वा / सत्) प्रादुरासीत्.'' यों कुछ अध्याहार करना पड़ेगा. अन्यथा अवश्य ही इस अन्वयरीतिके कारण अद्वैत सिद्धान्तकी प्रक्रियाके अनुसार निर्गुणब्रह्मकी स्वरूपानादि स्वयंभूता स्वपरप्रकाशताके मायाकी उपाधिरूपता तथा मायोपहित रूपकी सगुणता तथा कारणता आदि कंई पक्ष संभल जाते है. यद्यपि मनुस्मृतिके अद्वैती टीकाकार माधवानन्द या गोविन्दराज 'ततः' पदका ऐसा दूरान्वय स्वीकारनेके बजाय 'तदनन्तरम्' अर्थ लेना अधिक उचित समझते हैं. केवल रामचन्द्रको छोड़कर अन्य सभी टीकाकार 'तदनन्तरम्'के अर्थमें ही 'ततः' पदको प्रयुक्त मानते हैं. रामचन्द्र 'तस्मात् कारणात्'के अर्थमें 'ततः'पदको प्रयुक्त मानते हैं. 'तस्मात् प्रयोजनात्' अर्थमें प्रयुक्त मानना हो तो 'आसीदिदं सर्वतः'में 'यतः'पदके अध्याहारकी कल्पना करनी पड़ेगी. 'क्योंकि यह तमोभूत.... था. अतः उसे व्यक्त करते हुवे स्वयंभू भगवान् व्यक्त हुए' ऐसा अर्थ निकलता है. न तो कोई भी टीकाकार ऐसे अर्थकी कल्पना करता है और न यहां तक धावनका कोई युक्तिसंगत औचित्य ही है.

इस तरह अन्तमें 'ततः'के दो अर्थ बच जाते हैं. एक 'तस्मात् कारणात्' और दूसरा 'तदनन्तरम्'. स्पष्ट है कि स्वयंभू भगवान्को उस तमोभूत अप्रज्ञातादि अवस्थासे प्रादुर्भूत हुवा तो माना नहीं जा सकता. निष्कर्षतया 'तदनन्तरम्' अर्थ लेना पड़ेगा और कहना पड़ेगा कि 'इदंकारनिर्दिष्ट जगत् पहले तमोभूत था और बादमें उसे व्यक्त करते हुए स्वयंभू भगवान् भी व्यक्त हो गये.' 'तम'पद व्यक्तताके विपरीतार्थतया प्रयुक्त हुआ है. क्योंकि 'यह पहले तमोभूत था' अर्थात् व्यक्त होनेपर अब यह जगत् तमोभूत नहीं है. 'तमोभूतमस्ति' नहीं कहा गया है प्रत्युत 'तमोभूतमासीत्' कहा गया है. अतः यह तम क्या सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व सत् था असत् था सदसत् था या सदसद्विलक्षण?

यह विचारणीय है. यदि वह तमको स्वयंभू भगवान्‌से भिन्न और सत् मानें तो द्वैतवाद सिद्ध होगा. तदात्मकतया अभिन्न और सत् मानें, सत् तथा अभिन्न होनेसे शुद्धाद्वैतके अनुसार तमोनोदेन अर्थात् 'तमोनिरासेन'का अर्थ तमस्तिरोधान लेना चाहिये. सत्‌का आविर्भाव-तिरोभाव होता है उत्पत्ति-नाश नहीं, तो शुद्धाद्वैत. सदसद्विलक्षणतया मिथ्या और अभिन्न मानें तो केवलाद्वैतवाद. तथा भिन्नाभिन्न और सदसद् मानें तो द्वैताद्वैतवाद.

विस्तारभयसे सभी कोटियोंका विस्तृत विमर्श किये बिना अभिन्न मानकर सत् मानना चाहिये कि सदसद्विलक्षण यह विचार हम कुछ करना चाहते हैं. क्योंकि राघवानन्दी व्याख्या यहां केवलाद्वैतका अनुसरण करती हैं तथा कुल्लुकभट द्वैताद्वैतवादका. हम यह कह चुके हैं कि तादात्म्यके गर्भमें द्वैताद्वैत रह सकते हैं परन्तु केवलाद्वैत तादात्म्यका साक्षात् प्रत्याख्यान है. अतः सदसद्विलक्षण माननेपर यह संशय होता है कि क्या यह मूलावस्था स्वरूपतः अनादि है या कल्पानुकल्प चक्रवत् चलती प्रवाहानादि है.

(स्वरूपानादिताविमर्श)

यदि उस मूलावस्थाको ब्रह्मकी तरह स्वरूपानादितया मान्य करते हैं तो उत्पत्तिसे पहले दोनोंके निश्चेष्ट तथा उत्पत्तिके समय अकस्मात् दोनोंके सचेष्ट हो जानेपर उन्हें सचेष्ट करनेवाले किसी तृतीय कारणकी कल्पना करनी पड़ेगी. वह यदि उपलब्ध नहीं होता तो दोमेंसे किसी एकमें निश्चेष्टतासे सचेष्ट बननेके लायक नियतकालिक विश्रामका नियामक स्वभाव या संकल्प सामर्थ्य मानना पड़ेगा.

वह 'व्यञ्जयन्निदम्' अंशमें कर्तृत्वतया श्रुत स्वयंभू भगवान्‌में निष्ठ संकल्पात्मक सामर्थ्य ही अधिक उचित लगता है, नियतकालिक विश्रामकी कल्पनाद्वारा स्वभाववादकी कल्पना करनेके बजाय. अतः वह

सामर्थ्य मूलावस्थागत न होकर ब्रह्मगत सिद्ध होता है.

इस कर्तृव्यापारकी इतिकर्तव्यता 'तमोनुद' पदद्वारा द्योतित हो रही है. तथा उस व्यापारको करनेकी क्षमता 'महाभूतादिवृत्तौजाः'पदद्वारा द्योतित हो रही है.

'नुद'के दो अर्थ हो सकते हैं. एक निरसन तथा दूसरा प्रेरण. आठमेंसे चार टीकाकार प्रथम अर्थ स्वीकारते हैं तथा चार प्रेरण. स्पष्ट है 'तमोनिरसन' अर्थ लेनेपर केवलाद्वैतवादके अनुसार आवरण निवृत्त हुआ मानना पड़ेगा. तब विक्षेप उत्पन्न ही नहीं पायेगा. अतएव राघवानन्दको अभिभवके अर्थ तक धावन करना पडा है. तथा महाभूतादिको प्रकट करनेका सामर्थ्य यदि हो तो निरर्थक तमको प्रकट करनेसे लाभ भी क्या होगा?

'इदं व्यञ्जयन् तमोनुदः महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्' अन्वय यदि स्वीकारें तो 'पश्यन् गच्छति' अथवा 'नेत्रे उन्मीलयन् पश्यति' की तरह जगत्‌को प्रकट करनेकी तथा स्वयंके प्रकट होनेकी क्रियाओंमें किसी तरहका सहभाव भी स्वीकारना पड़ेगा— 'व्यञ्जयन् प्रादुरासीत्'. अतः स्वयंके प्रादुर्भावमें तथा जगत्‌के प्रादुर्भावनमें जैसे कार्यकारणभाव द्योतित हो रहा है वैसे ही कोई संबंध भी द्योतित हो ही रहा है. क्या वह तादात्म्य है कि आत्यन्तिक अद्वैत है?

एक ही श्लोकमें महाभूतादिवृत्तौजाः रूप सगुण या शबल ब्रह्मका तो आत्यन्तिक अद्वैत तथा तमोभूत आवरणका मिथ्यात्व केवलाद्वैतवादमें स्वमान्य प्रक्रिया नहीं है. निर्गुणब्रह्म महाभूतादिवृत्तौजाः नहीं होता, निरुपाधिक होनेसे. सोपाधिकतया स्वीकारनेपर पुनः शबल-सगुण ब्रह्म ही सामने आ जाता है. जिसका आत्यन्तिक अद्वैत होता नहीं, व्यावहारिक द्वैत स्वीकृत होनेसे.

फलतः तमोभूत मूलावस्था तथा स्वयंभू भगवान्के बीच तादात्म्य स्वीकारना ही पड़ता है. तब जगत्को व्यक्त करनेकी प्रक्रियामें ही वह भी स्वयं अंशतः व्यक्त हो रहा है यह अर्थ सामने आता है.

''अव्यक्तः तमोनुद महाभूतादिवृत्तौजाः इदं व्यञ्जयन् प्रादुरासीत्'' कहनेके कारण पहले यह भी अव्यक्त था तथा बादमें व्यक्त हुआ यह अर्थ भी बिलकुल स्पष्टतया सामने आता है. यहां विचारणीय यही है कि वह किसके लिये अव्यक्त था और किसके समक्ष प्रादुर्भूत हुआ. स्वयंको लेते हैं तो इससे पहले उसे अस्वयंप्रकाश मानना पड़ेगा. तथा अन्य किसीकी स्थिति तब थी ही नहीं. अतः वह प्रकट हुआ किसके समक्ष? हठात् हमें यह स्वीकारनेको बाधित होना पड़ता है कि उसने जो जगत्को प्रकट किया उसी प्रक्रियामें उसने स्वयंको भी स्वयंके सामक्ष तादात्म्यभावसे द्विधा विभक्त कर प्रकट किया है. यही शुद्धाद्वैतवाद है. अतएव सर्वज्ञनारायणकी यहां वह व्याख्या कि ''जगतस्तदुपादेयस्य व्यक्तिरेव तद्व्यक्तिर्नान्यथा'' अतीव समीचीन लगती है. उस स्वयंप्रकाशने द्रष्टृ-दृश्यभावरहित होनेसे अपनी आवश्यकताको तथा परप्रकाश होनेसे जड़ जगत्की तमोभूतताको निरस्त अर्थात् तिरोहित कर स्वयंको तथा जगत्को प्रकट किया. सच कहें तो जगदात्मना स्वयंको ही व्यक्त किया, यह व्याख्यारीति शुद्धाद्वैती है.

उसके बाद अब द्वितीय संशयकोटिका विचार करना अवशिष्ट रह जाता है.

(प्रवाहानादिताविमर्श)

प्रवाहानादिताके कल्पमें दो प्रकार संभव है:(१)जगत्की मूलावस्था तथा महाभूतादिवृत्तौजरूप सगुण ब्रह्म दोनोंको बीजांकुरन्यायसे एक-दूसरेका

जन्य भी तथा जनक भी ब्रह्म माना जाये. अर्थात् प्रत्येक कल्पारम्भमें तमोभूतता सगुणब्रह्मको उत्पन्न करती है जो सगुणब्रह्म उस कल्पकी समाप्तिके समय नष्ट होते-होते एक द्वितीय तमोभूतताको उत्पन्न करता हुआ जाता है. (२)दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि ब्रह्मकी तरह तमोरूप मूलावस्था स्वरूपानादि है जो कल्पादि ओर कल्पान्त के मध्यमें पुनः पुनः सगुणब्रह्मको उत्पन्न करती रहती है. एवम् निजमें लीन करता रहता है.

(१) प्रथम संभावनाको स्वीकारनेमें यह कठिनाई है कि ऐसी विविध विरोधाभासी अनेक प्रक्रियापें सिद्धान्तलेशप्रभृति अद्वैत ग्रन्थोंमें प्रतिपादित हुई है और नई भी कई उद्भावित की जा सकती है. परन्तु इनका मनुस्मृतिसे तालमेल भी तो बैठना चाहिये. इस संदर्भमें आगामी सातवीं कारिका यों है:

योऽसौ अतीन्द्रियग्राह्य सूक्ष्मो व्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयो अचिन्त्यः स एव स्वयम् उद्बभौ॥

यहां केवलाद्वैतवादी भाषामें बोलनेपर विरोधाभास उभर कर सामने आ जायेगा. जो सूक्ष्म अव्यक्त अतीन्द्रिय-ग्राह्य शाश्वत्-नित्य अबाधित विशुद्धा चित् है वह अचिन्त्य तथा सर्वभूतमय भी हैं और वही स्वयं प्रकट हो गया. विशुद्धा चित् अचिन्त्य हो सकती है परन्तु न तो सर्वभूतविकार और न सर्वभूतप्रचुर हो सकती है. गौणी कल्पना करनेवालोंसे तो शास्त्रार्थमीमांसा शक्य नहीं है. लक्ष्यमें रखना चाहिये कि यहां पूर्ववर्णित 'स्वयंभू' पदकी व्याख्या ग्रन्थकार कर रहे हैं. अतः शुक्तिरजतके उदाहरणमें भी कोई यह तो कह सकता है कि जो शुक्ति थी वह रजत बन गई. परन्तु साथ ही साथ कोई यह भी कहे कि शुक्ति जो रजतमय है वह रजत बन गई तब बात ब्रह्मकी न रहकर वस्तुवृत्त होनेका रूप ले लेती है. राघवानन्दीतो

यहां मनुस्मृतिद्वारा स्तुत्यर्थ प्रयुक्त 'अचिन्त्य' विशेषणसे उसकी स्तावकता अपहृत कर उसे 'विचारासह'के अर्थमें अन्यथानयन करते हैं. जबकि वास्तविकता यह है मायावच्छिन्न-मायावृत निर्गुण ब्रह्म अथवा मायाविक्षिप्त सगुणब्रह्मके जगत्कारण बननेपर अचिन्त्यताका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता. अन्यथा शुक्तिके भी भ्रमवृत्तिसे रजतभावापन्न होनेपर उसकी भी विचारासहता माननी पड़ेगी. जबकि यहां विचारासहता नहीं. क्योंकि सब जानते हैं कि शुक्ति रजत नहीं बनती. प्रत्युत शुक्तिका अज्ञान रजतसादृश्यादि कारणसामग्रीवश रजततया मिथ्या भासित होता है. सदसत्त्वेन विचारासहता उस रजतकी कही जा सकती है और वह बुद्धिग्राह्य भी है परन्तु रजततया मिथ्याभासित होनेमें शुक्तिकी विचारासहता कौन मानता है?

(भूतं अभूतं वा जायते?)

अतः श्रीगौडपादाचार्यके विकल्पोंको लागु करके यहां भी पूछा जा सकता है कि बीजांकुरकी तरह कार्यकारणभाववश प्रवाहानादितया क्या सगुणब्रह्म अपने उपादानभूत विद्यमान अज्ञानावरणको कल्पान्तमें उत्पन्न करता है कि अनुपादानभूत अविद्यमान अज्ञानको? विद्यमानके बारेमें श्रीगौडपादाचार्यने सिद्धान्त स्थापित किया है कि ''भूतं न जायते किञ्चिद्'' और अविद्यमान अनुपादानभूत अज्ञानावरणकी भी उत्पत्ति स्वीकारी नहीं जा सकती क्योंकि ''अभूतं नैव जायते''.

अनुपादानभूत अविद्यमान अज्ञानावरणको घटकी तरह, उपादानभूत विद्यमान मिट्टीके जैसी अविद्यासे उत्पन्न करनेकी कथा भी ''भूतं न जायते'' द्वारा दत्तोत्तरित है.

(पौनरुत्पत्तिक लय / मुक्ति / निरन्वय नाश?)

प्रलयकालमें सगुणब्रह्म निजोपादानभूत अज्ञानावरणमें लीन होता है क्या पुनरुत्पत्तिकी सम्भावनाके साथ? या मुक्त हो जाता है?

या उसका निरन्वय नाश हो जाता है? प्रथम स्थितिमें अविद्याके स्वरूपतः अनादि-अविनाशी होनेके कारण 'बीजांकुर'न्याय नहीं निभा पायेगा. द्वितीय स्थितिमें बाधज्ञानसे पहले अज्ञानावरण निवृत्त हो जायेगा और बादमें सगुणब्रह्म मुक्त होगा. अतः वह पुनः अज्ञानजनन कर नहीं पायेगा अन्य मुक्तात्माओंकी तरह. तृतीय स्थितिमें स्वयंके निरन्वय नाशका मतलब होगा अपने उपादानभूत और उपादेयभूत सभी तरहके अज्ञानावरणोंका नाश. अतः 'बीजांकुर'न्यायका त्याग करना पड़ेगा.

द्वितीय सम्भावनाको स्वीकारनेपर यह विचारणीय हो जाता है कि ब्रह्म स्वरूपानादितया स्वरूपाधिविनाशितया जैसे परमार्थ है वैसे ही कल्पानुकल्प स्वरूपानादितया स्वीकृत अज्ञानावरण कभी समाप्त ही न होता हो तो वह भी स्वरूपतः अविनाशी सिद्ध हुआ. तब तो उसे भी परमार्थ ही होना चाहिये. क्योंकि कोई भी ब्रह्मज्ञान ऐसा नहीं जो इस कल्पानुकल्प चलते अज्ञानावरणको खतम कर पायें. व्यक्तिशः किसी जीवात्माके मुक्त होनेपर अज्ञानावरणकी आंशिक निवृत्ति होती है. अतः जैसे औपाधिकरूपमें जीव कर्तृतया भोक्तृतया अंशतः निवृत्त होनेपर भी सर्वात्मना विशुद्ध चैतन्यतया निवृत्त नहीं होता. और "जीवो ब्रह्मैव नापरः" जैसे कहा जाता है उसी तरह अविद्याके निवृत्त होनेपर भी "अज्ञानमपि ब्रह्मैव नापरं किञ्चिद् उच्यते" कहना चाहिये.

केवलाद्वैत सिद्धान्तके प्रक्रियाकारोंने व्यक्तिशः जीवात्माकी मुक्तिके स्वरूपकी उत्प्रेक्षामात्रसे ही भावविभोर होकर ज्ञाननिवर्त्य अज्ञानको सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या मान लिया. बीजांकुरवत् अनादि अनन्ततया चलते विशुद्धा चित्पर चढ़े अज्ञानावरणकी शाश्वतताके लेशमात्र विचार किये बिना ही न केवल इतना अपितु त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगी भी मान लिया. जबकि उनकी कल्पानुकल्प निरन्तरविद्यमानता घंटाघोषपूर्वक उसकी शाश्वतताकी कहानी कह रही थी!

निष्कर्षतया ‘‘इदं तमोभूतम् आसीत्’’ वचन ही इस जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व तमोभूतता दिखला रहा है. अब वही तम उसका उपादानकारण भी हो तो ‘‘सदेव सौम्य इदम् अग्रे आसीत्’’की तरह ‘‘तमएव इदमग्रासीत्’’ वचन होना चाहिये या, जिससे कि ‘‘सदेव इदमग्रसीत्’’की तरह वर्तमानकाल तथा भूतकाल दोनोंमें इसकी तमोरूपता दिव्य हो जाती. किन्तु ‘‘आसीत् इदं तमोभूतं, ततः इदं व्यञ्जयन् स्वयंभू भगवान् प्रादुरासीत्’’ यों दोनों वचनोंकी एकवाक्यता करनेपर यह बिलकुल साफ हो जाता है कि ‘‘यह जगत् अपनी उत्पत्तिसे पहले ही तमोभूत था अब व्यक्त हो जानेपर तमोभूत नहीं रह गया.’’ इससे सिद्ध हो जाता है कि यह तमस् जगत्के परिणाम्युपादानतया अभिलषित नहीं है यहां तो केवल पूर्वावस्था द्योतित हो रही है, यदि इसे ब्रह्मभिन्नतया लेते हैं तो. अन्यथा उस अव्यक्त ब्रह्ममें इस जगत्का अन्तर्निर्हित अप्रकाशित होना ही तमोभूतता है, कोई अतिरिक्त पदार्थ या अवस्था नहीं. यह सिद्धान्त सुदृढ होता है.

अगली आठवी कारिकामें ओर भी स्पष्ट शब्दोंमें मनुस्मृतिकार शुद्धाद्वैतवादकी भाषा बोल रहे हैं:

सोअभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुः विविधा प्रजाः।
अथ एवं ससर्जादौ तासु बीजम् अवासृजत्॥

श्रीशंकराचार्यने ईक्षत्यधिकरणमें पुरुषाधिष्ठित जड़ प्रकृतिसे जगत्के उद्‌भूत होनेका खंडन श्रीव्यासोक्त हेतुओंद्वारा ही किया है कि जड़ पदार्थ ईक्षण नहीं कर पायेगा, गौणार्थकल्पना करनी नहीं चाहिये क्योंकि इक्षणकर्ता परमात्माके कारण मोक्षलाभ होता दिखलाया गया है इत्यादि. वह यदि सांख्य सिद्धांत जड़प्रकृतिके बारेमें प्रामाणिकतया विरोधी तर्क हो तो मायावादाभिमत जड़ मायाके सिद्धांतपर भी उन तर्कोंकी मार उतनी ही कठोर होगी. जो कुछ इससे बचनेका उपाय मायावादमें

निकलेगा वह प्रकृतिवादके भी पक्षमें जायेगा. यहां भी अभिध्यानपूर्वक अपने सर्वभूतमय (सातवीं कारिकोक्त) शरीरसे परमेश्वर सृष्टि प्रकट कर रहा है उसे तम या अविद्या की उपाधि या आवरणकी अश्रुतार्थकल्पनाद्वारा गौणी नहीं बनाया जा सकता है.

इसके बाद ग्यारहवी कारिकामें अव्यक्त नित्य कारणको ही 'सदसदात्मक' कहा गया है, किसी सदसदात्मकविलक्षण पदार्थको नहीं. अन्यत्र भी उपनिषदोंमें सत् तथा त्यत्के अर्थोमें अर्थात् प्रत्यक्ष एवं परोक्षके अर्थोमें ब्रह्मको सदसदात्मक कहा गया है— ''सत् च त्यत् च अभवत्'' (तैति.उप.२।६). नित्यपदके साथ सदसदात्मक पदका समभिव्याहार उसे कारणात्मना परोक्ष तथा कार्यात्मना प्रत्यक्ष सिद्ध करता है. ब्रह्मको यहां अव्यक्तकारणरूप नित्य सदसदात्मक तत्त्वोंसे विसृष्ट मानना अज्ञानावरणरूप अन्तर्गडु तमोवादकी मनुस्मृतिमें स्पष्ट अस्वीकृतिका द्योतक है.

अद्वैतवादके समर्थनार्थ जो श्रुति राघवानन्द उद्धृत करते हैं उनकी संवादिताका विचार करनेपर सर्वप्रथम **''सदैव, सौम्य! इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्''** (छान्दो.उप.६।२।१) वचनमें स्थितिकालके वर्णनमें श्रौत पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनोंमें जगत्को सत् माना गया है, मिथ्या नहीं. क्योंकि मिथ्या माना गया होता तो **''कथम् असतः सद् जायेत?''**(छान्दो.उप.६।२।२) आक्षेप कैसे उपपन्न होता? हां, पूर्वपक्षतया श्रुतिमें वर्तमान सद्रूप जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व असत् होनेकी शंका उठाई गई है. और सिद्धान्ततपक्षतया कहा गया है कि इदंकारास्पद दृश्यमान जगत् उत्पत्तिसे पूर्व भी सत् ही था, एकमेव अद्वितीय. इससे स्वेतर मिथ्या या सत्य अन्य किसी भी सहयोगी कारणसामग्रीका आवरणरूपा अविद्या या सूक्ष्मचिदचिद्रूपा प्रकृतिका भी वारण सिद्ध हो जाता है.

वर्तमानमें जैसे जगत्की व्यावहारिकी या प्रातिभासिकी सत्ता स्वीकारी जाती है वैसी ही सृष्टिप्राक्कालमें भी अनादि सिद्ध होनेसे सिद्ध

होगी. और उसी सत्ताका **“सदेव सौम्य इदम् अग्रे आसीद्”**वचनसे परामर्शकी कल्पना करनेपर अग्रिम **“ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्”** (बृह.उप.१।४।१०) वचनद्वारा उस सत्‌की पारमार्थिकी ब्रह्मरूपता भी सिद्ध होती है. **“तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्”** (बृह.उप.१।४।७) वचनमें इदंकारनिर्दिष्ट जगत् नामरूपेण अव्याकृत था और उसने इच्छा की कि मैं इसीका नामरूपेण व्याकरण करूं. यह ईक्षण यदि सांख्याभिमत जड़ प्रकृतिकी कारणताको निरस्त करता है, स्वयं श्रीशंकराचार्याभिप्रेत ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’, ‘गौणश्चेन्नात्मशब्दात्’ और ‘तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्’ सूत्रोंद्वारा तो वही युक्ति जड़ सदसद्‌विलक्षण अविद्यापर भी लागू होगी. अतएव **“न असद् आसीद् नो सद् आसीद् ... नैवेदं किञ्चन अग्र आसीद् मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीद्”**(ऋक्संहिता.१०।१२९।२) वचनोंको प्राचीन चिन्तन परिपाटीके अनुसार इतर श्रुतिवचनोंसे संगततया स्वीकारना हो तो यह भी स्वीकारना पड़ेगा कि ब्रह्मके सुषुप्तावस्थारूप धर्मको ही ‘तम’ कहा गया है. अन्यथा इन्हीं वचनों द्वारा पूर्वमें सत् नहीं था ऐसे निरूपणमें ब्रह्मका भी निरसन मानना पड़ेगा. **“नैवेदं किञ्चन अग्र आसीद्”**में शून्यवाद भी स्वीकारना पड़ेगा. स्पष्ट है ऐसी व्याख्या केवलाद्वैतवादाभिमत नहीं है.

केवलाद्वैतकी प्राणभूत धारणा “असत् चेत् न प्रतीयेत् सत् चेत् न बाध्येत. प्रतीयते बाध्यते च तस्मात् सदसद्‌विलक्षणं मिथ्या” है. अतः ब्रह्मज्ञानद्वारा जगदुपादानत्वेन अभिमत अज्ञानका बाध होता है अतः उसे मिथ्या माना जाता है. मिथ्यात्वका निष्कृष्ट लक्षण “स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्” मान्य किया गया है. ऐसी स्थितिमें एक मुमुक्षुके ब्रह्मज्ञानसे सम्पन्न होनेपर श्रुति तथा मनुस्मृति को मान्य कल्पोंके चक्रवत् चलनेके सिद्धान्तानुसार कभी अज्ञानका निःशेष निरसन तो सम्भव ही नहीं. ऐसी स्थितिमें अज्ञानकी अनादिसान्तता सिद्ध नहीं होती. अंशतः तो व्यष्टि चेतना भी मुक्त होनेपर नष्ट हो जाती है परन्तु नाश या बाध उपाधिके अंशमें ही स्वीकारा जाता

है उपहितांश नहीं. इसी तरह ब्रह्मज्ञानसे भी अज्ञानव्यष्टिका ही नाश या बाध होता है, अज्ञानसमष्टिका नहीं. अन्यथा कल्पोंका चक्र अनुपपन्न हो जायेगा. अतः विशुद्धचित् ब्रह्मकी तरह अज्ञानावरण तथा विक्षेपके भी अनादि-अनन्त माननेपर वह भी पारमार्थिक सिद्ध होता है. और ब्रह्म यदि एकमेवाद्वितीयतया मान्य हो तो यह स्वीकारना ही पड़ेगा कि तम-मृत्यु-आवरण-विक्षेप आदि सभी कुछ ब्रह्मात्मक ही होते हैं, अब्रह्मात्मक अपारमार्थिक अनित्य या सदसद्विलक्षण नहीं.

(तादात्म्यवाद प्रलयरूपविमर्शद्वारा)

सृष्टिकी उत्पत्तिके स्वरूपविमर्शसे तादात्म्यवादकी पुष्टिके बाद जगत्के प्रलयके स्वरूपविमर्शसे भी तादात्म्यवादकी पुष्टि स्पष्ट होती है.

विवर्तोपादानमें कभी आरोप अधिष्ठानमें लीन नहीं होता किन्तु उसपर बाधित हो जाता है. यदि सृष्टि ब्रह्मसे उत्पन्न होकर ब्रह्ममें स्थित होती है तावता कर्ता और आधार होना ब्रह्मका सिद्ध हो जाता है. लय किन्तु कार्यका उपादानमें ही सम्भव है. और हम स्पष्टतया देख सकते हैं कि मनुस्मृतिकार इसी अध्यायकी ५१वी कारिकासे प्रारम्भ कर ८०वी कारिका तक सृष्टिप्रलयके वर्णनमें इस जगत्का स्वयं परमात्मामें लीन हो जाना प्रलय है ऐसा दिखलाते हैं. उत्पत्ति-प्रलयके अनन्त चक्रकी स्वयं परमात्माके जागरण-शयनके द्वारा व्याख्या करते हैं. तथा श्रीगौडपादाचार्याभिमत स्वभाववादके विपरीत लीलावाद स्वीकारते हैं. यह सभी शुद्धाद्वैतकी प्रक्रियाका पोषण है.

(ग्रन्थोपसंहारविमर्श)

हमने दिखलाया था निवृत्तकर्म नैःश्रेयसिक कर्म है. वह सर्वात्मभावपूर्वक निष्कामतया स्ववर्णाश्रमधर्मके पालनसे ही सम्पन्न हो सकता है.

शांकरवेदान्तकी तरह मनुस्मृतिके उपदेशमें संसारकी क्षणभंगुरता

अथवा वर्णाश्रमधर्मोंकी देहाभिमानमूलकता अथवा देहाभिमानकी आविद्यकता के प्रति किसी प्रकारकी भयग्रन्थिके दर्शन नहीं होते. अतएव मनुस्मृतिकार निर्भीकतया कहते हैं:

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठाः ग्रन्थिभ्यो धारिणो नराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥

स्ववर्णाश्रमके अनुष्ठानमें निष्कामतया तत्पर ब्रह्मज्ञानीके लिये कर्मत्याग न करनेके अपराधका दण्ड पुनर्भव होता है ऐसा मनुस्मृतिकार नहीं मानते. ज्ञानके विषयका स्वरूप सर्वभूतमें आत्माकी भावना तथा आत्मामें सर्वभूतोंकी भावना करना मनुस्मृतिकारके अनुसार आत्मयाग है. आत्मा = सर्वभूत तथा सर्वभूत = आत्मा यह ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' श्रुतिमें वर्णित तादात्म्यवाद ही है. इस श्रुतिवचनमें निरूपित सर्वभूत = आत्मा तथा आत्मा = सर्वभूतकी व्याख्याके रूपमें द्वादशाध्यायमें मनु भूतात्मा (देह) महानात्मा (बुद्धि) अन्तरात्मा (जीव) तथा परमात्माका भेद कारिका १२वी से १५वी तक दिखलाते हैं. तथा ''**तौ उभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञएव च उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः असंख्या मूर्तयः तस्य निष्पतन्ति शरीरतः उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः**'' द्वारा ब्रह्मस्वरूपपरिणामवाद जीवांशत्ववाद जीवानेकत्ववाद अंशांशितादात्म्यवाद —ये सभी वाद ब्रह्मवादपोषक ही धारणायें हैं. यह ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वं''में बाधार्थसामानाधिकरण्य तथा ''तत्त्वमसि''अंशमें अखण्डार्थवादकी द्वैधीभावभरी केवलाद्वैतवादी सम्प्रदायकी व्याख्यारीतिके प्रतिकूल ही है. क्योंकि केवलाद्वैतवादके अनुसार तो ''**नेह नानास्ति किञ्चन**''श्रुतिपर भार देते हुवे सर्वब्रह्मतादात्म्यको बाधार्थसामानाधिकरण्य माना जाता है. अतएव एक ही श्रुतिवचन ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि**''(छान्दो.उप.६।८।७)में इदंकारनिर्दिष्ट जगत्की

ब्रह्मात्मकता बाधार्थसामानाधिकरण्यन्यायसे स्वीकारी गई है तथा ''तत्त्वमसि''अंशमें अखण्डार्थबोध माना गया है. तब सर्वभूत = आत्मा एवं आत्मा = सर्वभूत केवलाद्वैतवादमें सम्भव नहीं रह जाता. वहां आत्मामें सर्वभूतोंका बाधका ज्ञान अभिष्ट माना गया है.

जबकि शुद्धाद्वैतवाद **''यथा, सौम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्. वाचारम्भणं 'विकारो', 'नामधेयं', 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्''**(छान्दो.उप.६।१।४) वचनमें डिंडिमघोषके साथ उपदिष्ट जगत्की अमायिकब्रह्मताका सिद्धान्त है.

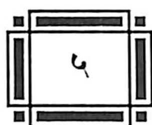
श्रुति यह नहीं कहना चाहती कि ''विकार मिथ्या है वाचारम्भण है और मृत्तिका ही केवल सत्य है'' क्योंकि तब तो 'मृत्तिकैव सत्या' पाठ होना चाहिये था तथा 'इति' पद व्यर्थ विन्यस्त ही सिद्ध होता है. जबकि वह 'कूजन्तं रामरामेति'में प्रयुक्त 'इति'पद शब्दस्वरूपद्योतनपर है. आधुनिककालका ' ' उद्धरणचिह्न ईन्वर्टेड कॉमाके अर्थमें इतिपद प्रयुक्त हुवा है. 'मृत्तिका'को उद्धरणचिह्नके बीच रखकर 'इति'पदका मूलाभिप्रेत अर्थ पाया जा सकता है. एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे सभी मृण्मय (यहां 'मय'प्रत्यय विकारार्थ लगा है अतः) मृद्विकारोंका ज्ञान हो जाता है. क्योंकि मिट्टीसे बने घड़ेको 'मृत्तिका' न कहकर 'मृद्विकार' कहना वाचारम्भण है, वाणीविलास है. क्योंकि घड़ेका सच्चा नाम तो 'मृत्तिका' ही है. स्पष्टतया यहां 'नामधेय' पद तथा 'सत्यम्' पद एकदूसरेके विशेषण-विशेष्यभाववश प्रयुक्त हुवे हैं. प्रश्न घड़ा सत्य है या मिट्टी सत्य है यह नहीं है. प्रश्न है घड़ेका सत्य नाम मृण्मय-मृद्विकार है या मृत्तिका है. श्रुति कहती है मृत्तिका ही नाम मृण्मय घड़ेका सच्चा नाम है क्योंकि तादात्म्य है. क्योंकि तो रजतका सच्चा नाम शुक्तिका सम्भव नहीं.

दिव्यदृष्टिसे विराटपुरुषके दर्शन पाकर अर्जुनको परमात्मारूप अधिष्ठानमें

जगत् 'नासीद् अस्ति भविष्यति'की तरह नहीं लगा किन्तु तदात्मक ही लगा. अतः गीताकी दिव्यदृष्टिके लाभ होनेपर सर्वभूतोंमें आत्मभाव या आत्मामें सर्वभूतभाव जग पाता है. इति शम.



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



श्रीवल्लभाचार्यसे पूर्वकालिक शुद्धाद्वैतवादी

(उपक्रम)

श्रीशंकराचार्य तथा श्रीभास्कराचार्य समकालिक हैं या पूर्वोत्तरकालिक इस विषयमें मतभेद सम्भव है परन्तु दोनोंके ग्रन्थोंमें परस्पर एकदूसरेके मतोंका उल्लेख एवं समालोचन सुस्पष्ट शब्दोंमें उपलब्ध होता ही है. सहज सम्भव है कि श्रीशंकराचार्य ज्येष्ठ समकालिक हो और श्रीभास्कराचार्य कनिष्ठ समकालिक.

(औपाधिकद्वैताद्वैतवाद)

भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यरचित बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य(१।१।१)गत पंचविध वेदान्तियोंमें अन्तिम मत यदि श्रीभास्कराचार्यका न हो तो स्वीकारना पड़ेगा कि भास्करीयमतके समर्थक वेदान्ती श्रीशंकराचार्यसे भी पहले अवश्य विद्यमान थे.

भास्कराचार्यके अनुसार अभेद स्वाभाविक है और भेद औपाधिक होता है. इस औपाधिकभेदके वश ही जीवात्मामें सांसारिकता आती है (द्रष्ट.ब्र.सू.भा.भा.२।३।४३).

ब्रह्ममें अनेक प्रकारकी शक्तियां हैं : एक भोग्यशक्ति दूसरी भोक्तृशक्ति और तीसरी अभोग्यशक्ति. इन शक्तिओंके कारण ब्रह्म आकाशादि अचेतन तथा सचेतन जीवात्माके रूपोंमें परिणत होता है. जैसे सूर्यमेंसे रश्मि बाहर निकलती है और उपसंहृत हो जाती हैं. इसी तरह ब्रह्ममेंसे भोक्तृ-भोग्य शक्तियोंका बाह्य प्रक्षेपण होना सृष्टि है और उनका उपसंहरण प्रलय है (द्रष्ट.ब्र.सू.भा.भा.२।१।२७). ब्रह्म निजस्वभाववश ही जगदात्मना परिणत होता है. जैसे दूध दही बन जाता है या जैसे जल बरफ बन जाता है. दूधको दही बननेके लिये आतञ्चन-जामनकी अपेक्षा रहती है पर जलको बरफ बननेको नहीं (द्रष्ट.ब्र.सू.भा.भा.२।१।२४). जैसे मकड़ी अपने स्वरूपसे प्रच्युत हुवे बिना अपनेमेंसे जाला निकालती है, बुन लेती है, इसी तरह ब्रह्म भी अप्रच्युत-स्वरूपमें जगदात्मना परिणत हो जाता है (द्रष्ट.ब्र.सू.भा.भा.२।१।१४). निष्कर्षतः भास्करमतमें कार्यरूपेण द्वैत तथा कारणात्मना अद्वैत स्वीकारा गया है.

कार्यरूपेण नानात्वम् अभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथा अभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥

(वहीं १।१।४)

महाप्रभुके मतके साथ इस मतकी तुलना करनेपर जहां तक स्वाभाविक अद्वैतका प्रश्न है, वह तो उभयसम्मत है. द्वैतको श्रीभास्कराचार्य औपाधिक मानते हैं जबकि महाप्रभु ऐच्छिक. इन दोनों धारणाओंके बीच रहा सूक्ष्म अन्तर, भास्करमतमें मान्य उपाधिके स्वरूपके बारेमें अन्यान्य विद्वानोंके द्वारा किये गये ऊहापोहको लक्ष्यमें लानेपर स्पष्ट हो सकता है. जिस उपाधिके वश ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतमें औपाधिक द्वैत प्रकट होता है वह उपाधि स्वयं ब्रह्मात्मक है कि नहीं? उपाधिको अब्रह्मात्मक तो नहीं माना जा सकता क्योंकि वह ब्रह्म और उपाधि के बीच आत्यन्तिक द्वैतकी स्वीकृतिके तुल्य होगा. तब ब्रह्मके स्वाभाविक

अद्वैतका सिद्धान्त खण्डित होगा. इस उपाधिको ब्रह्मात्मक माननेपर ब्रह्म और उपाधि के बीच पुनः स्वाभाविक अद्वैत और औपाधिक द्वैत की कल्पना करनी पड़ेगी; अथवा आत्यन्तिक अद्वैतकी. प्रथम कल्पके बारेमें यह अवधेय है कि ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतमें उपाधिके औपाधिकद्वैतके हेतुके वश यदि उपाध्यन्तरकी कल्पना की जाती है तब तो अनवस्था हो जायेगी. अथवा ब्रह्म और उपाधि के बीच रहे औपाधिकद्वैतमें या तो निर्हेतुकता आयेगी या फिर आत्माश्रयदोष उठ खड़ा होगा. आत्यन्तिक अभेद माननेपर जगत्‌में अनुभूयमान ब्रह्मविरोधी गुणधर्मो (उदाहरणतया संसारिता दुःख उत्पत्ति-विनाश आदि) का हेतु, ब्रह्मसे अत्यन्त अभिन्न होनेके कारण उपाधि तो मानी नहीं जा सकती. फलतः ऐसे गुणधर्म आकस्मिक सिद्ध होंगें. भेदक उपाधिको ब्रह्मात्मक मानकर उसे पुनः ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न भी मानना पड़ता हो तो वदतोव्याघात होता है (द्रष्ट.तत्त्वमुक्ताकला.३।३१).

महाप्रभुको अभिमत स्वाभाविक अद्वैत तथा ऐच्छिक द्वैत के स्वरूपको यदि इन प्रश्नों या आक्षेपोंकी कसौटीपर कसा जाये तो बहुत सारी कठिनाईयोंका सामना भी नहीं करना पड़ता. क्योंकि स्वाभाविकतया एक ब्रह्मके साथ उसकी स्वयंकी "मैं अनेक बन जाऊं!" ऐसी इच्छाका सम्बन्ध न तो अत्यन्तद्वैतघटित होता है न अत्यन्तअद्वैतघटित ही और न द्वैताद्वैतरूप ही. इन तीनों कल्पोंसे विलक्षणभावरूप एक स्वतन्त्र 'तादात्म्य' नामक सम्बन्ध महाप्रभुको मान्य है "**कार्यकारणयोः तादात्म्यात् कार्यात्मना भेदः कारणात्मना अभेदइति भेदसहिष्णुः अभेदः तादात्म्यम्**" (सुबो.१।५।२०).

भेद और भेदाभाव में परस्पर सहस्थिति न भी सम्भव हो परन्तु तादात्म्यसम्बन्ध तो भेद और भेदाभाव दोनोंसे ही विलक्षण होता है. इस तादात्म्यसम्बन्धका स्वरूप अणुभाष्योक्त सूर्य-रश्मिके उदाहरणसे स्फुट हो जाता है. प्रकाशरूप रश्मिओंका आश्रय सूर्य अपनी रश्मिओंसे

न तो सर्वथा भिन्न होता है और न सर्वथा अभिन्न ही. प्रकाश अपने आश्रयमें समवेत रहता है और व्युच्चरित होकर बाहर भी आ सकता है.

अणुभाष्यप्रकाशकार गो.श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि जैसे 'अमित्र' शब्दका अर्थ न तो 'मित्र' किया जा सकता है और न 'मित्रका अभाव' ही किन्तु मित्रताविरोधी एक भावके अर्थमें 'अमित्र' शब्द प्रयुक्त होता है.

शांकरमतमें भी अविद्या भी, जैसे, न तो ज्ञानरूपा होती है और न ज्ञानका केवल अभाव ही. अविद्या, उनके मतमें, भावरूप अज्ञानके रूपमें मान्य हुई है.

इसी तरह 'अद्वैत' पद भी, महाप्रभुके मतमें, न तो द्वैतवाचक है, न द्वैतात्यन्ताभाववाचक ही; और न वह द्वैत और उसके अत्यन्ताभावके समुच्चयका वाचक ही है. 'अद्वैत'पदका सिद्धान्ताभिमत अर्थ ''आत्यन्तिक द्वैतविरोधी एक भावरूप तादात्म्य नामक संबंध'' ही है (अणु.प्रका.३।२।२८).

इससे सिद्ध होता है कि अखण्ड एकरस सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विद्यमान गुणधर्म भी सच्चिदानन्दात्मक ही होते हैं. जैसे प्रकाश और प्रकाशाश्रय सूर्य दोनों हीमें स्वपरप्रकाशनका सामर्थ्य होता है. दोनोंके बीच न तो आत्यन्तिकभेद होता है और न ऐसे भेदका अत्यन्ताभाव ही. जैसे इन दोनोंके बीच भेदाभेद-विलक्षण एक भावरूप तादात्म्यसम्बन्ध होता है, ऐसे ही ब्रह्म और जगत् के बीच भी भेद-सहिष्णु-अभेद रहता है. क्योंकि भेदात्यन्ताभावरूप अभेदको भेदसहिष्णु नहीं माना जाता है. पट और घट के परस्पर भिन्न होनेपर भी घट जैसे पटसहिष्णु हो सकता है, परन्तु घटात्यन्ताभाव-सहिष्णु नहीं होता. अन्यथा अत्यन्ताभावीया प्रतियोगिताका स्वरूप ही खण्डित हो जायेगा. एतावता

अन्योन्याभावीया प्रतियोगितामें वैसी परासहिष्णुता नहीं मानी जाती.

इस तरहके तादात्म्यसम्बन्धसे ब्रह्ममें प्रकट हुई इच्छाके कारण अनन्त नाम-रूपोंका ब्रह्ममें प्रादुर्भाव होता है. इन नाम-रूपोंमें हमें तादात्म्याभावरूप पारस्परिक भेदकी प्रतीति भी सम्भव है. वास्तविकता जबकि यह है कि इन अनन्त नाम-रूपोंमें प्रत्येक नाम-रूप ब्रह्मात्मक है. अतः प्रत्येक नाम-रूपके साथ वह तादात्म्य-संबंधसे जुडा हुवा है. इस सम्बन्धके स्वरूपको साकार करनेवाले अनेक उदाहरण: सुवर्ण-कुण्डलादि, सूर्य-रश्मि, अहिकुण्डल, समुद्रजल-तरंग आदिमें परिणमनशील उपादानकारण तथा उपादेय कार्य होनेका तथ्य प्रकट है. साथ ही साथ इस सन्दर्भमें यह स्पष्टीकरण भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि यह परिणाम-उपादानभावके भी अनेक प्रकार सम्भव हैं.

उदाहरणतया, किसी उपादानरूप धर्मीसे धर्मरूप परिणाम प्रकट हो सकता है. जैसे सूर्य धर्मी है और प्रकाश उसका धर्म होता है. किसी उपादानरूप द्रव्यमें परिणामरूप आकार प्रकट होता है. जैसे सुवर्ण आकारी द्रव्य है और कुण्डलादि आभूषण उस द्रव्यमें प्रकट हुवे आकार हैं. किसी उपादानरूप आधारमें परिणामरूप क्रिया प्रकट हो सकती है. जैसे समुद्रजल आधार है और तरंगें उसमें क्रियाके रूपमें प्रकट होती है. किसी उपादानरूप अंशीमें परिणामरूप अंश प्रकट हो सकते हैं. जैसे अंशी सूर्यसे उसकी अंशरूप रश्मियां प्रकट होती है. इस तरह परिणाम-उपादानभावके अनेक प्रकार सम्भव हैं. धर्म-धर्मीभाव रूप-रूपीभाव क्रिया-क्रियावद्भाव अंशांशिभाव इत्यादि. इन सभी प्रकारोंमें तादात्म्यसम्बन्ध होता है. न आत्यन्तिक द्वैत और न आत्यन्तिक अद्वैत ही.

पदार्थकी भाव-अभावके रूपमें व्याख्या करनेवाले किसी भी मतमें वस्तुओंमें देशकृत कालकृत तथा स्वरूपकृत परिच्छिन्नताकी बात तो

स्वीकारनी ही पड़ती है. फलतः वस्तुकी सदसदात्मकता तो गलेपतित ही होगी. एतावता, जैसा कि आरोप लगाया जाता है, अनेकान्तता सिद्ध नहीं हो जाती. क्योंकि सदसदात्मकता, अर्थात्, ''स्याद् अस्ति च नास्ति'' वाली सम्भावना अनेकान्तवादके अन्तर्गत एक तृतीय एकान्तभंगिमा है. इसी तरह स्वरूपकृत परिच्छिन्नता भी सजातीय स्वरूप विजातीय स्वरूप तथा स्वगत स्वरूपके त्रैविध्यवश तीन प्रकारकी हो सकती है. स्वरूपकी परिच्छिन्नता ही तादात्म्याभाव अथवा भेद है. अतः सद्वादियोंके मतमें जैसे देश-कालकृत परिच्छिन्नताओंको आविर्भाव-तिरोभावकी धारणाद्वारा देश-कालसंबंधी प्रतीति तथा व्यवहारमें उपपादित किया जाता है. उसी तरह स्वरूपकृत परिच्छिन्नताओंको भी उपपादित किया जाता है. फलतः प्रत्येक वस्तुका प्रत्यन्य वस्तुके साथ तादात्म्य है. यह सहानवस्थायी भेद और भेदात्यन्ताभावसे घटित नहीं होता किन्तु भेद और भेदविरोधी अभेदसे घटित होता है. यहां 'अभेद' पदमें 'नञ्' 'असुर'पदके घटक विरोधार्थक 'नञ्'के जैसा है. सुर देवता और उनके विरोधी असुर दैत्य जैसे कैलाशमें या समुद्रमंथनके समय सहावस्थान कर सकते हैं, उसी तरह भेद और अभेद दोनों ही तादात्म्यसम्बन्धवश सहावस्थायी बन सकते हैं. यह कल्प द्वैत और उसके अत्यन्ताभावके सहावस्थानरूप होनेकी बात नहीं करता, किन्तु धर्म-धर्मी अंशांशि रूप-रूपवान और क्रिया-क्रियावान आदि दो सम्बन्धके बीच अनुभूत होते भेद, जो आत्यन्तिक नहीं होता, और अभेद, जो पुनः आत्यन्तिक नहीं होता, के एकत्र सहावस्थानकी बात करता है. अतः अनेकान्तवादके अन्तर्गत देखना हो तो—

१.स्याद् द्वैतम् अस्ति.

२.स्याद् द्वैतम् नास्ति.

३.स्याद् द्वैतम् अस्ति च नास्ति.

४.स्याद् द्वैतम् अवक्तव्यम्.

५.स्याद् द्वैतम् अस्ति च अवक्तव्यम्.
६.स्याद् द्वैतम् नास्ति च अवक्तव्यम्.
७.स्याद् द्वैतम् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च.

यों सप्तभंगिमाओंके अन्तर्गत पुनः यह एक चतुर्थ एकान्तभंगिमा ही है. तब इसे अनेकान्तवादका अनुसरण कैसे माना जा सकता है. 'तादात्म्य'का अर्थ यह ही है कि जहां दो वस्तुओंके सम्बन्धको द्वैत या उसके अत्यन्ताभावमें परिभाषित न किया जा सकता (स्याद् द्वैतं च अवक्तव्यं च) हो.

निष्कर्षरूपेण वह कहा जा सकता है कि महाप्रभुको सम्मत ''स्वाभाविक अद्वैत और ऐच्छिक द्वैतकी धारणामें इच्छा और ब्रह्मका परस्पर वही तादात्म्यसम्बन्ध है जो इस इच्छाके कारण प्रकट हुवे एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके साथ उसके अनेक नाम-रूपोंका सम्बन्ध है. अतः जैसे वे ब्रह्मात्मक है, अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न इसे कहा नहीं जा सकता, उभयथा प्रतीति एवं व्यवहारके सिद्ध होनेके कारण. उसी तरह इच्छा भी ब्रह्मात्मक होती है. अतः न तो अनेकान्तवाद और न अनवस्था या आत्माश्रय आदिके दोषोंकी आपत्ति यहां मानी जा सकती है. भास्करमतमें भी ब्रह्म और उपाधि के बीच यही तादात्म्य अभीष्ट था, परन्तु ऐसी वकालत कोई श्रीभास्कराचार्यका अनुयायी कर नहीं पाया. परिणामरूपेण शांकरों तथा रामानुजों के ऐसे आक्षेपोंको दृष्टिगत करनेपर समालोचकोंको भास्करमतमें कुछ शैथिल्यकी प्रतीति होनी स्वाभाविक थी. वाल्लभमतमें मान्य यह 'तादात्म्य' नामक सम्बन्ध सभी इतर दर्शनोंमें किसी न किसी तरह मान्य है ही. ऐसे सर्वमान्य सम्बन्धको वाल्लभदर्शन जड़-जीवरूप जगत् और ब्रह्म के बीचमें प्रस्थापित करना चाहता है.

जड़जीवात्मरूप जगत् अविकारी ब्रह्मका स्वरूपपरिणाम है, यह

धारणा, जो **''एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत् बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।२-३) तथा **''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत''** (तैति.उप.२।७) आदि श्रुतिवचनोंका सहज अर्थ है. फिर भी वेदान्तकी सभी विचारधाराओंमें सर्वमान्य नहीं बन पाया. क्योंकि परिणाम तथा परिणाम्युपादान के बीच द्वैत है या अद्वैत इस समस्याका समाधान, जो तादात्म्यसम्बन्धके बोध होनेपर ही सम्भव था, वह यहां अन्योंको दृष्टिगोचर न हो पाया.

तादात्म्यसम्बन्ध नैयायिकों शांकर आदि सभी विचारकोंको अन्यान्य संदर्भोंमें मान्य था ही. यह हम विवरणप्रमेयसंग्रहकारकी इस वचनमें एक स्पष्ट स्वीकृतिके रूपमें देख सकते हैं **''नच एकत्वमेव तादात्म्यम् इति वाच्यं, भेदाभेदसहम् अन्योन्याभावविरोधि तादात्म्यं भेदविरोधि एकत्वम् इति तयोः विविक्तत्वात्''** (वि.प्र.सं.वर्ण.१). परन्तु यहां जगत् और ब्रह्म के बीच उसे जोड़ देनेकी सूझ उन्हें नहीं आयी. परिणामतः उक्त श्रुतियोंका गौणार्थ करनेको उन्हें विवश होना पड़ा! हम देख चुके हैं कि जो खुलासा तादात्म्यसम्बन्धके कारण मिलता है, वह केवल द्वैताद्वैतकी बात करनेसे शक्य नहीं, यद्यपि तादात्म्य दोनों तरहके स्वभाव प्रकट करता है द्वैतका भी और अद्वैतका भी. तिसपर सद्वादमूलक आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाको लक्ष्यमें रखकर व्याख्या करने प्रयास किया जाये तो सारी कठिनाईयोंको सुलझाया जा सकता है. वस्तुमात्रको स्वभावतः देश-काल-स्वरूपकृत परिच्छेदोंसे रहित मानना सद्वाद है. **''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः''** (भग.गीता २।१६) यह सद्वादका प्राणभूत सूत्र है. फिर भी प्रतीति तथा व्यवहार में जो वस्तुकी देशकृत कालकृत या स्वरूपकृत परिच्छिन्नता प्रतीत होती है, उसकी आविर्भाव-तिरोभावके रूपमें व्याख्याका तात्पर्य यही है कि स्वभावतः वस्तुके अपरिच्छिन्न होनेपर भी परिच्छेदकी प्रतीति या तो हमारा अज्ञान है अथवा वस्तुके सर्वथा अपरिच्छिन्न होनेपर भी तत्तद् देश-काल-स्वरूपोचित क्रिया या प्रभावों का प्रकट न होना है, वस्तुके

वहां विद्यमान होनेपर भी. अर्थात् उस वस्तुमें अन्य वस्तुओंका व्यावहारिक तिरोभाव है. इस तरह आविर्भाव-तिरोभाववादसे सद्वादको मण्डित करनेपर सभी आपत्तिओंका समाधान प्राप्त हो सकता है.

जड़जीवात्मक जगत्‌का ब्रह्मके साथ तादात्म्य **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. स आत्मा. तत् त्वम् असि''** वचनके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्धके अंशोंका सावधानीपूर्वक अवलोकन करनेपर स्पष्ट हो जाता है. क्योंकि ''एतस्य आत्मनो भावः ऐतदात्म्यम्'' व्युत्पत्तिके अनुसार जैसे 'इदं' पदसे निर्दिष्ट दृश्यमान जड़ जगत्‌की ब्रह्मात्मकता वाक्यके पूर्वार्धमें 'ऐतदात्म्यम्' पदसे प्रकट होती है, वैसे ही चेतन जीवात्माओंकी ब्रह्मात्मकता भी वाक्यके उत्तरार्धमें ''तत् त्वम् असि'' वचनसे प्रकट होती है.

श्रीभास्कराचार्य तथा महाप्रभु दोनों ही अविकृतब्रह्मपरिणामवादी हैं. महाप्रभुके अनुसार, परन्तु, अविकृत ब्रह्मके जगदात्मना परिणत होनेका उदाहरण दूधका दहीं बन जाना नहीं है. क्योंकि एकबार दहीं बन जानेपर दूध दूध नहीं रह जाता और न उसे पुनः दूध बनाया ही जा सकता है. अविकृत परिणामकी कसौटी है—कारणकी अपने स्वभावसे अप्रच्युति और कार्यकी पुनः पूर्वभावापत्तियोग्यता. सुवर्ण अपने स्वभावसे प्रच्युत हुवे बिना कुण्डलात्मना परिणत होता है तथा कुण्डल-आकारको त्यागके पुनः पिण्ड-आकारमें अवस्थित हो सकता है. यह बात दुग्ध-दधिपरिणामकी प्रक्रियापर खरी नहीं बैठती. अतः वह, महाप्रभुके अनुसार, विकृतपरिणाम है. जबकि सुवर्ण-कुण्डल अविकृत-परिणामका उदाहरण है.

ब्रह्मसूत्र **''उपसंहारदर्शनाद् नेति चेद् न, क्षीरवद्धि''** (ब्र.सू.२।१।२४) में दुग्ध-दधिपरिणामका उदाहरण कर्तृनिरपेक्ष स्वतःपरिणतिके सादृश्यको लक्ष्यमें रखकर दिया गया है. यह परिणाम्युपादानकारण तथा परिणतकार्यके पारस्परिक सम्बन्धोंको समझाने नहीं दिया गया है, ऐसा यहां परके

अणुभाष्यके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है.

महाप्रभु द्वारा प्रस्तावित अविकृत-परिणामकी तरह श्रीभास्कराचार्य भी अप्रच्युत-स्वभावके परिणतिकी बात करते हैं. उदाहरण देते समय, परन्तु, यह सूक्ष्म अन्तर उनके लक्ष्यबहीर्भूत हो गया. महाप्रभुने इस विषयमें पर्याप्त सावधानी बरत ली है. अन्यथा अविकृतपरिणामवाद उभयसम्मत था. यों यद्यपि "सद्वाद + द्वैताद्वैतवैलक्षण्यवाद = शुद्धाद्वैतवाद" के समीकरण-सूत्रपर लक्ष्यपात करते हैं तो श्रीभास्कराचार्य निश्चिततया सद्वादी तो थे ही. परन्तु जब वे अपने आपको द्वैताद्वैती दिखलाते हैं तो द्वैत और उसके अत्यन्ताभावरूप अद्वैतका समुच्चय उन्हें मान्य था या महाप्रभुकी तरह उसका विरोधी एक भावरूप अद्वैतका समुच्चय उन्हें मान्य था यह स्पष्ट नहीं होता. सहज सम्भव है श्रीभास्कराचार्यको विवक्षित यही रहा होगा. फिर भी स्पष्ट, ऐसे किसी वचनके दृष्टिगत न होनेपर हठात् उन्हें द्वैताद्वैतवैलक्षण्यवादी माना नहीं जा सकता.

काश्मीरशैवदर्शन और शुद्धाद्वैत

पश्चिममें यहुदी चिन्तक फीलॉने जैसे 'लोगोस्'से जगत्की उत्पत्ति स्वीकारी थी कुछ वैसी ही प्रक्रिया काश्मीरमें वसुगुप्त (वि.सं.८८५के आसपास)ने और उनके शिष्य कल्लटने भी स्वीकारी थी. फीलॉका 'लोगोस्' और इन शैवोंका 'विमर्श' अतिशय निकटवर्ती धारणायें हैं. ९वीं शताब्दीसे १४वीं शताब्दी तक इस दर्शनका भारतमें पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुवा. इसे 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' भी कहते हैं. इसके समर्थक अनेक विद्वान आचार्य हुवे जिनमें अभिनवगुप्त और उनके शिष्य क्षेमराज आदि हमारे लिये विशेषतः उल्लेखनीय हैं.

महाप्रभुको अभीष्ट अविकृतपरिणामवादकी भाषामें सुवर्णकुण्डलन्यायसे जगत्कारण और कार्यजगत् के सम्बन्धकी व्याख्या काश्मीर शैव दर्शन प्रस्तुत नहीं करता है. जड़जीवात्मक जगत् और परमशिव के बीच

तादात्म्यकी धारणा किन्तु वाल्लभदर्शन और शैवदर्शनको निकट ले आती है. जगत् और शिव के बीच न तो अतिद्वैत और न अति-अद्वैत ही सम्भव है. क्योंकि परमशिवरूपा संविद विश्वात्मिका भी मानी गई है और विश्वोत्तीर्णा भी. जैसे महाप्रभु कहते हैं "**परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहद् द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्**" (सिद्धा.मुक्ता.२) अर्थात् धर्मिरूप परं ब्रह्म श्रीकृष्ण है तथा धर्मरूप सच्चिदानन्दकम् अक्षरब्रह्म. इस अक्षरब्रह्मके दो रूप होते हैं : १.सर्वात्मक और २.सर्वविलक्षण. इसी तरह क्षेमराज भी कहते हैं "**विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्ती संविदं नुमः**" (पराप्रवेशिका). "**विश्वमयो विश्वोत्तीर्णः परमशिवएव उदयविश्रान्तिस्थानत्वाद् निजस्वभावः**" (वहीं).

उक्त पराप्रवेशिकामें सिद्धान्ताभिमत ३६ तत्त्वोंका वर्गीकरण यों समझाया गया है :

> १.माया कला विद्याराग काल नियति पुरुष प्रकृति बुद्धि अहंकार मन श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा घ्राण वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आकाश वायु वह्नि सलिल और भूमि. कुल ३१.
>
> २.शुद्धविद्या ईश्वर सदाशिव तथा शक्ति. कुल ४.
>
> ३.परमशिव विश्वमय तथा विश्वोत्तीर्ण होनेसे उल्लिखित सभी तत्त्वोंका उदय-विश्रान्तिस्थल हैं. परमशिवरूप तत्त्व निजस्वभाव ज्ञान इच्छा क्रियात्मक केवल पूर्णानन्दस्वभाव होता है.

यों कुल ३६ तत्त्व गिनाये गये हैं. इन ३६ तत्त्वोंमें प्रारम्भके कुछ तत्त्वोंकी नामतः 'परमशिव' 'शक्ति' 'सदाशिव' 'ईश्वर' की विवेचना जान लेनी उपयोगी होगी. क्षेमराज कहते हैं :

“ ‘परमेश्वर प्रकाशरूप हैं और प्रकाशका स्वरूप विमर्शात्मक होता है. ‘विमर्श’का अर्थ होता है विश्वके आकारमें, अर्थात् विश्वके प्रकाशन या विश्वके संहरण दोनों अवस्थाओंमें एक अकृत्रिम अहंका विस्फुरण होना. परमेश्वरके निर्विमर्श होनेपर न तो वह ‘ईश्वर’ कहलायेगा और न जगत्का भास ही सम्भव रह जायेगा. क्योंकि तब सब कुछ जड़ ही होगा. इसी विमर्शके और भी अनेक नाम हैं ‘चित्’, ‘चैतन्य’, ‘स्वरसोदित परावाक्’, ‘स्वातन्त्र्य’, ‘परमात्माका मुख्य ऐश्वर्य’, ‘कर्तृता’, ‘स्फुरत्ता’, ‘सार’, ‘हृदय’, ‘स्पन्द’ इत्यादि. जिस परमशिवमें अकृत्रिम अहंका स्फुरण होता है वह स्वयंप्रकाशरूप है. परमेश्वर अपनी पारमेश्वरी शक्तिके कारण शिवसे लेकर धरणीतकके ३६ तत्त्वोंके रूपमें स्फुरित होता है, अर्थात् प्रकाशित होता है. समग्र विश्वका यह स्फुरण, जो परमेश्वरको अपने अकृत्रिम-अहंके रूपमें होता है, वही तो परमेश्वरके जगत्कर्ता होनेका तथा जगत्के कार्य होनेका स्वरूप है. ऐसा कार्यरूप जगत् अपने कर्ता प्रकाशरूप महेश्वरसे अभिन्न होता है. क्योंकि वह भिन्नतया वेद्य होता तो उसका भास ही सम्भव न होता. अप्रकाशमान होनेपर वह असत् ही होता’’.

(पराप्रवेशिका).

निष्कर्षरूपेण क्षेमराज कहते हैं ‘‘एवञ्च ....पूर्णाहंतापरामर्शसारत्वात् परमशिवएव षड्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः प्रपञ्चः’’.

पश्चात् इन तत्त्वोंके लक्षण देते हुवे क्षेमराज कहते हैं कि इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक केवल पूर्ण आनन्दस्वभावरूप परमशिव प्रथम तत्त्व हैं. इसी परमशिवको जब जगत्के सृजनकी इच्छा होती है तब जो

प्रथम स्पन्द उसमें होता है उस इच्छाको 'शक्ति' कहते हैं. उस परमेश्वरकी इच्छाका कभी प्रतिघात नहीं हो सकता. अतः अप्रतिहतेच्छ होनेके कारण परमशिवकी अहंतामें इदमात्मना जब यह जगत् अंकुरित हो रही होती है तब जगत्की 'इदंता' परमेश्वरकी 'अहंता'से आच्छादित हुई ही रहती है "अहम् इदम्" रूपमें. इस अवस्थाको 'सदाशिव'तत्त्व कहा जाता है. अंकुरित हो जानेपर जगत्की 'इदंता' ढकी हुई नहीं रह जाती... जब परमेश्वर अपनी अहंतासे उसे समावृत कर लेता है. ऐसी उस अवस्थाको 'ईश्वर' तत्त्व कहा जाता है.

क्षेमराजके अनुसार उक्त इदंता और अहंता के बीच ऐक्यकी प्रतिपत्ति 'शुद्धविद्या' कहलाती है. तथा सारे भावोंके शिवस्वरूप होनेपर भी उनमें भेदकी प्रतीति माया है. इस पारमेश्वरी शक्तिसे निजरूपका निगूहन करके जब समग्र इदमास्पद विश्वको अपनी अहंतासे समावृत नहीं करता, तब ऐसी संकुचित ग्राहकताके कारण वह 'पुरुष' नामसे अभिहित होता है. परमेश्वरकी इस पुरुषावस्थामें मायामोह बंधन या संसार शक्य हो पाता है. इस पुरुषके परमेश्वरसे अभिन्न होनेपर भी मोह इसी रूपमें परमेश्वरको होता है, अपने निजरूपमें नहीं. जैसे जादुगरकी जादुसे प्रेक्षक मोहित हो जाता है पर स्वयं जादुगर नहीं. यह पुरुष भी परमेश्वरसे अपने ऐक्यकी प्रत्यभिज्ञा होनेपर स्वयं परमशिव बन सकता है. अतएव यह पुरुष मूलतः सर्वकर्ता सर्वज्ञ पूर्ण नित्य व्यापक होनेपर भी मायाशक्तिवश संसारसंकुचितग्राही बनकर किञ्चित्कर्ता किञ्चिज्ज्ञ विषयासक्त नियतकालवर्ती अनित्यप्रकाशरूप नियतदेशमें नियतकार्यकारी बन जाता है. इन पंचविध स्वरूपावरणोंको क्रमशः "कला विद्या राग काल तथा नियति तत्त्व" कहा जाता है. महद्-बुद्धिसे लेकर पृथ्वी तकके सारे तत्त्वोंकी सत्त्वरजस्तमोरूपा अविभक्त मूलकारणरूपा साम्यावस्था प्रकृति तत्त्व है.

इस तरह हम देख सकते हैं कि समूचा विश्व, काश्मीर शैव

दर्शनके अनुसार परमात्माकी चेतनामें एक प्रत्ययकी तरह उभरता है और लीन होता है. परमात्मचेतनासे बाहर उसका कोई स्वरूप नहीं है.

स्पष्ट है कि उपरी तौरपर महाप्रभुकी भाषासे भिन्न रीतिकी भाषामें यहां शुद्धाद्वैतका प्रतिपादन हुवा है. महाप्रभुके मतमें एक ब्रह्मका अनेक नाम-रूपोंमें प्राकट्य या व्युच्चरण आगमेंसे जैसे तिनके बाहर निकलते हैं वैसे रूपमें श्रौत उदाहरणद्वारा समझाया गया है. इससे कुछ ऐसा आभास मिलता है कि ब्रह्मकी स्वभाव चेतना और आनन्द मेंसे जागतिक जड़ जीव ईश्वर अर्थात् सत् चित् एवं आनन्दरूप सजातीय अंशोंका पृथक्त्वरूप बहिरागमन अथवा बहिरुद्गमन होता है. जबकि चेतनामें प्रत्ययके उभरने या पुनः लीन हो जानेकी प्रक्रियामें बहिर्भाव नहीं झलकता.

इस वैषम्यमें रहस्य यही है कि महाप्रभुके मतमें ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय है अतः वह साकार भी है पुरुषोत्तमके रूपमें और व्यापक-निराकार-अपरिच्छिन्न भी अक्षरब्रह्मके रूपमें. जैसे सूर्य साकार है गोल पिण्डके रूपमें और निराकार है सर्वत्र प्रसृत अपनी प्रभाके रूपमें. इनमें परस्पर धर्मी तथा धर्म होनेका सम्बन्ध भी अनुभूत होता है.

देश-काल-स्वरूपतः ब्रह्मको अपरिच्छिन्न मानना स्वयं इस तथ्यकी ओर संकेत है कि जो भी नाम-रूप प्रकट होते हैं वे ब्रह्मसे बाहर नहीं किन्तु ब्रह्मके भीतर ही. जैसे सागरमें जलकी अन्तर्धारा प्रकट होती है, उनके और सागरके तापमानोंमें भेद भी रहता बताया जाता है. फिर भी दोनोंके बीचमें अंशांशिभावसे पार्थक्यकी अनुभूतिके साथ ही साथ सागरके एकत्वमें वह सागर और अन्तर्धाराका पार्थक्य बाधक नहीं होता. ऐसी स्थितिमें जड़ या जीवका जो **''यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुल्लिंगाः व्युच्चरन्ति''** (बृह.उप.२।१।२०) श्रुतिमें वर्णित व्युच्चरण

है वह सागरसे सागरमें ही प्रकट होती अन्तर्जलधाराकी तरह होता है. श्रौत उदाहरणमें जो आगमेंसे तिनकोंके बाहर निकलनेकी बात कही गई है वह 'बाहर-निकलने'के अंशमें उदाहरण नहीं है, किन्तु ''अंशीमेंसे सजातीय अंशोंके प्रकट होने''के अंशमें दिया गया उदाहरण है. अतः परमशिवकी चेतनामें उभरे विभिन्न इदंकारास्पद प्रत्ययोंको अहंकारात्मना विमर्श जैसे परमशिवसे बहिर्भूत नहीं उसी तरह एक ब्रह्ममें अनेक नाम-रूपोंका उद्‌गम भी ब्रह्मसे सर्वथा बहिर्भूत नहीं कहा जा सकता है.

जैसे जड़जीवात्मक जगत् या प्रकृति-पुरुष महाप्रभुके मतमें ब्रह्मके ही दो ब्रह्मात्मक रूप हैं. ठीक उसी तरह प्रकृति-पुरुष इस शैव मतमें भी, परमशिवात्मक ही हैं, मिथ्या नहीं.

महाप्रभु जैसे कहते हैं :

> प्रपंचो भगवत्कार्यः तद्रूपो मायया अभवत्. तच्छक्त्या अविद्ययातु अस्य जीवसंसारः उच्यते. संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपंचस्य कर्हिचित्. कृष्णस्य आत्मरतौतु अस्य लयः सर्वसुखावहः. पंचपर्वातु अविद्या हि जीवगा मायया कृता. आकाशवद् व्यापकं हि ब्रह्म मायांशवेष्टितं 'बहु स्यां प्रजायेय' इति वीक्षा तस्य हि अभूत् सती. तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतना सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे... विस्फुलिंगाइव अग्नेस्तु सदंशेन जड़ाअपि. आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः. सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोः अन्यलीनता... जड़ो जीवो अन्तरात्मा इति व्यवहारः त्रिधा मतः. विद्याविद्ये हरेः शक्ती... ते जीवस्यैव न अन्यस्य दुःखित्वं चापि अनीशता. स्वरूपाज्ञानम् एकं हि पर्व देहेन्द्रियासवो अंतःकरणम् एषां हि चतुर्थाध्यास उच्यते. पंचपर्वातु अविद्या इयं यद्बद्धो

याति संसृतिम्. विद्यया अविद्यानाशेतु जीवो मुक्तो भविष्यति. देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ताः भवन्ति हि. तथापि न प्रलीयन्ते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम्''.

(त.दी.नि.१।२३-३४).

अर्थात् प्रपंच भगवान्‌द्वारा निर्मित तथा भगवद्रूप कार्य है. भगवान् अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिसे प्रपंचरूप धारण करते हैं. भगवान्‌की अनेक शक्तिओंमें एक शक्ति अविद्याके कारण जीवको संसाराभिमान जगता है परन्तु मोक्षदशामें संसारका ही लय होता है, प्रपंचका नहीं. प्रपंचका लय तो कृष्णकी आत्मरमणकी इच्छा होनेपर ही सम्भव है. जिस अविद्याके कारण संसाराभिमान जीवमें जगता है, उसके पांच पर्व माने गये हैं : स्वरूपाज्ञान अंतःकरणाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास और देहाध्यास. अविद्याके ये पांचों पर्व जीवसे जुड़ जाते हैं. आकाशकी तरह व्यापक ब्रह्मसे अभिन्न व्युच्चरित चिदंश इस पंचपर्वा अविद्यासे वेष्टित होनेपर अपने आपको संसारी मान बैठता है. अपने अनेक रूप धारण करनेके संकल्पसे ब्रह्ममेंसे ब्रह्मभूत अंशरूप चेतनाओंका व्युच्चरण होता है. जैसे आगमेंसे तिनके निकलते हैं इसी तरह सभी जड़ पदार्थ ब्रह्मके सदंश हैं, सभी जीव चिदंश हैं, तथा सभी आनन्दांश अन्तर्यामी बनते हैं. विद्या और अविद्या भी हरिकी शक्तियां हैं. पर इनसे जीव ही प्रभावित होते हैं, स्वयं ईश्वर नहीं. अतएव जीव ही अपने-आपको दुःखी तथा अनीश पाते हैं. विद्याशक्तिसे, किन्तु, जब अविद्याशक्ति दूर होती है तो जीव मुक्त हो जाता है. उसके देह-इन्द्रिय-प्राण-अंतःकरणके अध्यास और स्वरूपविस्मृति निवृत्त हो जाते हैं. जीवन्मुक्तके देहइन्द्रियादि निवृत्त नहीं होते किन्तु इनके साथ जुड़ी क्षुद्र अहंता-ममता उसकी निवृत्त हो जाती है. इसे लय नहीं समझ लेना चाहिये. क्योंकि जीवन्मुक्तके साथ ये विद्यमान रहते ही हैं. फिर भी उसे इनमें क्षुद्र अहंता-ममता नहीं भासित होती.

यही बात क्षेमराज भी कहते हैं :

> ''अहन्तेन्दतयोः ऐक्यप्रतिपत्तिः शुद्धविद्या स्वस्वरूपेषु भावेषु भेदप्रथा माया. यदातु परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या स्वरूपं गूहयित्वा संकुचितग्राहकताम् अश्नुते तदा 'पुरुष'संज्ञः. अयमेव मायामोहितः कर्मबन्धनः संसारी. इन्द्रजालमिव ऐन्द्रजालिकस्य स्वेच्छया सम्पादितभ्रान्तेः. विद्याभिज्ञापितैश्वर्यस्तु चिद्घनो मुक्तः परमशिवएव. सर्वकर्तृत्वं सर्वज्ञत्वं पूर्णत्वं नित्यत्वं व्यापकत्वं च शक्तयो असंकुचितापि संकोचग्रहणेन कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भवन्ति... ईदृशं हृदयबीजं तत्त्वतो यो वेद समाविशति च स परमार्थतो दीक्षितः प्राणान् धारयन् लौकिकवद् वर्तमानो जीवन्मुक्तएव भवति. देहपाते परमशिवभट्टारकएव भवति''.

काश्मीर शैव दर्शनसे वाल्लभ मतकी तुलना करनी हो तो सबसे मज़ेदार अंश महाप्रभुकी तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी(३।४।२)का अधोलिखित निरूपण है :

> ''इस शास्त्रमें ज्ञानको त्रिक्षणावस्थायी नहीं माना गया है. गन्ध विद्यमान होनेपर भी समनस्क होकर घ्राणेन्द्रियसे ग्रहण करनेके प्रयास किये जानेपर ही गृहीत होती है. वैसे ही मनके व्यापारित होनेपर ही ज्ञान गृहीत होता है.
>
> भगवान्में ज्ञान नित्य विद्यमान रहता है परन्तु अन्योंमें वह जन्य होता है.
>
> लोक तथा शास्त्र भगवान्से अन्य ज्ञाताओंके लिये ज्ञानके पोषक होते हैं. जैसे शरीरका पोषक अन्न होता है. इन्द्रियां ज्ञानकी जनक होती हैं तथा अभ्याससे ज्ञान

दृढ़ होता है.

ज्ञानके तीन प्रकार होते हैं : १.सात्त्विकज्ञान २.राजसज्ञान ३.तामसज्ञान.

निषिद्ध देश-काल-द्रव्य-कर्म-कर्ता-मंत्रके कारण ज्ञानका नाश होता है. किन्तु विहित देशादिके कारण अन्तःकरणकी शुद्धि होती है. अतएव विहित देशादि ज्ञानके पोषक होते हैं. घरमें सावधानीसे संभालकर रखनेपर जैसे घरकी वस्तु सुरक्षित रहती है वैसै ही प्रयत्नपूर्वक स्थापित ज्ञान अन्तःकरणमें सुरक्षित रहता है.

शब्द और विषय जनितज्ञानके उद्दीपक होते हैं और अजनित ज्ञानके उत्पादनमें सामग्रीरूप भी.

इस ज्ञानको 'बुद्धि' 'चेतना' आदि अनेक शब्दों द्वारा अभिहित किया जाता है.

ज्ञान भी भगवान्के अनेक रूपोंमेंसे एक रूप है. ज्ञानके भी पुनः अनेक रूप दिखलाये जा सकते हैं. फिर भी भगवल्लीलाका वर्णन क्योंकि भागवतमें दशधा हुवा है, अतः यहां दशविध ज्ञानका वर्णन अभीष्ट है : १.ज्ञानका सर्वप्रथम प्रकार है : सच्चिदानन्द परमात्मामें धर्मिभूत आश्रयरूप ज्ञान जो सर्वोपास्य एवं सर्वात्मभूत होता है. यह मुख्य अविकृत ज्ञान है जीवचेतना इसी ज्ञानका अंश है. २.ज्ञानका द्वितीयरूप है : भगवान्में धर्मभूत गुणरूपेण रहा हुवा ज्ञान. यह भी अविकृत ही है तथा सर्वप्रकाशक भी जीवमें प्रकट होता ब्रह्मज्ञान इसीका अंश होता है. ३.सृष्टिको प्रकट करनेकी इच्छासे उल्लिखित द्वितीय ज्ञान वेदके शरीरको धारण करता है. यह सृष्टिको प्रकट करनेके लिये आवश्यक सभी तरहसे सूक्ष्म एवं समष्टिभूत विराट-अनन्त ज्ञान होता है. ४.वेदरूप सूक्ष्मज्ञान जब बीज बनता है तब उसमेंसे अंशभूत असंख्य व्यष्टिरूप स्थूल शब्द प्रकट

होते हैं. ५.ये शब्दरूप ज्ञान प्रमेयाश्रित होते हैं. प्रमेय अपने-आपमें यद्यपि अनन्तविध होते हैं, फिर भी एक प्रमेयके रूपमें, असंख्य घट-पट-नर-पशु-देव आदिका एकत्व अनुभूत होता है. रूप असंख्य है पर प्रमेयके रूपमें वे सभी एक हैं तथा अभिधेय बनते हैं. अतः ज्ञानका एक पांचवा रूप प्रमेयत्वावच्छिन्न ज्ञान भी होता है.

शब्द जैसे प्रमेयाश्रित प्रमेयत्वावच्छिन्न ज्ञान होता है वैसे ही प्रमात्राश्रित भी होता है. प्रमात्राश्रित ज्ञानके पुनः पांच भेद होते हैं. जिसमें प्रथम चार प्रभेद अन्तःकरणके चतुर्ग्रन्थि होनेसे चार प्रकारके होते हैं. यथा :

६.प्रमात्राश्रित मनोजन्य ज्ञान संकल्पविकल्पात्मक संशयरूप होता है. ७.प्रमात्राश्रित बुद्धिजन्य ज्ञान विपर्यास निश्चय तथा स्मृतिरूप होता है. ८.प्रमात्राश्रित अहंताजन्य ज्ञान स्वरूपज्ञान होता है. ९.प्रमात्राश्रित चित्तजन्यज्ञान निद्रारूप निर्विषयक या आत्मैकविषयक होता है. १०.प्रमात्राश्रित पंचज्ञानेन्द्रियजन्य प्रत्यक्षानुभवरूप ज्ञान निर्विकल्पात्मक होता है.''

इन दशविध ज्ञानोंमें प्रथम ज्ञान, काश्मीर शैव दर्शनमें अभिमत परमशिवस्थानीय है. जिसे क्षेमराज 'पुरुषतत्त्व' कहते हैं वह इसीके असंख्य अंश हैं.

द्वितीय ज्ञान शक्तिस्थानीय है. जिसे क्षेमराज ''शक्ति शुद्धविद्या माया विद्या तत्त्व''के रूपमें वर्णित करते हैं उनका यहीं अन्तर्भाव माना जायेगा.

अन्तःकरण, काश्मीर शैव दर्शनमें, तीन ग्रन्थिओंवाला

मनो-बुद्धि-अहंकाररूप माना गया है. जबकि वाल्लभमतमें मनो-बुद्धि-अहंकार एवं चित्त यों चतुर्ग्रन्थि माना गया है.

क्षेमराजप्रदत्त सूचीमें छठा तत्त्व माया महाप्रभुको अभिमत अविद्याका प्रथमपर्व स्वरूपविस्मृति है. अवशिष्ट चार पर्व अन्तःकरण प्राण इन्द्रिय और देहमें अहंता-ममतारूप अध्यास हैं जिनके कारण ब्रह्मांशभूत जीवचेतना या पुरुष सर्वज्ञ सर्वकर्ता पूर्ण नित्य व्यापक होनेपर भी संकुचित शक्तिवाला बन कर कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूप धर्मोंसे समावृत्त हो जाता है, यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं आती, क्योंकि 'कला'का अर्थ किंचित्कर्तृता, 'विद्या'का अर्थ किञ्चिज्ज्ञता, 'राग'का अर्थ विषयाभिसंग, 'काल'का अर्थ पुरुषको होते भास-अनवभासमें भूत-वर्तमान-भविष्यत्की क्रमिकता; तथा 'नियति'का अर्थ कर्तव्याकर्तव्यरूप कर्मनियति स्वीकारे गये हैं.

यहां निरूपणशैलीका ही केवल भेद है सिद्धान्तवैपरीत्य कुछ भी नहीं है.

पुरुषसे प्रारम्भ कर भूमिपर्यन्तके जो सांख्यशास्त्रीय २५ तत्त्व गिनाये गये हैं, वे तो यथावत् वाल्लभदर्शनमें भी स्वीकारे ही गये हैं.

जीवन्मुक्त जीवात्माके निरध्यस्त देहादि रहते हैं, यह भी दोनोंको समानतया स्वीकार्य पद्धति है.

इसके अलावा शुद्धाद्वैतके प्रमुख ९ उपवादोंमेंसे कार्यकारणतादात्म्यवादको महाप्रभुविरचित पत्रावलम्बनोक्त विचारशैलीमें ही क्षेमराज भी निरूपित करते हैं :

"घटशरावादीनां मृद्विकाराणां पारमार्थिकं रूपं मृदेव.....
तथा पृथिव्यादिभावम् आपन्नानां तत्त्वानां सत्त्वं मीमांस्यमानं

'सद्'इत्येव भवति. अस्यापि पदस्य निरूप्यमाणं धात्वर्थव्यञ्जकं प्रत्ययांशं प्रकृतिमात्ररूपः सकारएव अवशिष्यते''.

इसी तरह महाप्रभु भी पत्रावलम्बनमें कहते हैं :

''ननु लोकनिपुणाः कथं मन्यन्ते? शब्दार्थविचारेण इति ब्रूमः. कथम्? शब्दानाम् अर्थे विचार्यमाणे ब्रह्मैव सर्वं भवति. 'घट'-'पटा'दिशब्दाः धर्मवाचकाएव भवितुम् अर्हन्ति, घटत्वादिविशिष्टवाचकाः हि एते इति लोकप्रसिद्धिः. 'घटत्वम्'इति घटगतो कश्चिद् धर्मः यत् सद्भावाद् 'घट'पदवाच्यता धर्मिणः. तस्य भावः त्वतलौ इति त्वो भावप्रत्ययः. 'भाव' इति भूधातोः घञि रूपम्. भूधातुः सत्तायां व्याप्तौ वा. उभयथापि व्यापकस्य सतो वा धर्मस्य वाचको भवति.''

इस तरह हम देख सकते हैं कि शांकर विवर्तवाद तथा वाल्लभ परिणामवाद दोनोंसे बचते हुवे काश्मीर शैव दर्शन एक विलक्षण शैलीमें शुद्धाद्वैतको स्वीकारता है. वाल्लभ शुद्धाद्वैतवादकी ही रीतिसे इस काश्मीर शुद्धाद्वैतवादमें भी द्वैत ऐच्छिक है, मायिक नहीं. अतएव वाल्लभमतमें जैसे ''आनन्दांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति'' (त.दी.नि.१।३६) कहा जाता है वैसे ही यहां भी 'सोऽहम्' या 'शिवोऽहम्'की भावनावाली प्रत्यभिज्ञासे पुरुषमें परमशिवभाव पुनः सिद्ध होता है.

प्रत्यभिज्ञाका स्वरूप शांकर मतमें भी 'सोऽहम्' तथा 'तत्त्वमसि' वचनोंसे उपदिष्ट हुवा है. वहां, किन्तु, 'तत्'पदवाच्य परमात्मा और 'त्वं'पदवाच्य जीवात्माके परमत्व और जीवत्वको मिथ्या मानकर शुद्ध आत्मैक्यके तात्पर्यावगाहनमें उपदेश पर्यवसित होता है. इसके विपरीत काश्मीर शैव दर्शनकी प्रत्यभिज्ञा तथा वाल्लभदर्शनमें मान्य प्रत्यभिज्ञामें

परमत्व और जीवत्व के ऐच्छिक भेदको वास्तविक मानकर, दोनोंके स्वाभाविक एकत्वकी प्रत्यभिज्ञाकी धारणा प्रस्तुत की गई है. महाप्रभु कहते हैं :

> ''यथाकथञ्चिद् माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढो सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिः नच अन्यथा. रतिः स्नेहो देवत्वं माहात्म्यं तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति''.
>
> (त.दी.नि.१।४१-४२).

इस तरह काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं वाल्लभ शुद्धाद्वैतदर्शन में एक विलक्षण शुद्धाद्वैत है यह सिद्ध होता है.

''सद्वाद + द्वैताद्वैतवैलक्षण्यवाद = शुद्धाद्वैतवाद'' समीकरणसूत्रके सन्दर्भमें प्रत्यभिज्ञादर्शन पूर्णतया खरा उतरता है. परन्तु जहां तक नौ उपवादोंका प्रश्न है, इदमित्थतया उनका कंठोक्त निरूपण खोजना व्यर्थ आयास होगा. क्योंकि जो भाषा प्रत्यभिज्ञादर्शनने अपनायी है वह वाल्लभ शुद्धाद्वैतकी भाषासे सर्वथा भिन्न है. यह सर्वदर्शनसंग्रहकार द्वारा उद्धृत आचार्य वसुगुप्तके अधोलिखित वचनके अवलोकनसे स्पष्ट हो सकता है :

> निरुपादानसम्भारम् अभित्तावेव तन्वते।
> जगच्चित्रं नमः तस्मै कलानाथाय शूलिने।।

भावार्थ : यह जगद्रूप चित्र किसी उपादानरूप भींतपर चित्रित नहीं हुवा है, किन्तु परमशिवकी दिव्य चेतनामें ही उभरा चित्र है.

इससे सिद्ध होता है कि सत्कारणवाद सत्कार्यवाद अविकृतपरिणामवाद अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादकी चर्चा ही यहां अप्रसक्त हो जाती है. अवशिष्ट ब्रह्मवादस्थानीय यहां परमशिववाद है. ब्रह्म और परमशिव को गीताकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने अभिन्न मानकर सारा निरूपण किया है. महाप्रभुके पुष्टिमार्गके अनुरूप अभिनवगुप्त भी भगवत्कृपामूलक मोक्षाधिकार प्राणिमात्रका स्वीकारते हैं ''**केचिद् आचक्षते द्विजराजन्यप्रशंसापरम् एतद्वोक्यं नतु स्त्र्यादिषु अपवर्गप्राप्तितात्पर्येण इति. तेहि भगवतः सर्वानुग्राहिकां शक्तिं मितविषयतया खण्डयन्तः तथा परमेश्वरस्य परमकृपालुत्वम् असहमानाः ...... असत्प्रलापिनः हास्यरसविषयभावम् आत्मनि आरोपयन्ति**'' (गीताव्या.९।३५).

सब कुछ विज्ञानाद्वैतवादकी भाषामें निरूपित हो रहा होनेसे कहीं कोई विरोध उपस्थित ही नहीं होता तब इन शैवोंके लिये ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रयके रूपमें निरूपित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती. पर हम नहीं समझते कि उन्हें विरुद्धधर्माश्रय माननेमें कोई आपत्ति होगी. क्योंकि भोक्ता-भोग्य भेद-अभेद आदिके जो परस्पर विरोध हैं उन्हें, ये शैव भी तो तादात्म्यकी धारणाद्वारा स्वीकारते ही हैं :

न भोग्यं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुः त्वत्तो विभाव्यते।
एषएव हि भोगो यत् तादात्म्यं भोक्तृभोग्ययोः॥
(लघुप्रक्रिया).

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।
(स्पन्द.२नि.४श्लो.).

गीताके सातवें अध्यायके दो श्लोकों (१० और ११)में अभिनवगुप्तने भगवान्के बीज होनेका अर्थ सूक्ष्म आदिकारण किया है. तथा ''बलं बलवताम् अस्मि कामरागविवर्जितम्''की व्याख्या करते हुवे कहते हैं

कि सकल वस्तुओंको धारण करनेकी सामर्थ्य भगवान्में हैं. इसी तरह "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामो अस्मि" की व्याख्या करते हुवे कहते हैं कि 'काम'का अर्थ यहां इच्छा है जो संविद्रूपा होती है. जिसके साथ सत्य घट-पट आदि धर्मोंका कोई विरोध नहीं है. क्योंकि इच्छा सर्वत्र भगवच्छक्तिरूप होनेसे घट-पट आदि धर्मोंसे विरुद्ध नहीं होती. अपितु उनसे अनुरूप होती है.

इसी अध्यायके श्लोक (१२-१४) में लीलार्थ सृष्टिवादका अभिनवगुप्तने अतिसुन्दर निरूपण किया है :

> "सत्त्वादीनि मन्मयानि नतु अहं तन्मयः. अतएव च भगवन्मयः सर्वं भगवद्भावेन संवेद्यते, नतु नानाविधपदार्थविज्ञाननिष्ठो भगवत्तत्त्वं प्रतिपद्यते.... कथं खलु सत्वादिमात्रस्थिता भगवत्तत्त्वं न विदुः? इत्याह 'देवः' क्रीडाकरः, तत्र भवा दैवी क्रीडा मम इयम् इति अर्थः. तेन सत्त्वादीनां वस्तुतः संविन्मात्र-परब्रह्मानतिरिक्तायामपि यत् तदतिरिक्तावगमनं तदेव गुणत्वं भोक्तृतत्त्वपारतन्त्र्यं भोग्यत्वम्. तच्च भेदात्मकं रूपं संसारिभिः अनिर्वाच्यतया तान् प्रति मायारूपम्. अतो परमार्थब्रह्मप्रकाशविदः ते तदनतिरिक्तं विश्वं पश्यन्तो गुणानां सत्त्वादीनां गुणतालक्षणां भेदावभासस्वभावां मायाम् अतितरन्ति इति".
>
> (गीताव्या.७।१२-१४).

भावार्थ : सत्त्वरजतमोगुण भगवन्मय ही हैं परन्तु भगवान् गुणमय नहीं. अतएव भगवन्मयको सभी कुछ भगवद्रूप लगता है. परन्तु नानाविधपदार्थके वेत्ताको भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं होता. यही तो भगवान्के देव अर्थात् क्रीडाकर्ता होनेके कारण उनकी दैवी क्रीडामयी माया है कि जो सत्त्वादि गुण वस्तुतः भगवद्रूप हैं वे भी वैसे अनुभूत नहीं होते.

अतएव भोक्ता परमशिवके अधीन भोग्य जीवोंको रहना पड़ता है. जो संसारी लोग इस भेदात्मक रूपका निर्वचन नहीं कर पाते हैं उनके लिये वही भेदात्मक रूप माया बन जाता है. और जो पारमार्थिक ब्रह्मप्रकाशके स्वरूपको जानकर इन्हें निहारते हैं, उन्हें यह भेद दिखलाई नहीं देता. फलस्वरूप वे मायाको लांघ जाते हैं. यह लीलात्मकताका प्रतिपादन आत्मतुष्ट परमशिवकी सृष्टिक्रीडाद्वारा सिद्ध होता है.

रही आविर्भाव-तिरोभाववादकी बात, तो वहां भी यही अवधेय है विज्ञानाद्वैतवादी प्रक्रियामें इनका 'उन्मेष' 'निमेष' रूप शब्दान्तरोंमें वर्णन उपलब्ध होता ही है.

शैवदर्शनका व्यापक प्रसार :

केवल काश्मीरमें ही नहीं किन्तु सुदूर दक्षिणमें भी शैवोंने अपनी शुद्धाद्वैती धारणाका इस युगमें (अर्थात् शंकरोत्तर तथा महाप्रभुपूर्व) पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया था.

वि.सं.१२६६-१३०३में देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद)के राजा सिंघणके आश्रित विद्वान संगीतरत्नाकर श्रीशार्ङ्गदेव अपने इस ग्रन्थके सातवें अध्यायका मंगलाचरण इन शब्दोंमें करते हैं :

आंगिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥

भावार्थ : आंगिक अभिनय (अंगोंसे प्रदर्शित की जाती चेष्टा) वाचिक अभिनय (संवाद) आहार्य अभिनय (मॅक्-अप्) सात्त्विक अभिनय (मनोभावद्योतक नेत्र मुख आदिकी भंगिमा) यों चतुर्विध अभिनय होता है. यह समग्र जगत् परमेश्वर शिवका आंगिक अभिनय है. जगत्का संपूर्ण वाङ्मय इस परमेश्वर शिवके अनेकविध संवाद

है. अर्थात् वाचिक अभिनय है. चन्द्र-तारे आदि उस परमेश्वरका वेशभूषा शृंगार हैं अर्थात् आहार्य अभिनय है. यह अभिनय किसी अशिव माया अथवा शैतान आदिका निन्द्य कपट नाटक या छलप्रपंच नहीं है किन्तु परमस्तुत्य शिवकी शिवात्मिका मनस्थितिकी ही बाह्याभिव्यक्ति है. शुद्धाद्वैतकी धारणाकी इससे अधिक सुन्दर काव्यात्मिका अभिव्यक्ति ओर क्या हो सकती है!

इसी ग्रन्थके प्रथमाध्यायके द्वितीय प्रकरणमें श्रीशार्ङ्गदेव कहते हैं :

> ''ब्रह्म है और वह चिदानन्द स्वयंज्योति निरंजन ईश्वर अद्वितीय अज विभु लिंगरूप निर्विकार निराकार सर्वेश्वर अनश्वर सर्वशक्तियुक्त सर्वज्ञ है. इस ब्रह्मके अंशको 'जीव' कहा जाता है... जीवोंके उपभोगके लिये वह अज जगत्की सृष्टि करता है. स्वयं तथा जीव को विश्रांति देनेके हेतु वह सृष्टिका उपसंहार भी करता है. सृष्टि और संहार का यह क्रमिक प्रवाह अनादिकालसे चलता आ रहा है. न तो ये जीव परमात्मासे भिन्न है और न जड़ जगत् ही परमात्मासे भिन्न है. परमेश्वर अपनी शक्तिके द्वारा सृष्टि रचता है अतः यह सृष्टि उस परमेश्वरसे अभिन्न है. कुण्डल जैसे सुवर्णसे अभिन्न होता है. कुछ अन्य वेदान्ती, किन्तु, इस जगत्को अविद्यावश प्रतीत होता मानते हैं. जैसे अविद्यावश रस्सीपर सर्पकी प्रतीति होती है.''
>
> (संगी.रत्ना.१।२।४-१२)

हम देख सकते हैं कि यहां स्वरूपपरिणामवादपर अवलंबित जगद्-जगदीशके तादात्म्यका प्रतिपादन किया जा रहा है. यह शुद्धाद्वैतवाद नहीं तो और क्या हो सकता है?

श्रीविष्णुस्वामी, श्रीधरस्वामी तथा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य :

स्वयं वाल्लभ सम्प्रदायके कतिपय लेखक तथा सम्प्रदायेतर लेखक भी कई तरहकी उत्प्रेक्षामूलक मान्यता श्रीविष्णुस्वामी और महाप्रभु के परस्पर सम्बन्धके बारेमें प्रचारित करते रहते हैं. यथा महाप्रभुकी मान्यतामें दार्शनिक शुद्धाद्वैतवादी सिद्धान्त विष्णुस्वामीका था परन्तु पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाप्रणाली या तो स्वयं महाप्रभुद्वारा प्रवर्तित अथवा उनके आत्मज श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण द्वारा प्रचारित मानते हैं. अन्य कुछ लोग महाप्रभुकी दार्शनिक या साधनाप्रणाली सम्बन्धी मान्यताओंको महाप्रभुकी अतीव मौलिक मान लेनेकी भ्रमणाके वश उनका किसी भी तरहका सम्बन्ध विष्णुस्वामीसे नहीं था, ऐसा अनर्गल विधान भी कर देते हैं. कतिपय चैतन्यसम्प्रदायके विद्वानोंकी ऐसी भी धारणा है कि स्वयं महाप्रभुने अपने विचारों जनमान्य बनानेको केवल विष्णुस्वामीके साथ अपना मिथ्या सम्बन्ध (द्रष्ट.''केचित् स्वकल्पनायाः निर्मूलत्वं दूषणम् अपनिनीषवो विष्णुस्वाम्यनुयायिनंमन्याः नवीनाएव'' बलदेवकृत सि.र.टिप्प.२-९।८) जोड़ लिया था!

वैसे श्रीविष्णुस्वामीका काल स्पष्टतया तो ज्ञात नहीं होता है. फिरभी सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य (वि.सं.१३५३-१४४३)द्वारा इनका नामोल्लेख किया गया होनेसे इनके कालकी उत्तरावधि १३वीं शताब्दी मानी जाती है. कुछ विद्वान उन्हें श्रीशंकराचार्यसे भी बहुत पूर्ववर्ती मानते हैं (द्रष्ट.बलदेव उपाध्यायकृत भागवतसम्प्रदाय पृ. ३६६). श्रीधरस्वामीका काल भी १३वीं शताब्दीके आसपास ही स्वीकारा जाता है. भागवतपर इनकी व्याख्या भावार्थदीपिका श्रीधरी प्रसिद्ध है. डॉ.वा.कृ.चतुर्वेदी भावार्थदीपिकाकार श्रीधरस्वामीको श्रीविष्णुस्वामीकी परम्परामें रखना चाहते हैं (द्रष्ट.'श्री.भाग.टीका.' पृ.६४).

अपनी ग्यारहवर्षीय वयमें उज्जैनके पुरोहितको निज हस्ताक्षरोंमें लिखित वृत्तिपत्रमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य स्वयंका 'विष्णुस्वामिमतानुवर्ती'

होना स्वीकारते हैं. महाप्रभु, परन्तु, श्रीधरी भावार्थदीपिकामें यत्र-तत्र मायावादानुसरण किया गया होनेसे उन्हें मायावादी ही मानते हैं. उज्जयिनीके वृत्तिपत्रके अलावा निबन्ध तथा भाष्य ग्रन्थोंकी पुष्पिकामें भी महाप्रभु स्वयंके विष्णुस्वामिमतानुवर्ती होनेका उल्लेख तो अवश्य करते हैं परन्तु साथ ही साथ सुबोधिनीमें यह विधान भी करते हैं कि **''भेदः पारमार्थिकः इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोगः उक्तः. तेच साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्ववादिनो, रामानुजाः च... अस्मत्प्रतिपादितस्तु नैर्गुण्यः''** (सुबो.३।३२।३७) इन दोनों तरहके वचनोंके साक्ष्यके आधारपर इतना तो निश्चिततया सिद्ध हो जाता है कि स्वयं महाप्रभुकी आत्मस्वीकृतिके अनुसार श्रीविष्णुस्वामी भेदवादी थे शुद्धाद्वैती नहीं थे, जबकि श्रीधरस्वामी तो निश्चित ही मायावादी थे. श्रीविष्णुस्वामी, महाप्रभुके अनुसार, भक्तिसंप्रदायके प्रमुख चार आचार्योंमेंसे भी एक थे.

एतावता यह फलित होता है कि महाप्रभु भी अपने दार्शनिक मतविशेषके दृष्टिकोणके वश नहीं प्रत्युत अन्य किसी हेतुके वश ही विष्णुस्वामिमतके अनुवर्ती थे. एतदर्थ सुबोधिनीके मंगलाचरणमें मिलती एक अन्य स्वीकृति **''... श्रीगोपीपतिवन्दिने सुमनसि ब्रह्मामृतस्यन्दिने... श्रीमल्लक्ष्मणभट्टसूरिरिति... तस्मै तातमहाशयाय''** (सुबो.१।१।१) प्रकट करते हैं. इस मंगलाचरणकी व्याख्या करते हुवे प्रकाशकार कहते हैं **''अत्र 'गोपीपतिवन्दिने' इत्यनेन परम्परया विष्णुस्वामिमतानुवर्तिगोपालोपासकत्वं सूचितम्. 'सुमनसि' इत्यादिना ज्ञानोपदेशकथनाद् अहंग्रहोपासकत्वम्''** (सुबो.प्रका.१।१।१) इसके आधारपर यह भी ध्वनित होता है कि अपनी पूर्वजोंसे चली आयी कुलपरम्पराके वश ही केवल महाप्रभु विष्णुस्वामिमतानुवर्ती थे. साथ ही साथ यहां 'अहंग्रहोपासना'के उल्लेखके आधारपर यह भी द्योतित हो रहा है कि शांकर मतमें जैसे उपासनार्थ भेदकल्पना की जाती है, वैसे ही भेदवादी विष्णुस्वामीके सम्प्रदायमें उपासनार्थ अभेदकल्पनाकी भी कोई रीति रही होगी.

यह धारणा किसीको मान्य भी हो सकती है या अमान्य भी. किसी भी सूरतमें श्रीधरस्वामी द्वारा किये गये एक तटस्थ उल्लेख **"तदुक्तं विष्णुस्वामिभिः"** (भावा.दीपि.१।७।६, ३।१२।२) के आधारपर उन्हें विष्णुस्वामिमतानुवर्ती मान कर तथा भागवतश्रीधरी व्याख्याके आधारपर श्रीविष्णुस्वामीको अभेदवादी मानना कमसे कम महाप्रभुकी धारणासे तो विपरीत ही लगता है. श्रीधरस्वामीकी मान्यताके अनुसार श्रीविष्णुस्वामी अभेदवादी हों तो हों भले! अतः डॉ.वा.कृ.चतुर्वेदीका यह विधान कि भावार्थदीपिका (१।७।६, ३।१२।२) में "तदुक्तं विष्णुस्वामिना(भिः?!)" यों नामनिर्देशपूर्वक वचनोदाहरणके कारण **"स्पष्टरूपेण यदि किसी सम्प्रदायाचार्यका उल्लेख किया है तो वे विष्णुस्वामी हैं... इतना ही नहीं श्रीधरस्वामीने विष्णुस्वामीके वचन भी उद्धृत किये हैं और उनका नामनिर्देश भी किया है अतः उन्हें विष्णुस्वामी सम्प्रदायानुवर्ती मानना चाहिये"** (श्री.भाग.टीका.पृ.६४) इस युक्तिवादका समाधान तो स्वयं इसी वचनके साथ जो **"पातञ्जलेऽपि एतएव उक्ताः** (भावा.दीपि.३।१२।२) सनाम वचन उद्धृत किया है, उसीसे हो जाता है. क्योंकि ऐसे सनामवचननिर्देशसे कहीं अधिक भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके बारेमें अपना परमादरभाव श्रीधरस्वामी **"भाष्यकारमतं सम्यक् तद्व्याख्यातृगिरः तथा"**, **"श्रीमच्छंकरभगवद्भाष्यकर्तृभिः अतिप्रबन्धेन उपपादितमिति ग्रन्थबाहुल्याद् न अस्माभिः प्रतन्यते"** (भ.गी.श्रीध.१।१, १३।१९) इन दो वचनोंमें प्रकट किया है. न केवल इतना प्रत्युत **"ईश्वरभक्त्या लब्धज्ञानेन मोक्षः"**- **"कृष्णभक्तैः अयत्नेन ब्रह्मज्ञानम् अवाप्यते"** (भावा.दीप.१।७।६-भ.गी.श्रीध.७।३०) इन दोनों वचनोंमें कृष्णभक्तिसे ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानसे मोक्षप्राप्तिकी शांकर प्रक्रिया ही स्वीकारी गयी लगती है. अतएव **"प्रपंचस्य हि असत्त्वे कथं सत्त्वप्रतीतिः इति इमाम् आशंकां सपरिकरम् उपसंहरन् परिहरति... अस्तधिषणं निरस्तप्रतिभासं त्वय्येव 'उद्भवद्'अपि यत् नश्यत् सदिव इति उपलक्षणम्"** - **"मम विष्णोः परं निर्विशेषं रूपं ब्रह्म"** (भावा.दीपि.१०।१४।२२ भ.गी.श्रीध.१३।१२) इन व्याख्यावचनोंमें प्रपंचका मिथ्यात्व और ब्रह्मका निर्विशेषत्व का स्वीकार श्रीधरस्वामीको

मायावादी ही सिद्ध करता है.

न केवल इतना अपितु यदि चैतन्यचरितामृतके सारे उपाख्यानोंको प्रामाणिक मानें तो **''स्वामि ना माने येइ जन वेश्यार भितरे तार करिवे गणन. श्रीधरस्वामी निन्दि निजटीका करे श्रीधरस्वामी नाहि मान एतॉ गर्व धरे... श्रीधर उपरे गर्वे जे किछु लिखिवे अर्थव्यस्त लिखन सेइ लोके न मानिवे. श्रीधरेर अनुगत करो व्याख्यान. अभिमान छांडि भजो भगवान्''** (चैत.चरि.अन्त्यली.७।११५-१३६) इतने कठोर आदेशके बावजूद तथा इसके विपरीत स्वयं श्रीचैतन्यमहाप्रभुके दूसरे **''जीवेर निस्तार लागि सूत्र कैल व्यास मायावादी भाष्य शुनिल हय सर्वनाश''** (चैत.चरि.म.ली.६।१६९) ऐसे इतरेतरविरुद्ध दो आदेशोंके कारण भयभीत हो कर स्वयं श्रीजीव गोस्वामी भी **''तद्(माया)वादेन कर्बुरितलिपीनां... श्रीधरस्वामिचरणानां शुद्धवैष्णवसिद्धान्तानुगता चेत् तर्हि यथावदेव लिख्यते''** (तत्त्वसन्द.) कह कर श्रीधरस्वामी लेखिनीमें मायावादी स्याही भरी हुयी मान लेते हैं. श्रीधरानुगत व्याख्याके निजाचार्योपदिष्ट सिद्धान्तको सर्वथा ध्वस्त करके!

जहांतक इस भागवत-श्रीधरीका प्रश्न है तो हम निश्चिततया कह सकते हैं कि इस व्याख्यामें न तो शुद्धाद्वैतवादका और न तो अचिन्त्यद्वैताद्वैतवादका ही श्रीधर सूत्रपात कर पाये हैं. यत्र-तत्र मायावादी उद्गार श्रीधरीमें अनेक उपलब्ध होते हैं. निष्कर्षतः श्रीधरका श्रीशंकराचार्यसे प्रभावित होना सहज ही समझा जा सकता है. अतएव यदि चैतन्यमतानुगामी टीकाकार हृदयसे श्रीधरको मायावादी न मानते होते तो काहेको श्रीधरस्वामीको मायावादी माननेके बजाय उनकी लेखिनीकी स्याहीको केवल मायावादी माननेका कुशकाशावलम्बन करते? स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुकी श्लाघ्यतम श्रीकृष्णभक्तिपरायणताके कारण लोकमान्यता तो इस सम्प्रदायको सहज उपलब्ध थी ही फिर अकारण श्रीधरस्वामिको मायावादी न माननेका कोई औचित्य सिद्ध ही नहीं होता. डॉ.वा.कृ.चतुर्वेदीकी

स्वयंस्वीकृति कि *''श्रीधरने अपनी टीकामें अनेक स्थानोंपर चित्सुखका नामनिर्देश किया है. उन्हें अपना निर्देशक माना है''* (श्री.भाग.टीका.पृ.६८). यदि श्रीविष्णुस्वामीका नामनिनिर्देश करनेमात्रसे श्रीधरस्वामी मायावादी न हों तो मायावादके धुरंधर विद्वान् श्रीचित्सुखाचार्यके नामनिर्देशके हेतुके आधारपर मायावादी श्रीचित्सुखाचार्यके अनुगामी होना भी सिद्ध होगा ही! डॉ.वा.कृ.चतुर्वेदीकी दूसरी एक निर्मूल धारणा यह भी है कि श्रीधरस्वामीके मंगलाचरणमें राम कृष्ण शिव नृसिंह की भक्तिसे परिपूर्ण हैं, एतावता इन्हें मायावादी नहीं मानना चाहिये (द्रष्ट.श्री.भाग.टीका.५९). तो ऐसे भक्तिभावसे ओतप्रोत स्वयं श्रीशंकराचार्यके द्वारा विरचित स्तोत्र कहां उपलब्ध नहीं होते? दार्शनिक मत केवलाद्वैत और भक्तिभाव निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्मके बजाय किसी देवविशेषमें श्रीधरस्वामीका ही नहीं प्रत्युत अनेकानेक केवलाद्वैतवादी विद्वानोंका मिलता ही है. श्रीहर्ष शंकर-पार्वतीके वन्दनके साथ खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थका मंगलाचरण करते हैं. तो उस ग्रन्थको वैतण्डिक मुद्रासे आगे बढ़ कर वादमुद्रामें उन्ही युक्तिओंको मण्डित करने स्वयं चित्सुखाचार्य भी नृसिंहवन्दनापूर्वक ही तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखीका प्रारम्भ करते हैं. उपासनार्थ शैव (यथा अप्पयदीक्षित) तथा वैष्णव (यथा श्रीमधुसूदन सरस्वती) गाणपत्य (यथा श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्री) आदि अनेकानेक विद्वानोंकी अपने-अपने इष्टदेवोंमें निष्ठा भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यसे आरम्भ कर अद्यावधि केवलाद्वैतवादी विद्वानोंमें दृष्टिगत होती ही है. ऐसी स्थितिमें श्रीधरका वैष्णव-मायावादी होना कोई अनहोनी बात तो नहीं! स्वयं श्रीशंकराचार्य (आद्य) भी 'षण्मतप्रतिष्ठापक' माने जाते हैं. श्रीमधुसूदन सरस्वतीके तो कट्टर मायावादी और कट्टर कृष्णभक्त होनेमें किसे सन्देह हो सकता है?

जैसे श्रीधरस्वामीने भगवद्विग्रह नाम रूप गुण विभूति धाम तथा परिकरको नित्य माना है वैसे ही श्रीमधुसूदन सरस्वती भी कहते हैं **''पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृतिं सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः''**(गीतामधुसू.१४।१४) एतावता क्या **''शैवा सौराः च गाणेशाः**

वैष्णवा: शक्तिपूजका भवन्ति यन्मया: सर्वे सोऽहमस्मि पर: शिव: प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यम् अद्भुतं न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयंगता:'' (भ.गी.मधु.२०।१५) उद्गार प्रकट करनेवाले श्रीमधुसूदन भी अद्वैती नहीं थे, ऐसा कभी सोचा भी जा सकता है क्या? श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी तरह ही श्रीधर भी तो जगत्को मिथ्या ही मानते हैं **''तद् एवम् अनेकै: हेतुभि: प्रपञ्चस्य असत्त्वं साधितम्''** (भावा.दीपि.१२।४।-२९).

कुछ विद्वान श्रीधरको द्वैताद्वैती मानते हैं किन्तु भागवतश्रीधरी (१२।४।३०) में नानात्वको सुस्पष्ट शब्दोंमें आविद्यक माना गया है. अत: श्रीधरस्वामीका द्वैताद्वैती होना भी सम्भव नहीं लगता. अन्यथा श्रीशंकराचार्यको भी पारमार्थिक अद्वैत तथा मायिक द्वैतको स्वीकारनेके कारण द्वैताद्वैती मान पड़ेगा!

यहीं उपर्युक्त षट्सन्दर्भके वचनकी राधामोहिनी व्याख्यामें श्रीधरके वचनोंको 'अग्राह्य' भी कहा गया है **''एतेन यत्र शुद्धाद्वैतमतानुवादव्याख्या सा न अत्र ग्राह्या''** (वहीं). यहां 'शुद्धाद्वैत' पद केवलाद्वैतके अर्थमें प्रयुक्त हुवा है. बलदेवविद्याभूषणने तो और भी अधिक आक्षेपात्मक शब्दोंमें यह कह दिया है कि **''तथापि क्वचित् क्वचिद् मायावादोल्लेख: तद्वादिनो भगवद्भक्तौ प्रवेशयितुं बडिशामिषार्पणन्यायेनैव''** (वहीं).

अत: श्रीधरस्वामी शांकर थे या विष्णुस्वामिमतानुयायी; और यदि विष्णुस्वामिमतानुयायी थे तो मायावादका मिश्रण उन्होंने अपनी भागवतव्याख्यामें अज्ञानवश किया या 'बडिशामिषार्पणन्यायेन' छलकपटवश किया था, इन प्रश्नोंके उत्तर खोजनेमें निरर्थक कालयापन करनेके बजाय महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य श्रीधरस्वामीको, यदि विष्णुस्वामिमतानुयायी हों तो भी, अपना उपजीव्य नहीं मानते हैं. ऐसा प्रतीत होता है कि चैतन्यचरितामृतकार कृष्णदासके अनुसार स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुको भागवतार्थबोध श्रीधरस्वामीकी

व्याख्यापर अवलम्बित हुवे नहीं होता होगा तो सो श्रीधरस्वामीको अपना स्वामी माननेका औचित्य समझमें आता है परन्तु अन्योंको तथा चैतन्यमतानुगामी विद्वानोंको भी वहां बिखरा हुवा मायावाद मान्य न हो तो न तो श्रीधरस्वामीको अपना स्वामी मानना अनिर्वाय बनता है और न श्रीधरी व्याख्याके आलोचनाके कारण वेश्यात्वापत्ति प्रसक्त हो सकती है. और यदि होती हो तो वह स्वयं चैतन्यमतानुगामी श्रीजीव गोस्वामी आदि विद्वानोंके बारेमें भी स्वीकारी जा सकती है. लगता है कि स्वयं चैतन्यमतके विद्वानोंकी श्रीधरस्वामीके मतके बारेमें क्या धारणा थी, यह अवगत न होनेके कारण अकारण हास्यास्पद निन्दा चैतन्यचरितामृतकार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी कर बैठे. या सम्भवतः इन विद्वानोंसे पूर्वभावी होनेके कारण जैसी गाली-गलौच महाप्रभुके वास्ते की वैसी स्वयं अपने सगोत्री विद्वानोंकी अपमानजनक निन्दा कर नहीं पाये. यद्यपि चैतन्यचरितामृतकार कृष्णदास तो महाप्रभुको चैतन्यकृपाकांक्षी दुरभिमानी और चैतन्यद्वारा अनादृत ही दिखलाते हैं. डॉ.वा.कृ.चतुर्वेदी तो, किन्तु, उनकी *''वैश्यार भीतर तार करिबे गणन''* गालीका दुराशयग्रस्त अर्थ वेश्यापुत्र करनेसे भी चूके नहीं (द्रष्ट.श्री.भाग.टीका.पृ.६०) यह सप्ताचार्य विद्वान्‌के बारेमें अतीव लज्जास्पद तथा खेदावह कथा है.

इस विरोधाभासके मूलमें तथ्य यही है कि श्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजाचार्य तथा श्रीमध्वाचार्यके प्रादुर्भावके बाद अद्यावधि इन आचार्योंके असाधारण प्रभावके कारण जो 'सोहम्'वाली अद्वैतवादकी मनोवृत्तिके विद्वान या भक्त थे वे श्रीशंकराचार्यके दर्शनकी ओर झुकनेको बाधित हुवे. इसी तरह अपने इष्टदेवके आकार गुण लीला आदिको मायिक मानना पड़ेगा ऐसे भयके कारण जो 'सोहम्'की उपासनासे सन्तुष्ट न हो पाये, ऐसे 'दासोहम्'वाली भावनावाले विद्वान एवं भक्त श्रीरामानुजाचार्य तथा श्रीमध्वाचार्यके दर्शनकी ओर झुकनेको बाधित हुवे. शेष जो लोग भक्ति और अद्वैत का समन्वय खोज नहीं पाये वे ठोस दार्शनिक

धरातलके अभावमें असमञ्जसतया कभी यहां तो कभी वहां लुढ़कते रहे. श्रीधरकी श्रीधरी इस तथ्यका अकाट्य प्रमाण है.

यह बात किन्तु शैवसम्प्रदायपर लागू नहीं होती. क्योंकि इस कालमें अर्थात् भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके तथा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बीचके अन्तरालमें शुद्धाद्वैतकी धारणाको एक धरोहर रूपमें शैवोंके विभिन्न सम्प्रदायोंने सम्हाले रखा था. इनमें प्रमुखतया काश्मीर शैव दर्शनकी तरह कर्णाटकके वीरशैवदर्शनका नाम भी विशेषतया उल्लेखनीय है.

<u>कर्णाटकीय वीरशैव मतके भाष्यकार श्रीपतिभगवत्पादाचार्यका विशेषाद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद</u> :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके जन्मसे ८० वर्ष पहले वि.सं. १४५६में दक्षिण भारतमें ब्रह्मसूत्रपर वीरशैवमतके अनुसार भाष्य लिखनेवाले श्रीपति भगवत्पादाचार्यने विशेषाद्वैतवादकी धारणा प्रस्तुत की थी. वे भाष्यके प्रारम्भमें ही कहते हैं :

> ''केवलद्वैत या केवलाद्वैत आदि मतोंमें श्रुतिके एकदेशका ही साक्ष्य या प्रामाण्य है. वीरशैवोंके सिद्धान्त शुद्धद्वैताद्वैत, जिसे 'विशेषाद्वैत' भी कहा जा सकता है, में सभी श्रुतिओंके वचन समन्वित हो जाते हैं. इस 'विशेषाद्वैत' पदमें 'वि'पदका अर्थ है 'द्वा सुपर्णा' वचनमें निरूपित शंभु. 'शेष'पदका अर्थ है 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिंगा व्युच्चरन्ति' वचनमें निरूपित शारीर जीवात्मा. 'अद्वैत'पदका अर्थ है इन दोनों जीव और शिव का योग. जीव और शिव के इस योगका निरूपण 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्' वचनमें किया गया है.''

सबसे मज़ेदार पहलु इस विशेषाद्वैतवादका यह है कि महाप्रभुको अभिमत स्वाभाविक अद्वैत और ऐच्छिक द्वैत की धारणासे कुछ अलग हटकर स्वाभाविक द्वैताद्वैत तथा जीवात्माके मुक्त हो जानेपर शिवके साथ आत्यन्तिक या तादात्म्यरूप अद्वैतको यहां मान्य किया गया है :

> ''जीवका जीवत्व स्वाभाविक होनेसे निवृत्त नहीं हो सकता; अतः, 'तत्त्वमसि' वाक्यका अर्थ इस तरह करना चाहिये कि जीव ब्रह्मका ही एक प्रकार है 'तत्प्रकारकोऽसि'. अथवा चिदचिद्विशिष्ट कार्यब्रह्म और सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट कारणब्रह्ममें परस्पर अभेदके द्योतनार्थ 'तत्त्वमसि' उपदेश दिया गया है, ऐसी विशिष्टाद्वैतवादिओंकी धारणा है, वह उचित नहीं है. क्योंकि मोक्षदशामें भी यदि जीव ईश्वरके पराधीन रहा तो दुःखिता भी उसमें रहेगी. जबकि श्रुतिओंमें 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि', 'न बिभेति कुतश्चन इति' यों सुस्पष्ट शब्दोंद्वारा बन्ध और मोक्ष दशा में तारतम्य केवल यही दिखलाया गया है कि बन्ध सभय होता है और मोक्ष अभय. 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं' कहकर उपक्रममें जड़ प्रपंचकी ब्रह्मात्मकता दिखलाई गई है और 'तत्त्वमसि' कहकर उपसंहारमें 'तत्'पदसे पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मका 'त्वम्' पदसे वाच्य श्वेतकेतुके साथ अभेद निरूपित किया गया है. अतः उसके अलावा ओर कोई अर्थ वैदिकोंको खींचतान कर नहीं निकालना चाहिये. माध्वोंद्वारा किया जाता 'तत्त्वमसि' वाक्यका 'तस्मात् त्वमसि' अर्थतो पूर्ववर्णित ब्रह्मकी सर्वात्मकतासे सर्वथा विपरीत अर्थकी ही कल्पना है. शारीर आत्मा यदि केवल शारीर ही हो और परमात्मा केवल परमात्मा ही तो फिर ब्रह्मोपदेशकी आवश्यकता ही क्या है? माध्वमतमें 'अतत्त्वमसि' वाक्यकी

भी कल्पना की जाती है वह तो 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं' वचनसे विरुद्ध होनेके कारण मुमुक्षुओंके लिये उपयोगी ही नहीं है. सैंकडों श्रुतिवचन, यथा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'तत् त्वम् असि' 'त्वं तद् असि' 'आवयो: अन्तरं न विद्यते' ' ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वचनोंके प्रामाण्यका यहां भंग होता दिखलाई देता है. अत: दण्ड-दण्डीकी तरह स्थूल-सूक्ष्म चिदचिद्के साथ अंगांगीकी तरह संसृष्टभेदवाद और परस्पर घट-पटकी तरह असंसृष्टभेदवाद श्रुतिवचनोंसे निरस्त हो जाता है''.

(श्रीकरभा. १।१।८).

''इसी तरह रज्जु-सर्पकी तरह जगत्को मिथ्या माननेवाला शुद्धाद्वैतवाद (केवलाद्वैतवादके अर्थमें)* भी .... पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतिवचनोंसे विरुद्ध होनेसे मुमुक्षुजनोंके लिये आदरणीय नहीं है''.

(वहीं १।१।१०).

इन वचनोंके अवलोकन करनेसे यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि श्रीपति अपने विशेषाद्वैतवादको केवलाद्वैतवाद, जिसे वे 'शुद्धाद्वैत' कहते हैं; तथा, विशिष्टाद्वैतवाद, जिसे 'संसृष्ट-भेदवाद' कहते हैं; और, इसी तरह केवलद्वैतवाद, जिसे वे 'असंसृष्ट-भेदवाद' कहते हैं, यों तीनोंसे बचाकर निरूपित करना चाहते हैं. श्रीपति अपने मतको भास्कराचार्यके द्वैताद्वैतवादसे अधिक प्रभावित मानते हैं. वे कहते हैं ''अत्र केचिद् अस्मिन् आनन्दमये ब्रह्मणि जीवस्य तद्योगं शेषत्वं सम्बन्धं शास्ति शास्त्रं प्रतिपादयतीति विशिष्टाद्वैतमेव मुख्यमिति जल्पयन्ति. तद् अवैदिकत्वाद् न मुमुक्षुभि: ग्राह्यं वैदिकमीमांसाकर्तृभि: भट्टभास्करादिपूर्वाचार्यै: स्वसिद्धान्तस्थापनावसरे पूर्वपक्षस्यापि अयोग्यत्वेन उपेक्षितत्वात्'' (वहीं १।१।२०).

फिर भी वाल्लभमतके निकट, भास्कराचार्यकी तुलनामें, श्रीपति अधिक लगते हैं. क्योंकि वे जगत्को ब्रह्मके स्वरूपका परिणाम नहीं मानते फिर भी ब्रह्मशक्तिका परिणाम मानते हैं "'भेदाभेदात्मिका **शक्तिः ब्रह्मनिष्ठा सनातनी' इति स्मृतौ शक्तेः वह्निशक्तेरिव ब्रह्माधिष्ठानत्वोपदेशात् निरधिष्ठानशक्तेः अभावात् च, शक्तिशक्तिमतो अभेदात् च. तत्कर्तृत्व-तदात्मकत्वं तस्यैव उपपन्नत्वात्**" (वहीं १।१।४). अर्थात् वह्निकी दाहकशक्तिकी तरह भेदाभेदात्मिका शक्ति ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें रहती है. किसी अधिष्ठानके बिना शक्तिकी सत्ता ही सम्भव नहीं है और शक्ति-शक्तिमानके बीच अभेद होनेसे जगत्कर्ता ब्रह्म ही है और जगत् ब्रह्मात्मक है यह उपपन्न होता है.

ब्रह्म और उसकी शक्तिके बीच, भास्कराचार्यकी तरह, श्रीपति द्वैताद्वैत स्वीकारते हैं, परन्तु स्वाभाविक अद्वैत और औपाधिक द्वैत इन्हें मान्य नहीं है. जड़जीवात्मक जगत् सूक्ष्मरूपमें अर्थात् शक्तिकी संकुचित अवस्थाके रूपमें अव्यक्त-नामरूप-विभागात्मना कारणरूपेण ब्रह्ममें रहता है, परन्तु तब भी वह ब्रह्मसे भिन्नाभिन्न ही होता है. यहां इस तरह कुछ विशिष्टाद्वैतवादसे निकटता आती लगती है, परन्तु विशिष्टाद्वैतवादमें शरीररूप सूक्ष्मचिदचिद् ब्रह्मरूप शरीरीमें कारणशरीरात्मना विद्यमान रहता है, भेदाभेदघटिततया नहीं. अर्थात् आत्यन्तिक-भेदघटित स्वीकारी गई है. जबकि विशेषाद्वैतवाद उसे भेदाभेदघटित स्वीकारता है और यहां आकर विशिष्टाद्वैत और विशेषाद्वैतका पार्थक्य स्फुट हो जाता है. नामरूपात्मना व्यक्त स्थूल जगत् ब्रह्मशक्तिकी प्रसारितावस्था या कार्यावस्था है और नामरूपात्मना अव्यक्त सूक्ष्म जगत् ब्रह्मशक्तिकी संकुचितावस्था या कारणावस्था है. दोनों अवस्थाओंमें शक्ति, शक्तिकी विभिन्न अवस्था और ब्रह्मके बीच भेदाभेद कायम रहता है (द्रष्ट.वहीं २।१।१६).

विशिष्टाद्वैतवादमें, जबकि, सूक्ष्मचिदचिद् शरीर कारणावस्था है

और स्थूल चिद्शरीर कार्यावस्था है, परन्तु इन दोनों अवस्थाओंमें वह ब्रह्माधिष्ठित होनेपर भी सूक्ष्म-स्थूल चिदचिद् ही रहते हैं. जैसा कि श्रीवेदान्तदेशिकने अतिसुंदरतया इस तत्त्वको न्यायसिद्धाञ्जनके प्रारम्भमें स्पष्ट किया है "अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वम्. तत्र प्रकारप्रकारिणो प्रकाराणां च मिथो अत्यन्तभेदेऽपि विशिष्टैकत्वविवक्षया एकत्वव्यपदेश:" (न्या.सि.) अर्थात् तत्त्व एकमात्र ब्रह्म है परन्तु अशेष चिद् और अचिद् वस्तु ब्रह्मके प्रकार है. प्रकार और प्रकारी; तथा प्रकारोमें भी परस्पर आत्यन्तिक भेद होनेपर भी प्रकारविशिष्ट प्रकारीके एक होनेके कारण उसे एक-अद्वैत कहा जाता है.

श्रीपति कहते हैं "जैसे मिट्टी मिट्टीके रूपमें कायम रहती हुई घटादिरूपमें परिणत भी हो जाती है; और वहां घटादिकी मृदात्मकताके बारेमें किसीको सन्देह भी नहीं होता. इसी तरह परमेश्वरकी अपनी शक्ति एकांशसे जगदात्मना परिणत भी हो जाती है और जगत्से भिन्न भी है ही" (वहीं २।१।१९).

आरम्भणाधिकरणमें निष्कर्षरूपेण श्रीपति कहते हैं "इस अधिकरणमें जगदीश्वरभेदवाद और जगद्मिथ्यात्ववादके निरसनपूर्वक भेदाभेदवाद ही वेदान्तसिद्धान्तके रूपमें व्यासाभिप्रेत है यह दिखलाया गया है".

यह भेदाभेदवाद किन्तु भास्कराचार्यको अभिमत स्वाभाविक अभेद और औपाधिक भेद का सिद्धान्त नहीं है. क्योंकि श्रीपति स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं "जो लोग जीव और ब्रह्म के बीचमें औपाधिक भेद और स्वाभाविक अभेद मानते हैं; तथा जड़ द्रव्य और ब्रह्मके बीच द्वैतको अस्वाभाविक मानते हैं, उनके मतमें उपाधि ब्रह्मसे अतिरिक्त तो मानी नहीं जा सकेगी. क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं. अत: निरवयव परिपूर्ण परमशिवका ही एक रूप उपाधि भी है, यह मानना पड़ेगा. निष्कर्षत: वही परमशिव जगत्में अनुभूयमान

हेयाकारोंको धारण करता है यह भी स्वीकारना होगा'' (वहीं २।१।१४). श्रीपति इसे ओर स्पष्ट करते हुवे कहते हैं :

> ''अतः जैसे मकड़ी स्वयंमेंसे जाला निकालती है और बुनती है, वह जाला पहले भी नामरूपविभागानर्ह सूक्ष्मतया कारणावस्थाके रूपमें मकड़ीके भीतर विद्यमान था, यह स्वीकारना पड़ता है. जो तत्त्व सूक्ष्म कारणावस्थामें भीतर विद्यमान था उसे ही स्थूलनामरूपविभागार्ह रूपमें मकड़ी बाहर प्रकट करती है. इसी तरह चिदचिदात्मक प्रपंच प्रलयावस्थामें परमेश्वरमें अन्तर्निहित रहता है और सृष्टिकालमें स्थूलरूपमें बाहर प्रकट होता है. कार्य-कारणकी अनन्यताका स्वरूप है''.
>
> (वहीं २।१।१४).

यह व्यवस्था प्रलयकाल और सृष्टिकाल की है. परन्तु मोक्षावस्थामें जीवचेतना परमशिवसे तादात्म्य प्राप्त कर लेती है :

> ''जैसे जड़रूप लोहादि धातुओंमें ताम्र और सुवर्ण के रूपमें सजातीय द्वैत रहता है. इसी तरह जीव और ब्रह्म के बीच सजातीय द्वैत रहता है. ताम्र और सुवर्णका सजातीय द्वैत अचेतन रस (!)के मिश्रण करनेपर जैसे ताम्रके सुवर्ण बन जानेसे और स्वाभाविक ताम्रत्वके निवृत्त हो जानेसे मिट जाता है. अर्थात् ताम्र अबाधित सुवर्णतासे सम्पन्न हो जाता है. इसी तरह चेतन जीव परमेश्वरकी उपासनाके द्वारा परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त करनेपर अबाधित शिवत्वको प्राप्त कर लेता है''.
>
> (वहीं २।१।२३).

महाप्रभुने शुद्धाद्वैतके अन्तर्गत उपपत्तिपक्ष एवं उत्पत्तिपक्ष का तारतम्य समझाया है. तदनुसार श्रीपतिके विशेषाद्वैतमें उत्पत्ति पक्षकी प्रमुखता दिखलाई देती है :

> ''सृष्टिसे पहले शिवशक्तिके संकुचितावस्थामें होनेके कारण परमेश्वर निर्गुण होता है 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं' इत्यादि निर्गुणताका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां मुख्यतया इस कालको लक्ष्यमें रखकर ब्रह्मका निरूपण करती है. 'स ईक्षाञ्चक्रे' इत्यादि सगुणताका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां सृष्टि-उन्मुख परमेश्वरकी शक्तिका... बोधन करती हैं. सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म शिवमें, जगत्कारणता होनेपर मृत्तिकाकी तरह विकारिता नहीं आती. क्योंकि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' वचनके अनुसार माया जगत्का उपादानकारण बनती है और परमेश्वर निमित्तकारण बनते हैं''.
>
> (वहीं १।१।२).

यह तो हमने पहले ही दिखा दिया है कि मायाशक्ति और शक्तिमान ब्रह्म में भेदाभेद है. इस तरह सृष्टिप्राक्काल, सृष्टिकाल तथा प्रलयकाल में स्वाभाविक भेदाभेदवादको स्वीकारनेपर भी मुक्तात्मा और परमात्मा में तादात्म्यको स्वीकारनेवाले श्रीपति काफी अंशोमें शुद्धाद्वैतवादका ही पोषण करते हैं.

''सद्वाद + द्वैताद्वैतवैलक्षण्यवाद = शुद्धाद्वैतवाद'' समीकरणसूत्रकी कसौटीपर परखनेसे पहले 'विशेषाद्वैत' पदमें 'अद्वैत' पद द्वैतात्यन्ताभावपरक है कि भावरूप द्वैतविरोधी तादात्म्यपरक है, यह स्पष्टीकरण आवश्यक है. उल्लिखित उद्धरणोंका सावधानतया मनन करनेपर यह प्रतीत होता है कि मुक्तात्मा और परमात्मा के बीच, श्रीपतिके मतानुसार, द्वैतका अत्यन्ताभाव हो जाता है. सृष्टि-प्रलयकालमें, परन्तु, जीवात्मा और

परमात्मा के बीच द्वैत और तद्‌विरोधी भावरूप तादात्म्यसम्बन्ध ही मान्य करना चाहिये. क्योंकि श्रीपति मायिकभेदवाद तथा असंसृष्टभेदवाद की तरह रामानुजीय संसृष्टभेदवादका भी प्रत्याख्यान कर चुके हैं. अतः अगतिकतया तादात्म्यरूप ही अवशिष्ट रह जाता है. अर्थात् विशेषाद्वैतवादके अनुसार सृष्टि-प्रलयावस्थामें जीवात्मा-परमात्माके बीच शुद्धाद्वैत मानना चाहिये तथा मुक्तात्मा-परमात्माके बीच केवलाद्वैत मानना चाहिये ऐसा प्रतीत होता है.

शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके सुरीले गायक नरसी महेता :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यसे केवल ५६ वर्ष पूर्व सौराष्ट्रमें जन्मे नरसी महेताके शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके मधुर गानको उद्धृत किये बिना इस परिच्छेदको हम समाप्त नहीं कर पायेंगें. नरसी महेताके दार्शनिक दृष्टिकोणमें ही नहीं, किन्तु भक्तिसाधनासंबंधी दृष्टिकोणमें भी, महाप्रभुके मतसे उल्लेखनीय समानता है. यह अधोलिखित उनके पद्योंसे स्पष्ट हो जाता है :

(१)अखिल ब्रह्मांडमें एक तू श्रीहरि।
जुजवे रूपे अनन्त भासे॥
देहमां देह तुं तेजमां तत्त्व तुं।
शून्यमां शब्द थई वेद वासे॥
पवन तुं पाणी तुं भूमि तुं भूधरा।
वृक्ष थई फूली रह्यो आकाशे॥
विविध रचना करी अनेक रस लेवाने।
शिव थकी जीव थयो ए ज आशे॥
(२)जागीने जोऊं तो जगत् दीसे नहीं।
ऊंघमां अटपटा भोग भासे॥
चित्त चैतन्य विकार तद्‌रूप छे।
ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे॥

वेद तो एम वदे श्रुति-स्मृति साख दे।
कनक-कुण्डल विशे भेद न्होय॥
घाट घड़िया पछी नामरूप जुजवा।
अन्ते तो हेमनुं हेम होय॥
वृक्षमां बीज तुं बीजमां वृक्ष तुं।
जोवुं पटंतरो ए ज पासे॥
जाणे नरसैया मन तणी शोधना।
प्रीत करुं प्रेमथी प्रकट थाशे॥
पंचमहाभूत परब्रह्मथी उपन्या।
अणु अणुमां रह्या ते ज वळगी॥
फूल ने फल ते तो वृक्षना जाणवा।
थड़ थकी डाळ नव होय अळगी॥

क्योंकि नरसी मेहता, वैसे सौराष्ट्रके शैव ब्राह्मण थे, फिरभी अपने कुछ गुर्जरभाषाके पदोंमें ही महाराष्ट्रके पंढरपुरमें बिराजमान भगवद्विग्रह 'पांडुरंग विठ्ठल' नामका प्रयोग मराठी सम्बन्धकारक प्रत्ययके साथ करते हैं, इससे या तो वारकरी संप्रदायके साथ साक्षात् या परंपरया जुड़े होंगे; अतएव उनके माध्यमसे इनके विचारोंपर काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शनका प्रभाव पड़ा होगा. जैसा कि औरंगाबादके निकट अब दौलताबाद परन्तु मूलतः तो देवगीरीके शार्ङ्गदेवके संगीतरत्नाकरके आधारपर हम दिखला चुके हैं. अतः काश्मीरके शैव प्रत्यभिज्ञा मतका वैष्णव संस्करण हमें कृष्णभक्तिके अजस्र प्रवाहके रूपमें बहता हुवा मिलता है.



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



पश्चिमी चिन्तनमें शुद्धाद्वैतवादका स्वरूप

महाप्रभु और स्पिनोजा :

भारतीय दर्शनके इतिहासमें महाप्रभुका वही स्थान है जो युरोपीय आधुनिक दर्शनके इतिहासमें **बारुक स्पिनोज़ा** (वि.सं. १६८८-१७३३)का स्थान स्वीकारना पड़ता है.

दोनों ही दार्शनिक इस जड़जीवात्मक जगत्को परमात्माका परिणाम (modification) मानते हैं. जैसे महाप्रभु जड़ वस्तुको सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशका परिणाम मानते हैं तथा जीवात्माको चिदंशका, वैसे ही स्पिनोज़ा भी जड़ वस्तु और जीवचेतना को ब्रह्मके गुण या ब्रह्मके गुणोंका परिणाम मानते हैं. जैसे महाप्रभु असंख्य नाम-रूपोंसे घटित इस जगत्के आधारभूत तत्त्वको एकमेवाद्वितीय तथा देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित मानते हैं, ऐसे ही स्पिनोज़ाके अनुसार भी परमात्मा ही इस जगत्में द्रव्यरूप है, बाकी सब कुछ उसकी एकमेवाद्वितीयता एवं अपरिच्छिन्नताके द्योतक गुण-धर्म या गुण-धर्मके परिणाम हैं.

"God is one, that is, only one substance can be granted in the universe & that one substance is absolutely infinite...it follows, that extension & thought are either attributes of God or modifications of the attributes of God" (The Ethics 4).

स्पिनोज़ाको परमात्मव्यसनी God-intoxicated कहा जाता है. यह एक मजेदार आकस्मिक संयोग है कि महाप्रभु भी जीवनकी कृतार्थता परमात्माके व्यसनमें ही स्वीकारते हैं: "**यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि**" (भक्तिवर्धिनी). जैसे सिप्नोजा परमात्माके प्रति बौद्धिक स्नेहकी आवश्यकता मानता है वैसे महाप्रभु भी—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर् नचान्यथा॥

—इस वचनके अनुसार भक्तिके स्वरूपमें ज्ञान एवं स्नेह का पूर्वापरभाव स्वीकारते हैं. परमात्माकी ब्रह्मवादी महत्ताको भलीभांति समझ लेनेके बाद जीवात्मामें परमात्माके प्रति निरुपाधिक स्नेह प्रकट होता है वही भक्तिका वास्तविक स्वरूप है.

असंख्य नाम एवं रूपों का विस्तार है यह जगत्. इन अनेक नाम-रूपोंको धारण करनेवाला तत्त्व मानें या व्यक्ति, किन्तु, परमात्मा एक ही है. स्पिनोज़ाके मतमें परमात्मा एक तत्त्व है. किन्तु महाप्रभुके मतमें परमात्मा एक देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित अव्यक्त तत्त्व भी है और साकार-व्यक्ति भी. वह अपरिच्छिन्न अव्यक्त निराकार अक्षरब्रह्म है और सगुण-साकार परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भी. एक ही तत्त्वका अनेक नाम-रूपोंमें विस्तार होता है. द्वैतघटित नामरूपोंकी अनेकतामें भी किसी एक तात्त्विक एकताकी स्वीकृति ही, इन दोनों दार्शनिकोंकी वैचारिक अनेकतामें एकताका सूत्र है.

परिणामवादके सिद्धान्तके अनुसार यहां नवीन कुछ भी पैदा नहीं होता है, जो कुछ पैदा होता है वह किसी न किसी रूपमें पूर्वस्थित कारणका ही कुछ थोड़े-बहुत हेर-फेरके साथ रूपान्तरमात्र होता है. आरम्भवादके अनुसार प्रत्येक कार्य एक नूतन आरम्भ है.

परिणामवादके अनुसार जो सम्भावनायें कारणमें निहित रहती है उनका बाहर प्रकट हो जाना ही कार्यका उत्पन्न होना है. सत्कार्यवाद और सत्कारणवाद, अतएव, परिणामवादकी पृष्ठभूमिमें अनिवार्यतया उपस्थित रहते हैं. अतएव परिणामवादके तकाजेको देखते हुवे स्पिनोज़ा द्वारा विकसित दार्शनिक विचारधाराके उत्स उसके पूर्ववर्ती युनानी दार्शनिकों; तथा मध्यकालीन ईसाई और यहूदी दार्शनिकों, के चिन्तनमें खोजे जा सकते हैं.

प्रारम्भिक युनानी दर्शनमें शुद्धाद्वैतवादके बीज :

वि.पूर्व ५४४के आसपास पैदा हुवे **थेल्सकी** धारणा थी कि यह जगत् अपनी समस्त विविधताओंको लिये हुवे एक जलरूप मूल तत्त्वसे प्रकट हुवा है.

इसके बाद **अनॅक्सिमेंदर** (वि.पू.५५४-४९०)ने कहा था कि इन असंख्य नाम-रूपोंवाले जगत्का कारण कोई भी सान्त तत्त्व नहीं हो सकता. अतः उसनें एक "अनन्त" (the infinite) तत्त्वकी कल्पना प्रस्तुत की थी. उस एक अनन्त तत्त्वकी अनेक नाम-रूपोंमें परिणति है यह समूचा जागतिक विस्तार.

एक और चिन्तक **अनॅक्सिमाईन** (वि.पू.४६५)के अनुसार जगत्का मूलकारण वायुतत्त्व था.

हॅराक्लीट्स (वि.पू.४७९-४१९)के अनुसार, प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता इस जगत्के मूलतः अग्नितत्त्व होनेका मूल प्रमाण है. जल अथवा वायुमें प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता उतनी स्पष्टतया भासित नहीं होती है, जितनी कि अग्निकी उपर उठ उठकर विलीन होती ज्वालाओंमें वह भासित होती है.

ये सभी चिन्तक अनुभूयमान अनेकतामें किसी एक आधारभूत मूलतत्त्वको खोज रहे थे. उल्लेखनीय इसमें यही है कि इन युनानी दार्शनिकोंने मूलतत्त्वको खोजनेकी धुनमें कभी अनुभूयमान अनेकताको मिथ्या नहीं माना. इनकी चिन्तनयात्रासे जिस पगदंडीका निर्माण हुवा, उसपर कुछ आगे बढ़नेपर, युनानी दार्शनिक चिन्तनके क्रमशः उपत्यका अधित्यका और शिखर के जैसे **सुक्रात** (वि.पू. ४४०-३४३) **प्लातो** (वि.पू. ३७१-२५१) और **अरस्तु** (वि.पू. ३२८-२६६)के चिन्तनके उच्च भूभाग तक हम पहुंच जाते हैं. इनके चिन्तनने एक नया निखार युनानी दर्शनको दिया था.

सुक्रातका चिन्तन वस्तुतः कितना सुकरातका था और कितने विचार प्लातोने खुदके ही सुकरातके मुखमें रख दिये है, यह पृथक्करण अब दुष्कर कार्य है. फिर भी प्लातोके दर्शनमें हमें एक विलक्षण प्रकारके प्रत्ययवाद तथा द्वैतवादके दर्शन होते हैं.

प्लातोके अनुसार जगत् दो तत्त्वोंसे घटित है : प्रथम प्रत्यय और द्वितीय द्रव्य. भौतिक द्रव्य (matter) में परिवर्तनशीलता त्रुटि एवं असमंजसता दिखलाई देती है. इसके विपरीत प्रत्यय (idea) अपरिवर्तनशील त्रुटिरहित एवं परिपूर्ण होते हैं. उदाहरणतया टेबल् एक भौतिक द्रव्यके रूपमें परिवर्तनशील होता है—बननेके साथ ही शनैः शनैः पुराना पड़ता जाता है - रंग फीका पड़ सकता है - कहींसे कुछ तूट-फूट हो सकती है - उसके निर्माणमें भी कुछ खामियां रह सकती है, ये सारे दोष सम्भव है. परन्तु टेबल्का जो आदर्श प्रत्यय हमारे मनके भीतर होता है, वह न तो परिवर्तनशील होता है, न पुराना पड़ता है, न उसका रंग फीका पड़ सकता है, न उसमें कोई तूट-फूट सम्भव है और न किसी तरहकी कोई खामी ही उसमें मानी जा सकती है. प्रत्येक भौतिक टेबल् इस आदर्श प्रत्ययरूप टेबल्की असमंजस-अपरिपूर्ण अनुकृति होता है. इस तरह प्रत्येक भौतिक

वस्तु अपने अभौतिक प्रत्ययकी असमंजस प्रतिकृति होनेपर भी प्रत्ययकी दिशामें विकसित होनेको अग्रसर होती रहती है. अपूर्णतासे पूर्णताकी ओर यह यात्रा चलती ही रहती है. प्रत्येक भौतिक वस्तुको इस अर्थमें अभौतिक प्रत्ययका कार्य माना जाता है. संपूर्ण जगत्का मूलभूत एक सामान्य प्रत्यय परमात्माके मनमें अवस्थित होता है, जिससे भौतिक वस्तु उत्पन्न हुई है और जिसकी असमंजस त्रुटिपूर्ण प्रतिकृति प्रत्येक भौतिक द्रव्य होता है.

हम देख सकते हैं कि प्लातोके दर्शनमें यह स्पष्ट नहीं होता था कि भौतिक द्रव्योंका उपादानकारण क्या है, क्या परमात्माके मनमें अवस्थित प्रत्यय जगत्का उपादानकारण है, जैसे टेबल्का उपादानकारण लकडी बनती है; या जैसे सुतारके मनमें स्थित टेबल्का प्रत्यय भौतिक टेबल्का केवल निमित्तकारण होता है. इसी तरह परमात्माके मनमें स्थित जगत्का महाप्रत्यय जगत्का केवल निमित्तकारण ही बनता है. प्रत्यय यदि केवल निमित्तकारण ही बनता हो तो जगत्में भौतिक द्रव्यको क्या अनादि कारणरहित मानना चाहिये या फिर उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण प्रत्ययसे भिन्न किसी उपादानकारणकी कल्पना करनी चाहिये. ये प्रश्न समाधान चाहते थे और प्लातोके शिष्य **अरस्तुने** इस दिशामें अग्रसर होकर युनानी चिन्तनको एक नवगरिमासे मण्डित किया.

अरस्तुने चार प्रकारके कारणोंके पृथक्करणका एक सुझाव दिया :

१. प्रत्ययकारण

२. उपादानकारण

३. निमित्तकारण

४. प्रयोजन या चरम कारण

यदि भौतिक टेबल्का उदाहरण लेके देखें तो उसका प्रत्यय

सुतारके मनमें न हो तो वह टेबल्के निर्माणमें सक्षम नहीं हो पायेगा. परन्तु केवल मनमें प्रत्ययका विद्यमान होना पर्याप्त नहीं होता, सुतारको टेबल्के निर्माणहेतु उपादान-कारण लकडी तथा निमित्त-कारण अनेक ओजारोंकी भी अपेक्षा रहती ही है. यह सब कुछ होनेपर भी टेबल्के निर्माणद्वारा किसी भी तरहके प्रयोजनकी पूर्ति शक्य न हो, तो व्यर्थ ही कोई भी सुतार टेबल्के निर्माणके आयासमें उलझना नहीं चाहेगा. इस तरह जगत्को कार्य माननेपर जगत्के चतुर्विध कारणोंकी भी जिज्ञासा प्रासंगिक बन जाती है.

एक मज़ेदार बात यह है कि अपने गुरु प्लातोकी धारणाके विपरीत अरस्तु यह मानता था कि वस्तुका प्रत्यय वस्तुके बाहर नहीं किन्तु वस्तुके भीतर निहित होता है. अन्यथा प्रत्ययकी दिशामें (अपने आदर्श प्रत्ययकी ओर) वस्तुका विकास सम्भव न रह पायेगा. निष्कर्षरूपेण यह कहा जा सकता है कि परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता त्रुटिपूर्णता और त्रुटिरहितता आदिके द्वैत एक ही वस्तुके बाहरी और भीतरी दो पहलु हैं. यदि महाप्रभुको मान्य शुद्धाद्वैतदर्शनकी परिभाषामें कहें तो इसे अविकृत (अभौतिक प्रत्यय)का (भौतिक) परिणाम कहा जा सकता है. अरस्तुके चिन्तनमें भौतिक द्रव्य और अभौतिक प्रत्यय के बीच पुनः एक प्रकारके लचीले अभेदकी स्थापनाका प्रयास स्पष्ट झलक रहा है, अरस्तुके द्वैतवादी होनेपर भी.

विक्रमपूर्व २६ में पैदा हुए यहुदी चिन्तक **फीलोने** अपने एकेश्वरवादी धर्म तथा प्लातोके प्रत्ययवादी दर्शन का समन्वित रूप उपस्थापित किया. परमेश्वर और जगत् के बीच द्वैत स्वीकारते हुए भी, यह परमेश्वरमें एक ऐसे विलक्षण सामर्थ्यकी कल्पना करता है कि जिसके द्वारा परमेश्वर जगत्की सृष्टि करता है. इस सामर्थ्यको वह ‘‘लोगॉस’’ कहता है. यद्यपि स्वरूपेण परमात्मा भौतिक जगत्से असम्पृक्त ही रहता है, किन्तु अपने इस पूर्वोक्त सामर्थ्यसे वह जगत्का सृष्टा

बनता है. फीलोके अनुसार जागतिक वस्तुओंका प्रत्यय - लागॉस या प्रारूप, जैसे किसी मूर्तिका प्रारूप मूर्तिकारके मनमें पूर्वस्थित रहता है वैसे ही, परमेश्वरके मनमें अवस्थित था. तदनुसार लोगॉसके सामर्थ्यसे यह सारा जगत् रचा गया है. यह लोगॉस जगत्का निमित्तकारण बनता है कि उपादान-कारण; अथवा अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण यह स्पष्टतया ज्ञात नहीं हो पाता. धार्मिक एकेश्वरवाद, किन्तु, फीलो जैसा वक्ता पाकर दार्शनिक वाणीमें प्रकट होनेका प्रयास कर रहा था.

यूरोपका प्रथम शुद्धाद्वैती : प्लोटिनस

परवर्ती कालमें **प्लोटिनस** (वि.सं.२६०-३२५)ने भी फीलोकी तरह प्लातोकी, प्रत्ययवादी धारणा स्वीकारकर जगत्को ब्रह्मपरिणाम माननेकी बहुत रोचक प्रक्रिया वर्णित की है.

प्लोटिनसके अनुसार परमेश्वरकी तीन अवस्था है : प्रथम एकमेवाद्वितीय धर्मिभूत परमात्मा (The One), द्वितीय इस परमात्माकी धर्मभूत चेतना (Onus); तथा तृतीय जीवात्मा (Soul). सूर्यसे निःसृत प्रकाश जैसे-जैसे दूर होता जाता है वैसे-वैसे क्षीणसे क्षीणतर होता जाता है. इसी तरह एकमेवाद्वितीय धर्मिभूत परमात्मासे व्युच्चरित होकर धर्मभूत चेतना जब सूर्यसे किरणोंकी तरह बाहर आती है, तब कुछ क्षीण प्रकाश लिये हुए होती है. कुछ और दूर जानेपर वह प्रकाशशक्ति और क्षीण हो जाती है, यही हमारी व्यक्तिचेतनाके अल्पज्ञानका हेतु बनता है. अधिक दूर चले जानेपर प्रकाशशक्ति सर्वथा लुप्त हो जाती है. इस तरह व्यक्तिचेतनाकी अवस्थासे भी दूर पहुंच जाने पर वह सर्वथा जड़ भौतिक द्रव्यका रूप ले लेती है.

महाप्रभुके मतके साथ प्लोटिनसके विचारोंका मेल स्पष्ट नजर आता है. क्योंकि महाप्रभुके अनुसार भी एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द

ब्रह्ममेंसे आनन्दांशके ईषत् तिरोधानसे अक्षरब्रह्मके रूपकी व्याख्या दी गयी है. इस अक्षरब्रह्मको परब्रह्म पुरुषोत्तमका धर्मस्थानीय माना गया है. गीता (८।२१)में भगवानने अक्षरब्रह्मको अपना धाम माना है, 'धाम' शब्दका अर्थ अमरकोशमें "गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" दिया गया है. ठीक इन्हीं चारों अर्थोंमें साकार परब्रह्म तथा निराकार-अपरिच्छिन्न अक्षरब्रह्मका परस्पर सम्बन्ध महाप्रभुको मान्य है. जैसे सूर्य अपने प्रभामण्डलके बीचमें रहता है, ठीक इसी तरह साकार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अपने अपरिच्छिन्न प्रभामण्डलके जैसे अक्षरधाममें रहते हैं. फिर भी सूर्य और प्रभामण्डलके बीच जैसे परस्पर धर्मी और धर्म होनेका सम्बन्ध है, वैसे ही परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सूर्यपिण्डकी तरह साकार धर्मी है; तथा अपरिच्छिन्न निराकार अक्षरब्रह्म प्रभामण्डलकी तरह धर्मरूप होता है. श्रीकृष्णके गृहोपम दिव्यलोक तथा भक्तहृदय को, अतएव अक्षरब्रह्म माना जाता है और गृही स्वयं श्रीकृष्णको. प्लोटिनसका सूर्य-रश्मिका उदाहरण व्याससूत्रमें भी उपलब्ध होता ही है— "**प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वाद्**" (ब्र.सू.३।२।२८).

जैसे प्लोटिनस प्रकाशनशक्तिकी क्षीणताकी बात करता है वैसे ही महाप्रभुके मतमें भी ऐसी क्रमिक क्षीणताके जैसी प्रक्रिया वर्णित हुई है.

[१]धाम होनेके दृष्टिकोणसे देखनेपर अक्षरब्रह्ममें धामी परब्रह्म

१."**प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्मा अभवत्पुरा, यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते, आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि...इच्छामात्रात् तिरोभावः तस्यायमुपचर्यते, ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैर् वाच्यो निरन्तरम्**". "**सच्चिदानंदरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता** (सति चिदानंदधर्मयोस्तिरोभावः चिति आनंदस्य...एवं स्वरूपे वैजात्यम् उक्त्वा नामतोपि वैजात्यम् आह-) **जड़ो जीवोन्तरात्मेति व्यवहारः** (सर्वस्यापि भगवत्त्वे जड़ादिपदप्रयोगो व्यवहारः) **त्रिधा मतः**" "**वियदादि जगत् सृष्ट्वा तदाविश्य द्विरूपतः जीवान्तर्यामिभेदेन क्रीडति स्म हरिः क्वचित्**" (त.दी.नि.२।९८-१००, १।२९-३०,३९).

पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण नित्याविर्भूत रहते हैं, परन्तु अक्षरब्रह्मके स्वरूपपर दृष्टिपात करनेपर अक्षरब्रह्ममें धर्मरूप आनन्दांशको ईषत् तिरोहित माना गया है. इसी तरह जीवात्मा अर्थात् व्यक्तिचेतनामें स्वरूपदृष्टिसे धर्मिरूप आनन्दांश पूर्णतया तिरोहित माना गया है, परन्तु प्रत्येक जीवात्माके भीतर अन्तर्यामीके रूपमें परमात्मा अर्थात् धर्मिरूप आनन्दकी नित्यस्थिति मानी गयी है. अक्षरब्रह्ममें धर्मरूप आनन्दका जैसे ईषत् तिरोभाव है वैसे जीवात्मामें धर्मरूप आनन्दांशका ईषत् आविर्भाव है. भौतिक द्रव्योंमें स्वरूपदृष्टिसे धर्म-धर्मी उभयरूप आनन्दका पूर्ण तिरोधान माना गया है. इसी तरह स्वरूपदृष्टिसे चिदंशका भी पूर्ण तिरोधान माना गया है परंतु भौतिक जड़ देहको आधार बनाकर चिदंश जीवात्मा वहां प्रकट हो सकती है.

इस तरह एकमेवाद्वितीय धर्मिरूप सच्चिदानन्द परब्रह्मके धर्मरूप सत्ता चैतन्य एवम् आनन्त्य का विस्तार क्रमशः अक्षरब्रह्म, जीव और जड़के रूपोंमें मान्य किया गया है.

देश-कालके इतने लंबे-चोडे अन्तरालके बावजूदभी प्लोटिनस और महाप्रभु की विचारधारायें एक-दूसरेके कितनी निकट बह रही है!

जॉन स्काटस एरिजेनाका शुद्धाद्वैतवाद

मध्ययुगीन यूरोपीय चिन्तकोंमें यदि कोई चिन्तक महाप्रभुके सर्वाधिक निकट है तो वह है: **जॉन स्काट्स एरिजेना** (वि. सं. ८६६-९३३). यह स्वयं ईसाई होनेपर भी स्वतन्त्र चिन्तक था, और जगत् तथा परमेश्वर के बीच अभेद स्वीकारता था. जैसे सांख्यशास्त्रमें चतुर्विध तत्त्व माने गये है :

(१) मूल-प्रकृतिरविकृतिः (२) महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तः

(३) षोडशकस्तु विकारो (४) न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः
(सांख्यकारिका)

ठीक ऐसे ही शब्दोमें जॉन स्काट्स एरिजेना भी परमात्माके चतुर्विध रूप स्वीकारता है :

(१) कर्तृरूप या कारणरूप "creator god"

(२) कार्य-कारण-उभयरूप "ideas, in God, are created and create.

(३) केवल कार्यरूप "The spatio-temporal is created.

(४) कार्य-कारणातीतरूप प्रयोजनGod, as total aim, is not created, not creates.

(द्र.B.Russell: Wisdom of the West).

परमात्माके इन चतुर्विध रूपोंमें रूपगत भेदके विवेचनके बावजूद एक तात्त्विक अद्वैतकी स्वीकृति जॉनको महाप्रभुके अत्यधिक निकट ले आती है. तत्त्वार्थदीप-निबंधके द्वितीय सर्वनिर्णय प्रकरणमें महाप्रभुने भी इस तरहके चतुर्विध रूपोंका वर्णन किया है. वे कहते हैं:

"प्रमेय तत्त्व एकमात्र भगवान् श्रीहरि ही हैं. वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी. जगत्में अनुभूयमान अनेकविध गुण, कार्य, धर्म, उत्पत्ति-स्थिति-वृद्धि-विपरिणति-अपक्षय-नाश रूपी क्रियाएं आदि सभी कुछ उस एक परमात्माके अनेक रूप हैं. फिर भी बुद्धिसौकर्यार्थ तीन रूपोंका पृथक्करण शक्य है : (१) कारणकोटि (२) कार्यकोटि (३) स्वरूपकोटि.

(१) सत्त्व-रज-तमोगुणकी त्रयी, प्रकृति-पुरुष, महद्, अहंकार, पंचतन्मात्रा, दशविध कर्म-ज्ञान-इन्द्रियां, मन और पंचमहाभूत —ये कुल २८ तत्त्व परमात्माके कारणकोटिके रूप हैं.

इनमें केवल एक 'पुरुष' तत्त्वको छोडकर अवशिष्ट २७ तत्त्व, सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशरूप होनेसे, स्थूलकार्यरूप जड़ जगत्के परिणामी-उपादान-कारणरूप हैं. चिदंश पुरुष, सांख्यशास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार ही, ''न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः'' होनेसे परिणाम-उपादानरूप कारण न होनेपर भी निमित्तकारण या आधारकारण बनता है. क्योंकि पुरुष और प्रकृति के संयोगसे ही समूचा स्थूल जगत् स्वरूपलाभ करता है. अतएव परिणाम-कारण न होनेपर भी इसे कारणकोटिमें निविष्ट किया गया है.

ब्रह्मांडकी उत्पत्तिके बारेमें जो दो आधुनिक उत्प्रेक्षा की गयी हैं कि कोई कहता है कि एक बड़े धमाकेके साथ ब्रह्मांडकी उत्पत्ति हुई (Big Bang Theory), और इस धारणाके विरोधी चिन्तक निरंतर विस्तरणशील ब्रह्मांडकी (Expanding universe theory) धारणा प्रस्तुत करते हैं. इन परस्पर विरोधी धारणाओंका कुछ समन्वितरूप वाल्लभमतमें मान्य किया गया है. नामरूपके इस असीम विस्तार में तत्तद् ब्रह्मांडकी उत्पत्तिमें उद्भेदकी प्रक्रियाके द्वारा धमाकावाद स्वीकारा गया है. अक्षरब्रह्ममें किन्तु, अनन्तकोटी ब्रह्मांड स्वीकारे गये हैं. जो प्रकट एवं लीन होते रहते हैं. अव्यक्त अक्षरब्रह्ममें पूर्वोक्त २८ तत्त्वोंके रूपों की निरन्तर विस्तारक्रिया या अभिव्यक्ति भी विस्तारवादके अनुसार होती रहती है. ये सूक्ष्मरूप ब्रह्माण्डोंके रूपमें संपिण्डीकृत होते हैं और अण्डाकृति धारण करते हैं. अण्डके उदभेदन होनेपर स्थूल रूपोंका प्राकट्य होता है. इस अर्थमें इन्हें ब्रह्मके कारणकोटीका रूप माना गया है. उस परोक्ष अव्यक्त अक्षरब्रह्मके ये अपरोक्ष व्यक्त गुणधर्म या रूप (तत् + त्व) हैं. इसलिए इन्हें ''तत्त्व'' कहा जाता है. (द्र : सुबोधीनी.३।६।२-३३ एवं त.दी.नि.प्र.२।८४-१२१).

(२) परमात्माके कार्यरूपोंकी गणना या वर्गीकरण असंभव है. क्योंकि इस असीम ब्रह्माण्डमें व्यक्त हुए सभी असंख्य रूप ब्रह्मके

कार्यकोटीके रूप हैं.

सच्चिदानन्द ब्रह्म अपनी सत्ता अथवा सदंश के द्वारा जब किसी रूपको प्रकट करता है तो उन दोंनों के बीच कार्य-कारण होनेकी बात कही जा सकती है.

जिसके नियततया पूर्वविद्यमान (सत्) होनेपर, जो वस्तु प्रकट होती है, उस वस्तुको, अपने पूर्ववर्तीका, कार्य माना जाता है. अतः सदंशको बीचमें लाये बिना कार्य-कारणभावकी व्याख्या दी नहीं जा सकती. अतएव आनन्दांश या चिदंश के विभिन्न रूपोंमें, मूलरूप-अवान्तररूप या अंशरूप-अंशीरूप जैसे सम्बन्धोंको मान्य करनेपर भी, परस्पर कार्य-कारण होनेका सम्बन्ध मान्य नहीं किया जाता. यह बात और है कि कोई भी आनन्द अचिद्रूप नहीं हो सकता, अतः आनन्दके स्वरूप एवम् प्रत्ययमें चैतन्य अन्तर्भूत रहता ही है. इसी तरह किसी भी असद्वस्तुमें चैतन्य गुणकी कल्पना नहीं की जा सकती. अतः चित्के स्वरूप एवम् प्रत्यय में सत्ता अन्तर्भूत रहती है. अतएव अणुपरिमाण व्यष्टि अन्तर्यामीको अंश तथा समष्टि-अन्तर्यामीको अंशी माना जाता है. आनन्दांशके पक्षको देखते हुए, इसी तरह अणुपरिमाण व्यष्टिचेतनाको अंश तथा इनकी समष्टी पुरुषको अंशी माना जाता है, चिदंशके पक्षको देखते हुए; इस पुरुषको पुनः अवान्तर रूप तथा अक्षरब्रह्मको मूलरूप माना जाता है, फिर भी इनके बीच परस्पर कार्य-कारण होनेका सम्बन्ध, चिदंश या आनन्दांश के पहलुसे, मान्य नहीं किया जाता है. अतएव जीवचैतन्यको और व्यष्टि अन्तर्यामीके आनन्दको अनादि-अनन्त माना गया है. महाप्रभु कहते हैं-"**कारणत्वं नचैव अस्ति चिदानन्दांशयोः स्वतः**" (त.दी.नि.२।८७).

आनन्द आनन्दत्वेन कारण नहीं बनता, सत्त्वेन बन सकता है; और चित् चित्त्वेन कारण नहीं बनता, सत्त्वेन बन सकता है. चित्

या आनन्द असत् हो नहीं सकते. क्योंकि चित् और आनन्दमें सत्ता अनुक्तसिद्ध है अतः महाप्रभु कहते हैं "**चिदानन्दयोः कारणत्वाभावात् एकस्य फलत्वम् अपरस्य स्वरूपत्वम्**" (सर्वनि.८७). अतः जब कारणता नहीं तो कार्यता भी नहीं, फिर भी आनंदांशको फलरूप मानना चाहिए और चिदंशको स्वरूप-रूप.

इससे सिद्ध होता है कि सदंशके अंतर्गत दो कोटियां आती है : (१) कार्यकोटी (२) कारणकोटी.

(३) परमात्माके स्वरूपकोटीके रूपोंके अंतर्गत : क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और उभयशक्तिविशिष्ट ब्रह्म का समावेश होता है. वेदके पूर्वकाण्डमें प्रधानतया क्रियाशक्तिके रूपमें परमात्मा का वर्णन है, उत्तरकाण्डमें प्रधानतया ज्ञानशक्तिके रूपमें; तथा गीता-भागवतमें प्रधानतया उभयशक्तिविशिष्ट परमात्माके धर्मिरूपका वर्णन है. इनके अलावा काल-कर्म-स्वभाव और इनके आधिदैविक रूप रुद्र-ब्रह्मा-विष्णुरूप गुणावतार अथवा अक्षरब्रह्मके रूपको भी कारणकोटी या कार्यकोटी के अंतर्गत न मानकर स्वरूपकोटी में ही गिनना चाहिए. (त.दी.नि.२।८४-९८).

इस तरह हमने देखा कि जॉन स्काट्स एरिजेना जिसे "कारणरूप" कहता है वह महाप्रभुके मतमें स्वरूपकोटीका रूप है. जिसे वह "कार्य-कारणरूप" कहता है वह महाप्रभुके मतमें कारणकोटीका रूप है. देश-कालमें परिछिन्न रूप दोनोंके ही मतमें कार्यकोटीके रूप हैं. कार्य-कारणातीत प्रयोजन रूपके समकक्ष महाप्रभुके मतमें परमात्माका आनन्दांश फलकोटीका रूप है.

इनमें रूपगत भेद होनेपर भी तात्त्विक भेद नहीं है, क्योंकि चारों तरहके रूपोंको धारण करनेवाला तत्त्व या व्यक्ति परमात्मा एकमेवाद्वितीय है. इन रूपोंको धारण करनेमें कोई भी बाहरी शक्ति, उदाहरणतया,

शैतान या माया न तो परमात्माको प्रभावित करती है; और न ऐसी किसी शक्तिकी स्वीकृति ही महाप्रभु या जॉन दोनोंमेंसे कोई भी, इस विषयमें कमसे कम निरूपित करना चाहते हैं.

पुनर्जागरण कालका शुद्धाद्वैती : ब्रूनो

आधुनिक युग अर्थात् पुनर्जागरणके आसपास यूरोपमें **जिओर्दाना ब्रूनो** (वि.सं.१६०४-१६५६) महाप्रभुके लोकत्याग करनेके ठीक सतरह वर्षके बाद पैदा होता है. वह यहुदी था और ईसाई-यहूदी-धर्मविरुद्ध ब्रह्मपरिणामवादी मत अभिव्यक्त करनेके अपराधमें जीवित जला दिया गया था!

ब्रूनोने एक संवादात्मक ग्रंथ लिखा था जिसका प्रमुख विषय था: ‘‘कारण, तत्त्व और एकता (अद्वैत)’’, अपना सिद्धान्त वह जिस पात्रके मुखसे कहलवाता है उसका नाम है: थीओफिलस् (परमात्माका स्नेही). ब्रूनोके अनुसार वस्तुमात्रका मूलतत्त्व परमात्मा है और इस रूपमें वह विश्वात्मा है. वह विश्वव्यापी है और संपूर्ण विश्व उसके स्वभावकी अभिव्यक्ति है. परमात्मा प्रत्येक वस्तुका आद्यकारण है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुकी सत्ता उस परमात्माकी आत्मकृतिका परिणाम है. तत्त्व केवल एक ही है किन्तु उसके दो रूप, ब्रूनो स्वीकारता है : ‘‘**एक वह शक्ति कि जिससे परमात्मा सृष्टि उत्पन्न करता है; और दूसरी वह शक्ति कि जिस रूपमें वह सृष्टिके रूपमें उत्पन्न होता है. जड़ द्रव्य द्वितीय शक्ति है. जड़ द्रव्य परमात्माकी कर्मरूपा (passive) शक्ति है, इस अर्थमें कि जड़में अनेक रूप प्रकट हो सकते हैं. किन्तु उसमें क्रियाकारिता भी है ही, इस अर्थमें कि इसमें अनेक रूप अनाविर्भूत अवस्थित हैं, जिन्हें तत्तत् निमित्तोंके सहयोगसे प्रकट किया जा सकता है.**’’ ब्रूनोके अनुसार विश्वात्माके रूपमें परमात्मा जगत्की प्रत्येक वस्तुके भीतर उपस्थित है, अंशतः नहीं अपितु पूर्णतया.

महाप्रभुके मतमें भी हम देख सकते हैं परमेश्वरके तीन रूप माने गये हैं: ब्रह्म, परमात्मा और भगवान. ‘‘**वेदान्तेच स्मृतौ ब्रह्मलिंगं भागवते तथा ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते त्रितये त्रितयं वाच्यं क्रमेणैव मयात्र हि**’’ (त.दी.नि.१।६). अर्थात् उपनिषदोंमें परमेश्वरके ब्रह्म होनेके पहलुकी प्रमुखता है, गीतामें परमात्मा; तथा भागवतमें भगवान् होनेके पहलुको प्रमुखता दी गई हैं. इन तीन पहलुओंके नामान्तर भी दिये गये हैं. यथा — अक्षरब्रह्म, अन्तर्यामि और परब्रह्म. ‘‘**अन्तर्यामि अक्षरं कृष्णः ब्रह्मभेदाः**’’ (त.दी.नि.२।१२१). श्रीकृष्ण परब्रह्म भगवान् है जगत्से पृथक्तया स्थित. वही कृष्ण जगत्से पृथक् होनेपर भी अन्तर्यामिके रूपमें जगत्में अन्तःस्थित भी होते हैं. जैसे ब्रूनोके मतमें परमात्माको विश्वात्मा माना गया है. महाप्रभुके भी मतमे ब्रह्माण्डमें समष्टिरूपमें तथा प्रत्येक जीवात्माके साथ भीतर व्यष्टिरूपमें भी परमात्मा अन्तर्यामीके रूपमें विद्यमान हैं. तृतीय रूप अक्षरब्रह्मका है. यह परमेश्वरका वह रूप है कि जो जगत्से विलक्षण होनेपर भी पृथक्तया अवस्थित नहीं. जगत् और ब्रह्म के बीच शुद्धाद्वैत या तादात्म्य की जो बात की जाती है वह अक्षरब्रह्मके सम्यक् स्वरूपबोधके बिना सुबोध नहीं हो पाती.

इस समग्र ब्रह्माण्डकी व्याख्या पांच रूपोंमें, महाप्रभुको मान्य हैं: काल कर्म स्वभाव जीव और भौतिक द्रव्य. इनमें अन्तिम दो तत्त्वोंको कभी-कभी पुरुष और प्रकृति भी कहा जाता है. ये पांचों रूप अक्षरब्रह्मकी ही पांच अवस्था या पक्ष हैं. अतः पंचात्मक ब्रह्माण्डका अक्षरब्रह्मसे तादात्म्य है. इस अर्थमें काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति अक्षरब्रह्मके सदंशका विस्तार है और पुरुष चिदंशका.

ब्रूनो एक मज़ेदार विवेचना करता है कि परमेश्वर इस जगत्का मूल तत्त्व (first principle) भी है और मूलकारण (first cause) भी. मूलतत्त्व होनेकी दृष्टिसे देखा जाये तो परमेश्वर जगत्से सर्वथा

अभिन्न ही है, परन्तु मूलकारणकी दृष्टिसे देखा जाये तो वह कुछ भिन्न भी है. क्योंकि जगत् उसका कार्य है और यह जगत्का कारण है. महाप्रभु भी कहते हैं : **"द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्"** (सिद्धान्तमुक्तावली.३). अर्थात् अक्षरब्रह्मके दो रूप हैं : एक रूपमें वह सर्वरूप-सर्वात्मक तत्त्व है और दूसरे रूपमें (कारणरूपमें) सर्वविलक्षण भी है ही.

महाप्रभु अपने शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादको ब्रह्मके महिमाकी स्वीकृति मानते हैं **"यथाकथञ्चिद् माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते"** (त.दी.नि.४१). इसी तरह ब्रूनो भी अपने दर्शनका उपसंहार "Praised be the God, & extolled by all the living being the infinite, the simplest, the most unified, the highest & the most absolute cause, principle & the one."

ब्रूनोके बाद **तोमासो कॅम्पानॅला** (वि.सं. १६२४-१६९८)को भी जगत्को ब्रह्मकी परिणति माननेके अपराधमें २७ वर्षों तक कारागार भुगतना पड़ा था !

आधुनिक दर्शन और शुद्धाद्वैतवाद

इस तरह हम देख सकते हैं कि स्पिनोज़ाकी सात या आठ वर्षकी वयमें एक ब्रह्मवादी चिन्तक मौजूद था और दूसरे स्वयं स्पिनोज़ाकी जातिके यहूदी चिन्तक ब्रूनोको कुछ ही वर्ष पूर्व जीवित जला दिया था. इस त्रासदीकी चर्चा निश्चित स्पिनोज़ाके वयस्क होने तक चलती ही रही होगी. विचारोंपर किसी एक धर्मसम्प्रदायके निरंकुश अंकुशके युगकी समाप्तिके बाद पुनर्जागरण कालमें स्पिनोज़ाको केवल बहिष्कृत किया गया था, ब्रह्मवादी विचारोंकी अभिव्यक्तिके अपराधमें !

दर्शनकी आधुनिक धाराके प्रवर्तक **रेने देकार्ते** (वि.सं.

१६५२-१७०६)ने, स्पिनोज़ासे कुछ पहले, विशिष्टाद्वैती शैलीमें जड़ और चेतन को स्वतन्त्र न मानकर परमात्माश्रित किन्तु परमात्मासे भिन्न तत्त्वके रूपमें निरूपित किया था.

देकार्तेके ग्रन्थपर व्याख्या लिखते हुवे स्पिनोज़ा एक कदम आगे बढ़कर शुद्धाद्वैत तक पहुंच गया कि परमात्मापर आश्रित जड़ और चेतन, परमात्मासे भिन्न तत्त्व न होकर, परमात्माके अनन्त गुणोंमेंसे हमें अनुभूत होनेवाले दो गुण हैं; अथवा गुणोंके परिणाम हैं. गुण-गुणीके बीच अभेद या तादात्म्य खोजनेमें स्पिनोज़ाको अधिक कठिनाईका सामना न करना पड़ा होगा, क्योंकि चिन्तनकी एक लंबी परम्परा युरोपमें पहले ही शुद्धाद्वैतियोंकी मौजूद थी. अतः इस अर्थमें स्पिनोज़ाके चिन्तनको भी परिणामवादकी कसौटीपर सर्वथा नवीन आरम्भ नहीं माना जा सकता है.

अपने 'आधुनिक दर्शनके इतिहास' में रिचर्ड फाल्कनबर्ग कहते हैं कि ''द्रव्य = परमात्मा =प्रकृति'' के समीकरणमें ''द्रव्य = परमात्मा''की घोषणा देकार्तेने की थी; और ''परमात्मा =प्रकृति''के समीकरणकी धारणा ब्रूनोने की थी. स्पिनोज़ाने देकार्तेकी तरह प्रकृतिको परमात्माश्रित और फिर भी परमात्मासे भिन्न तत्त्व या द्रव्य माननेके बजाय देकार्ते और ब्रूनो दोनोंके समन्वयपर आधारित ''द्रव्य = परमात्मा =प्रकृति''का सिद्धान्त स्थापित किया था.

स्पिनोज़ा, ब्रूनोके अनुकरण पर, दृश्यमान जगत्का मूलतत्त्व एवं मूलकारण परमात्माको मानता है. ऐसी स्थितिमें जगत् और परमात्मा के बीच सम्बन्ध सान्त-अनन्त पराश्रित-अपराश्रित द्वैत-अद्वैत अनेकत्व-एकत्व अंश-अंशी विशेष-सामान्य और सखण्ड-अखण्ड के विरोधाभासोंवाला स्वीकारना पड़ता है (द्रष्टव्य : फाल्कनबर्गकृत आधुनिक दर्शनका इतिहास). इस विरोधाभासके उपशमके लिये स्पिनोज़ाके दर्शनकी केवलाद्वैतवादी

व्याख्या भी कुछ विद्वान बहुधा करते हैं. अतः इसे अच्छी तरह निर्णीत कर लेना आवश्यक है.

केवलाद्वैतवाद और स्पिनोज़ा

मूलतत्त्व या द्रव्य (substance) के दो गुण : चेतना (thought) और देशवर्तिता (extension) पदार्थ हमारी बुद्धिसे गृहीत हो पाते हैं. जब हमें चेतनाका भान होता है तो, स्पिनोज़ाके अनुसार, वह चेतनायुक्त परमात्माका ही भान है. जब हमें देशके त्रिविध आयामोंमें विस्तीर्ण जड़ पदार्थका भान होता है तो, स्पिनोज़ाके अनुसार, वह भी देशकृत-कालकृत एवं वस्तुकृत परिच्छेदरहित परमात्माकी ही देशके त्रिविध आयामोंमें विस्तीर्णताका भान है. ये दोनों गुण परमात्माकी अनन्त चैतन्यरूपता तथा अनन्त देशविस्तीर्णताका पूर्णबोध प्रदान करनेमें सक्षम हैं. दोनों गुणोंमें भासित होता परस्पर भेद तथा फिर भी दोनों ही गुणोंका परमात्माके स्वरूपसे अभेद! इस विरोधाभासके उपशमके लिये स्पिनोज़ाद्वारा दी गई गुणकी परिभाषा कि "'गुणधर्म' उसे कहा जाता है कि जिस रूपमें बुद्धि द्रव्यके स्वरूपका ग्रहण कर पाती है (that which understanding perceives of the substance as constituting the essence of it)" के आधारपर द्रव्यके गुणधर्मोंका केवल बौद्धिक अस्तित्व माना जाता है और कहा जाता है कि वे वास्तविक नहीं हैं. (द्रष्ट : फाल्कनबर्गकृत आधुनिक दर्शनका इतिहास).

इस तरह हठात् केवलाद्वैतकी ओर स्पिनोज़ाको घसीटनेवाले ये व्याख्याकार स्वयं स्पिनोज़ाद्वारा दी गई परमात्माकी परिभाषापर लक्ष्य नहीं देते. स्पिनोज़ा स्पष्टतया कहता है : "'परमात्मा'से मेरे तात्पर्यमें एक ऐसा तत्त्व है कि जो सर्वथा अनन्त हो, अर्थात् ऐसा द्रव्य कि जिसमें अनन्त गुणधर्म हों और जिन अनन्त गुणधर्मोंसे प्रत्येक गुणधर्मके द्वारा शाश्वत् एवं अनन्त स्वरूप अभिव्यक्त हो रहा हो".

यदि परमात्मामें वास्तविक गुणधर्मोंका अस्तित्व न हो अर्थात् वे केवल बुद्धिकल्पित हों, तो उतने ही गुणधर्म होने चाहिये कि जितने बुद्धिसे कल्प्य हों. जबकि स्पिनोज़ा परमात्मामें अनन्त गुणधर्मोंकी सत्ता स्पष्टतया स्वीकारता है. इन असंख्य गुणधर्मोमेंसे हमारी बुद्धि केवल दो ही गुणधर्मोंका ग्रहण कर पाती है. अतः गुणधर्मोंको वास्तविक न मानकर बुद्धिकल्पित मानना स्पिनोज़ाके दर्शनका अन्यथाव्याख्यान है. इसके अलावा स्पिनोज़ा स्पष्टतया कहता है कि परमात्माके गुण अथवा परिणामोंके अलावा अन्य कुछ बुद्धि ग्रहण कर नहीं सकती है. इसमें हेतु वह यह देता है कि ''एक प्रामाणिक प्रत्ययकी अपने प्रत्ययके साथ संवादिता रहती है. दूसरे शब्दोंमें कहा जाये तो प्रमेयके प्रतिनिधिरूप जो भी प्रत्यय हमारी बुद्धिमें उपस्थित होते हैं तदनुरूप वह प्रकृतिमें होने ही चाहिये. प्रकृति क्योंकि, परमात्माके अलावा कुछ है ही नहीं, अतः जो कुछ बुद्धिसे गृहीत होता है वह या तो परमात्माके गुणोंमेंसे एकाद गुण होगा या उसका परिणाम इसके अलावा अन्य कुछ भी नहीं.'' (दृष्टव्य : एथिक्स.१।३०).

इससे सिद्ध होता है कि स्पिनोज़ाके चिन्तनकी कल्पनावादी व्याख्या सर्वथा निराधार है.

द्रव्यकी परिभाषा देते हुवे स्पिनोज़ा कहता है : **''अपने स्वरूप और बोध दोनोंमें, जो तत्त्व स्वनिर्भर हो, उसे द्रव्य समझना चाहिये. परमात्मा एक ऐसा तत्त्व है कि जिससे असंख्य गुणधर्म विद्यमान रहते हैं; और ये प्रत्येक गुणधर्म परमात्माकी अपरिच्छिन्नताको एवं स्वरूपको अभिव्यक्त करते हैं.''**

केवलाद्वैतवादी व्याख्याकारोंके विपरीत स्पिनोज़ा स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि कोई भी वस्तु जितनी अधिक सत्य या भावरूप होती है उतनी ही उसके गुणधर्मोंकी संख्या अधिकाधिक होती है. (द्रष्ट:विधान ९ वहीं).

स्पिनोज़ाका शुद्धाद्वैतवाद निगमनात्मक तर्कसे सिद्ध होनेवाला शुद्धाद्वैतवाद है, अतः यह कदापि भूलना नहीं चाहिये कि तर्कमर्यादामें जो बात नहीं कही जा सकती उसे स्पिनोज़ाके मुखसे सुननेकी आशा नहीं रखनी चाहिये.

फलतः महाप्रभुके सिद्धान्तमें ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रियता : साकारता और अपरिच्छिन्नता, अखण्डैकरसता और नामरूपविभाग, सर्वसमता और अनुग्रह तथा अवतार आदिके जो अचिन्त्य सामर्थ्य ब्रह्ममें मान्य किये गये हैं, स्पिनोज़ा उनका तीव्र प्रत्याख्यान करता है. मूलरूपमें ब्रह्ममें ऐसे विरोधाभासी सामर्थ्यकी स्वीकृति स्पिनोज़ाको अनावश्यक प्रतीत होती है. पर अनन्त गुणधर्मोकी परमात्मामें स्वीकृति तथा परमात्माके स्वभावके विपरीत जड़जगत्में देश-काल-वस्तुकृत परिच्छिन्नता; और जीवकी चेतनामें अज्ञान-वासना-असंतोष-शोक-मोह जैसे विकारोंकी स्वीकृति, अन्ततः उसी निष्कर्षपर स्पिनोज़ाके मतको पहुंचाती है जो सर्वनिर्णयनिबन्धमें महाप्रभु कहते हैं :

> ‘‘सुखदुःखप्रद शुभाशुभ कर्म एवं मनोभावों का प्रवर्तक भगवान्‌को कैसे माना जा सकता है, क्योंकि भगवान् तो परम कृपालु है? इसका उत्तर यह है कि भगवान् सभीकी आत्माके भी आत्मा हैं, अतः ऐसे सुखदुःखप्रद शुभाशुभ कर्म एवं मनोभावों का प्रेरक भगवान्‌को माना जा सकता है. जैसे भी शुभाशुभ कर्म या मनोभावों के प्रेरक भगवान् बनते हैं वह अपनेसे भिन्न किसी जीवात्माके लिए नहीं, अपितु स्वयमेव परमात्मा ही एक रूपमें प्रेरक बनते हैं और दूसरे रूपमें प्रेरित. स्वयमेव स्वयं को अनेकविध कर्म एवं भावों के लिए प्रेरित करते हैं. अतः प्रत्येक प्रेरित जीवात्माओंके प्रति भगवान्‌को सर्वसम भी मानना पड़ता है. सभी योनियोंमें सभी

जीवात्माओंको, सभी अवस्थाओंमें, सुखदुःख तो समान ही होता है. फिरभी सुखदुःखोंमें तारतम्यबुद्धि हमें भ्रमवश होती है. अन्यथा, एक ही वस्तु के प्रति किसी एक व्यक्तिकी उस वस्तुके सुखप्रद होनेकी बुद्धिका और अन्यकी उसी वस्तुके दुःखप्रद होनेकी बुद्धिका समन्वय सम्भव नहीं रह जायेगा. स्वयं एक ही व्यक्ति भी किसी एक ही वस्तुको कभी सुखद और कभी दुःखद भी मान लेता है!

भगवान् द्वारा प्रदत्त फल और भगवान् का स्वरूप सर्वत्र समान ही होता है. क्योंकि यह दिखलाई देनेवाला सभी कुछ स्वयं भगवान् ही हैं. वे ही सृष्टा हैं और सृष्टि भी. वे ही पालक हैं और पालित भी. वे ही तिरोधानकर्ता हैं और तिरोहित होते विषय भी. सब कुछ वे ही हैं. सर्वत्र वे ही है. सब कुछ परमात्मामें है. जीवात्माओंमें वे परमात्मा हैं, परिच्छिन्न जगत्में वे अपरिच्छिन्न ब्रह्म हैं. यह ब्रह्मवादका सच्चा स्वरूप है और सारी बातें मोहजनक है :

''आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरति ईश्वरः, आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा, इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैः यथामति, अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्''

(त.दी.नि.२।१८१-१८४).

स्पिनोज़ा कहता है कि ''ऐसी किसी वस्तुके अस्तित्वकी सम्भावना ही नहीं है कि जो परमात्मासे भिन्न या बाह्य हो और जिससे उपहित या प्रभावित होकर परमात्मा कोई कार्य करता हो. परमात्मा

जो भी कुछ करता है (सृष्टि स्थिति-पालन या संहार आदि) वह स्वयं निजके स्वभावके नियमोंके अनुसार ही करता है. किसी अन्य विवशतासे नहीं. स्वगत भेदके कारण या सजातीय-विजातीय भेदके कारण परमात्मासे भिन्न अन्य किसी हेतुकी तो सम्भावना ही नहीं है. परमात्माकी स्वाभाविक परिपूर्णता ही परमात्माको किसी कार्य करनेको प्रेरित करती है ... परमात्मा प्रत्येक कार्य-वस्तुमें उस वस्तुके तात्त्विक स्वरूपके रूपमें अन्त:स्थित रहता है. यह संभव नहीं है कि कोई कार्य विद्यमान हो और उसका उपादान-कारण नष्ट हो जाये.

जो भी कुछ है वह परमात्मामें है... परमात्मा प्रत्येक वस्तुके अस्तित्वका ही केवल हेतु हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि परमात्मा प्रत्येक वस्तुकी नियत अर्थक्रियाकारिताका भी हेतु है. क्योंकि तत्तद् वस्तुओंकी भिन्न-भिन्न अर्थक्रियाकारितायें यदि परमात्माके द्वारा नियत न हों तो वे प्रकट ही नहीं हो पायेगी... अत: प्रकृति अपने सक्रिय होनेके रूपमें (natura naturans) और क्रियाविषय या निष्क्रिय (natura naturata) होनेक रूपमें द्वैविध्य प्रकट करती है. 'नेचुरा नेचुरान्'से तात्पर्य उस रूपसे है कि जिस रूपमें बह तत्त्व अपने अस्तित्त्व एवं बोध में स्वाश्रित हो; अथवा द्रव्यके वे गुणधर्म कि जिनमें सनातनताकी और अपरिच्छिन्न स्वभावकी, अर्थात परमात्माकी, अभिव्यक्ति होती हो. यह परमात्माके मूल या स्वतन्त्र कारण होनेके रूपकी दृष्टिसे कहा जा रहा है. प्रकृतिको 'नेचुरा नेचुराता'की दृष्टिसे देखने पर ये सारे रूप विवक्षित हैं कि जो परमात्माके स्वभाववश सिद्ध होते हैं. अर्थात् वे सारे परिणाम जो परमात्मामें ही स्थित रहतें हैं और परमात्माके बिना जिनका अस्तित्व या बोध सम्भव न हो''

(एथिक्स.१।१७,१८,२९).

इस तरह हम देख सकते हैं कि महाप्रभुके द्वारा वर्णित परमात्माके 'सृजति' 'त्राति' और 'हरति' रूपको स्पिनोज़ा 'नेचुरा नेचुरान्' कहता

है. इसी तरह 'सृज्यते', 'त्रायते' और 'ह्रियते' रूपको स्पिनोज़ा 'नेचुरा नेचुराता' कहता है. फिरभी स्पिनोज़ाके चिन्तनमें, महाप्रभुके मतकी तरह, साकार-पुरुषोत्तमरूपका कोई स्थान नहीं है. यदि महाप्रभुके दर्शनकी केवल अक्षरब्रह्मके आधारपर व्याख्या करनेकी शर्त लगा दी जाये तो जो भी कुछ कहा जा सकता है वह स्पिनोज़ाका दर्शन होगा! इसी तरह स्पिनोज़ाके अद्वैतवादमें पुरुषोत्तमकी धारणा जोड़ दी जाये तो वह महाप्रभुके शुद्धाद्वैतकी भाषाको ग्रहण कर लेगा.

स्पिनोज़ाकी दार्शनिक धारणामें पुरुषोत्तमकी अनुपस्थितिवश, स्पिनोज़ा जिसे 'स्वभाव' कहता है, उसे महाप्रभु लीला कहते हैं, पुरुषोत्तमकी स्वीकृतिकी भाषामें!

स्पिनोज़ाके लिए यह समग्र ब्रह्माण्ड ब्रह्मके स्वभावका अनिवार्य अंग है, जैसे समकोण त्रिभुजकी दो भुजाओंके वर्गोंके योगफलका तीसरी भुजाके वर्गके बराबर होना समकोण त्रिभुजके स्वभावका अनिवार्य अंग होता है.

महाप्रभुके अनुसार श्रुतिमें ब्रह्मके "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप.२।१) वचनद्वारा उसे सच्चिदानन्दरूप माना गया है. इनमें तीन बातें आयी (१) सत्ता (२) चैतन्य (३) आनन्द या अपरिच्छिन्नता. अतएव "आनन्द" और "अनन्त" को पर्यायवाची माना गया है. यह आनन्द या आनन्त्य वही है जिसे स्पिनोज़ा पुनः पुनः परमात्माके अनन्त स्वभावके रूपमें निर्दिष्ट करता है "now, as the divine nature has absolutely infinite attribute infinite essense after its kind" (1.prop 16).

महाप्रभुका सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम अपने दो गुणधर्म : सत्ता (इसे स्पिनोज़ाके extention की जगह समझना चाहिये) और चैतन्य (जिसे स्पिनोज़ा thought कहता है) के अलावा धर्मिरूप (substance या essence के रूप)

में आनन्द या अनन्त है. इस रूपमें सत्ता और चैतन्य के अलावा भी उसमें असंख्य गुणधर्म है (**सच्चिदानन्दरूपन्तु ब्रह्म व्यापकम् अव्ययम् सर्वशक्ति स्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितं, सजातीय-विजातीय-स्वगतद्वैतवर्जितम् सत्यादिगुणसाहस्रैः युक्तम् औत्पत्तिकैः सदा** : त.दी.नि.१।६५-६६). इसी मूलतत्त्वके असंख्य गुणधर्मोंमें एक गुणधर्म परमात्माकी साकारता भी है ही, जो उसके तात्त्विक स्वभावको अभिव्यक्त करती है.

स्पिनोज़ा भी कहता है कि परमात्माकी ज्ञानशक्ति या स्नेहशक्ति की तुलना मानवीय ज्ञानेच्छास्नेहकी वृत्तियोंसे नहीं की जा सकती.

इसी युक्तिका प्रयोगकर महाप्रभु परमात्माकी दिव्य आकृतिकी तुलना भी मानवीय या लौकिक आकृतिसे शक्य नहीं मानते. स्पष्टतया विधान करते हैं कि परमात्माके निज स्वरूपके आनन्त्य या आनन्द के कारण परमात्मामें दिव्य आकृति सम्भव है - **''परमानन्दएव 'अनन्त' शब्देन उच्यते''** (अणुभा.१।१।११) और **''ब्रह्मवादे आनन्दो हि आकार समर्पकः''** (त.दी.नि.१।४४).

इनके अलावा भी अन्य कई प्रश्न ऐसे हैं, उदाहरणतया : सत्कार्यवाद सत्कारणवाद अविकृतपरिणामवाद तादात्म्यवाद परमात्मकारयितृत्ववाद अनुग्रहमूलकभक्तिवाद जीवाणुत्ववाद या ख्यातिवाद आदि, इन अनेक समस्याओंपर महाप्रभु वल्लभाचार्य एवम् बारुक स्पिनोज़ा के दृष्टिकोणमें उल्लेखनीय समानता है. इन सभीका सांगोपांग विवरण इस निबन्धका न तो विषय है और न लक्ष्य ही. फिरभी संक्षेपमें हमने देखा कि स्पिनोज़ाके आगमनके साथ यूरोपमें शुद्धाद्वैत दर्शन कैसे पुरे निखार के साथ प्रकट हो जाता है.

यूरोपीय दर्शनके इतिहासमें स्पिनोज़ाका एक महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकारना पड़ता है. सर्वप्रथम तो इसलिए कि अपने पूर्ववर्ती चिन्तकोंकी

विचारशृंखलामें एक नयी कड़ीके रूपमें स्पिनोज़ाका चिन्तन जुड़ा हुआ है, न कि पूर्ववर्ती दार्शनिकोंके ग्रन्थकी केवल व्याख्याके रूपमें. दूसरे अपने चिन्तनके आधारभूत वाक्य और निष्कर्ष; स्पिनोज़ाके सर्वथा अपने मौलिक हैं, ब्रूनो आदि दार्शनिकोंके चिन्तनसे प्रभावित और समान होनेपर भी.

ऐसा किन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बारेमें कह पाना कठिन है. क्योंकि महाप्रभुका चिन्तन अपना मौलिक न होकर उपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र एवं भागवत की व्याख्यामात्र है. इनकी एक समन्वित सहज और प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करना ही महाप्रभुका लक्ष्य है. अतः उसे मौलिक सूझ माननेपर वह प्रामाणिक व्याख्या नहीं रह जाती और प्रामाणिक व्याख्या माननेपर वह महाप्रभुकी अपनी मौलिक सूझ नहीं कहलायेगी. स्वयं महाप्रभुके अनुसार भी उनका मत अपना स्वयंका नही है -

अर्थोयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव।।
(त.दी.नि.१।१०४)

उनका मत समग्र शास्त्रोंका सनातन-सार्वदिक सिद्धान्त ही है. इस शास्त्रीय सिद्धान्तको 'साकारब्रह्मवाद' या 'शुद्धाद्वैतवाद' कहा जाता है, शुद्धाद्वैत का अग्रेजीपर्याय प्रायः puremonism दिया जाता है. मुझे परन्तु लगता है कि यह भ्रामक शब्दावली है. पाश्चात्य दर्शनकी दृष्टिसे इसे realistic monism कहना अधिक उपयुक्त है. अनुभूयमान जगत्को मिथ्या मानते हुए किसी एकमेवाद्वितीय तत्त्वकी धारणा absolute-nondualism या idealistic nondualism कही जानी चाहिये. अद्वैतवादकी ऐसी धारणाके विपरीत द्वैतघटित बाह्य जगत्को या द्वैतको यथार्थ मानते हुए भी उस द्वैतमें अद्वैतको भी यथार्थ मानना शुद्धाद्वैत

है. इसे द्वैताद्वैत नहीं समझ लेना चाहिये. यह ''द्वैत और अद्वैत'' नहीं है, किन्तु ''द्वैतमें अद्वैत'' है अथवा ''अद्वैतमें द्वैत'' है. क्योंकि अपनी विरुद्धधर्माश्रियतावादकी मान्यताके अनुरूप महाप्रभुके द्वैताद्वैतके निरूपणमें, किसी कठिनाई का सामना तो नहीं करना पड़ता था, फिर भी स्वमतको द्वैताद्वैतवाद न मानना, इस बातका प्रमाण है कि महाप्रभुके मातनुसार जगत् और ब्रह्म के बीच विद्यमान सम्बन्धकी व्याख्या द्वैत, द्वैताभाव या उभयात्मकता अर्थात् द्वैताद्वैत से विलक्षण है. महाप्रभु स्पष्टतया विधान करते हैं कि **''कार्यकारणयोः भेदाभेदमतनिराकरणाय पिण्डमणिनखनिकृन्तनग्रहणम्''** (अणुभा.१।४।२३).

जैसे शांकर मतमें मिथ्यात्वका लक्षण **''सद्विलक्षणत्वे सति असद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्''** दिया जाता है, उसी तरह वाल्लभ मतमें शुद्धाद्वैत या तादात्म्य का लक्षण **''द्वैतविलक्षणत्वे सति द्वैतान्त्यन्ताभावविलक्षणत्वे सति द्वैताद्वैतविलक्षणतत्वम्''** अभीष्ट है. इस प्रकारका अद्वैत भावरूप अभेद है भेदका अत्यन्ताभाव नहीं. जैसे अविद्या केवलाद्वैतमें न तो विद्या है और न विद्याका अत्यन्ताभाव ही, किन्तु एक भावरूप अज्ञानकी कल्पना वहां प्रस्तुत की गयी है. ठीक उसी तरह वाल्लभमतमें अभेद न तो भेद है और न भेदका अत्यन्ताभाव ही, किन्तु कोटीत्रयबाह्य एक भावरूप सम्बन्ध है. इसे स्वयं श्रीशंकराचार्य भी अपने पञ्चीकरणम् नामक ग्रन्थमें एक निषेध्य कल्पके रूपमें मान्य करते हैं : **''न भिन्नं नाभिन्नं नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्''** (पञ्चि.) इससे सिद्ध होता है कि शुद्धाद्वैत दर्शन न तो महाप्रभुका मौलिक चिन्तन है और न ऐसे किसी दावेकी कोई ऐतिहासिक पुष्टि ही सम्भव है. भारतवर्षमें महाप्रभुसे पूर्व; और सच कहें श्रीशंकराचार्यसे भी पूर्व, शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तदृष्टि बहुमान्य थी. ब्रह्मनन्दी यादवप्रकाश भतृप्रपञ्च ब्रह्मदत्त भास्कराचार्य श्रीपतिभगवत्पादाचार्य आदि अनेक चिन्तक कुछ यहां-वहांके थोड़े बहुत अन्तरके साथ या तो शुद्धाद्वैत; या फिर इसकी निकटतम विचारधारा द्वैताद्वैतवादका

प्रतिपादन कर ही चुके थे.

शुद्धाद्वैतवादकी कुछ प्राणभूत धारणायें हैं, यथा :

(१) ब्रह्मवाद
(२) विरुद्धधर्माश्रयतावाद
(३) अभिन्ननिमित्तोपादनकारणतावाद
(४) सत्कारणवाद
(५) सत्कार्यवाद
(६) आविर्भावतिरोभाववाद
(७) अविकृतपरिणामवाद
(८) कार्यकारणतादात्म्यवाद
(९) लीलावाद

इनमें प्रत्येक धारणाका समर्थन, श्रीशंकराचार्यसे बहुत पहले, वेदान्तियोंके बड़े समुदायने किया ही था. इनमें यादवप्रकाश आदिके मूलग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होते परन्तु श्रीशंकराचार्य श्रीयामुनेयाचार्य श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवेदान्तदेशिक प्रभृति प्राचीन विद्वानों द्वारा उनके मत उद्धृत हुए हैं और उनके अवलोकनसे सिद्ध होता है कि शुद्धाद्वैतकी धारणा कितनी प्राचीन थी!

निष्कर्षरूपेण पाश्चात्य दर्शनके इतिहासके झरोखेसे देखनेपर शुद्धाद्वैत दर्शनकी जैसी एक विकासरेखा थेल्ससे स्पिनोज़ा तक खींची जा सकती है, वैसी भारतीय दर्शनके इतिहासमें सम्भव न होनेसे उसे महाप्रभुका भारतीय दर्शनको योगदान मानना एक कठिन कार्य है.

महाप्रभुकी साधनाप्रणालीमें दान और समर्पण में अन्तर किया गया है. किसी वस्तुपरसे अपना स्वत्व-स्वामित्व हटाकर दूसरे व्यक्तिका स्वत्व स्थापित करना 'दान' कहलाता है, जबकि अपने या पराये किसी भी प्रकारके भेदके बिना अपने पास जो कुछ हो उसे दूसरे

व्यक्तिके उपभोगार्थ प्रस्तुत कर देना 'समर्पण' कहलाता है. महाप्रभुके मतमें दानके भावकी महत्ता मान्य नहीं की गयी है. क्योंकि दानमें देनेसे पूर्व एक प्रकारके अहन्ता-ममताका भेद प्रबल रहता है. समर्पणमें शुद्धाद्वैतका बोध है, जबकि दानमें द्वैतका! त्यागकी मनोवृत्तिमें केवलाद्वैतका बोध सुसंगत होसकता है, जबकि समर्पणमें शुद्धाद्वैतका ही भाव बना रहता है! जिसे समर्पित करना है उसका त्वंकार जिस पदार्थका समर्पण करना है उसका इदंकार, और जो समर्पणकर्ता है उसका अहंकार इनके सारे भेद **"तुभ्यम् इदम् अहं समर्पये"** में एक समर्पणके भावमें तादात्म्यबोध जगाते हैं. त्वंकार इदंकार या अहंकार मेंसे किसीके भी लोपके बिना ही समर्पणके अद्वैतसूत्र या तादात्म्यसूत्र में पिरोये जानेपर यह त्रैविध्य एक सुन्दर मुक्तावलीका रूप धारण कर लेता है! उसमें न तो भक्तके भक्तत्वका नाश यहां आवश्यक है और न भगवान्के भगवत्त्वका ही! फिरभी भक्त और भगवान् के बीच भेददृष्टि निवृत्त हो जाती है, जब भक्त भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है!

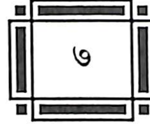
महाप्रभुका चिन्तन वेद गीता ब्रह्मसूत्र तथा भागवत आदि शास्त्रोंको समर्पित है. व्याख्यादानके रूपमें प्रदत्त नहीं. अतः इसे श्रुत्यादिप्रमाणोंको प्रदत्त 'महाप्रभुका योगदान' कह पाना कठिन है.

महाप्रभुका चिन्तन **"ब्रह्मापर्णं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना."** (भग.गीता.४।२४) के एक शुद्ध ब्रह्माद्वैतपर अवलम्बित चिन्तन है. जिसे उपनिषदोंमें **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि"** (छान्दो.उप.६।८।७) कह कर अथवा **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"** (३।१४।१) कह कर व्यक्त किया गया था. यहां एतद् और इदम् अथवा तत् और त्वम् के भेदमें भी एक भावरूप तादात्म्य है. अत: तादात्म्यवाद या शुद्धाद्वैतवाद पर्यायवाची पद हैं.



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



कर्म ज्ञान भक्ति एवं प्रपत्ति का तुलनात्मक स्वरूप

(उपक्रम)

भौतिक विज्ञानमें भौतिक द्रव्यके (MATTER) तीन आयाम माने जाते हैं: लंबाई चौडाई और गहराई. इसी तरह मानवीय व्यक्तित्वके भी अपने यहां तीन आयाम स्वीकारे गये हैं: जानाति (ज्ञान) इच्छति (इच्छा) और यतते (प्रयत्न).

कई बातोंका हमें ज्ञान रहता है तो कई बातें ऐसी भी होती है कि जिनके बारेमें हम कुछ भी नहीं जानते.

जिन बातोंकी हमें जानकारी रहती है उनमें कुछ बातें ऐसी भी होती है कि जिन्हें पानेकी हमारे भीतर इच्छा जाग उठती है, तो कई जानी हुई बातें ऐसी भी हो सकती है कि जिन्हें पानेकी इच्छा हमारे भीतर लेश भी नहीं जग पाती. उन्हें केवल जानकर ही हम सन्तुष्ट हो जाते हैं.

जिन वस्तुओंको पानेकी इच्छा हमारे भीतर प्रबल होती है तो वैसी इच्छायें हमें उन वस्तुओंको पा लेनेके प्रयासमें तत्पर बना

देती हैं. कुछ इच्छायें, परन्तु, उतनी प्रबल नहीं हो पाती कि उन इच्छाके विषयोंको पानेके प्रयासमें जुट जानेको हमें बाधित होना पड़ता हो.

जिन बातोंको पानेके प्रयासमें हम लगे रहते हैं उनमें से कुछ प्रयास सफल होते हैं तो कुछ विफल भी. फलतः हम सुखी या दुःखी होते रहते हैं. हमारा सारा व्यवहार इन्हीं ज्ञान इच्छा और प्रयत्नोंके विभिन्न रूपोंकी समष्टि है.

मानवीय व्यक्तित्वके इन तीन आयाम ज्ञान इच्छा और प्रयत्नमें ही क्रमशः ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग और कर्ममार्गके उत्स रहे हुए हैं. अतएव भागवतमें कहा गया है: ''**योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिः च नोपायो अन्यो अस्ति कुत्रचित्**''. (भाग.पुरा.११/२०/६-८) अर्थ: मानवके श्रेयोविधानार्थ भगवान्ने ज्ञान भक्ति और कर्म रूप तीन मार्गोंका प्रवर्तन किया है. इन तीन मार्गोंके अलावा अन्य कोई उपाय श्रेयसाधनके हेतु बनाया नहीं गया है.

(योगत्रयी और प्रपत्ति का तुलनात्मक निष्ठा तारतम्य)

वैसे तो यहीं भागवतमें (११।२०।६–८) हमें यह खुलासा भी मिल जाता है कि कर्मसंन्यास करनेवाले निष्काम साधकके लिये ज्ञानयोग श्रेयस्कर होता है, कर्मपरायण सकाम साधकके लिये कर्मयोग श्रेयस्कर होता है; तथा न तो अतिविरक्त और न अतिविषयानुरक्त ऐसे भगवत्कथामें जातश्रद्ध साधकके लिये भक्तियोग श्रेयस्कर होता है: ''**निर्विण्णानां ज्ञानयोगः न्यासिनाम् इह कर्मसु, तेषु अनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्, यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः.**''

इस सन्दर्भमें कुछ प्रश्न उठ खड़े होते हैं कि प्रपत्ति (शरणागति)

क्या इन्हीं तीनों मार्गोंका अथवा तीनमें से किसी एक ही मार्गका कोई अंगभूत उपाय है? अथवा प्रपत्तिमार्ग क्यों एक स्वतन्त्र मार्ग बन नहीं सकता? यदि प्रपत्तिका भाव स्वतन्त्र मार्ग या उपायके रूपमें मान्य हो पाता हो तो इसका अधिकारी किसे माना जाये? क्या विरक्तको या विषयानुरक्तको अथवा सभीको?

इन्हीं प्रश्नोंके साथ जुड़ी हुई एक चर्चा यह भी विद्वानोंमें चलती रहती है कि गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है. कर्म ज्ञान भक्ति एवं प्रपत्तिमें से किसी एक उपायकी प्रमुखता अथवा इन सभीका समुच्चय?

विभिन्न आचार्योंने विभिन्न अधिकार अर्थात् योग्यतावाले साधकोंको लक्ष्यमें रखकर विभिन्न दार्शनिक विचारोंकी पृष्ठभूमिपर इन प्रश्नोंके भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके भी शुद्धाद्वैतवादी विचारधाराके अनुसार इन प्रश्नोंके क्या उत्तर हो सकते हैं यह संक्षेपमें दिखलाना इस प्रकरणका प्रयोजन है.

महाप्रभुके अनुसार कर्म ज्ञान भक्ति और प्रपत्ति ये सभी पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र मार्ग हैं, अतः इनके समुच्चयको वे आवश्यक नहीं मानते हैं. इनमें से किसी भी एक मार्गको पूर्ण निष्ठाके साथ अपनाने की आवश्यकतापर वे अधिक भार देते हैं. जैसा कि गीतामें कहा ही गया है **''एकमपि आस्थितः सम्यग् उभयोर् विन्दते फलम्''** (भग.गीता ५।४) अर्थात् किसी भी एक मार्गको अच्छी तरह निष्ठाके साथ अपनानेपर दोनोंके फल मिल सकते हैं, परन्तु कच्ची निष्ठाके साथ दोनोंको भी अपना लेनेके बावजूद एक मार्गका भी फल मिल नहीं सकता.

महाप्रभु भी अतएव अपने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध नामक ग्रन्थमें स्पष्ट

विधान करते हैं—

निष्ठाभावे फलं तस्मात् नास्त्येव इति विनिश्चयः।
निष्ठा च साधनैरेव न मनोरथवार्तया॥

(त.दी.नि.१।१८)

अर्थ: निष्ठाके अभावमें इनमें से किसी भी मार्गसे कुछ भी फल मिल नहीं सकता. किसी भी मार्गमें निष्ठा होनेका मतलब है उस मार्गके साधनोंको तत्परताके साथ अपनाना. इन साधनोंको अपनानेके थोथे मनोरथ या समयकी व्यर्थ बरबादी कर देनेवाले इन मार्गों अथवा साधनों के केवल श्रवण-प्रवचनसे कुछ होना जाना नहीं है.

(योगत्रयी और प्रपत्ति का सामान्य स्वरूप)

इन मार्गोंके प्रारम्भिक कुछ अंगभूत उपायोंकी एकरूपताके कारण, बहुधा कई विद्वान् इन मार्गोंमें परस्पर भेदकी बात स्वीकारने उद्यत नहीं होते.

सभी मार्गोंके एकमात्र गन्तव्य परमात्माके अद्वैतकी धारणाके वश भी मार्गोंके अभिन्न होनेकी हठ कई वक्ताओंके वक्तव्योंमें बहुधा झलकती है. कई लोग तो खुले शब्दोंमें मार्गोंके भेदकी निन्दामें ही अपने पाण्डित्यका प्रकर्ष मानते हैं.

मानों एक स्टेशन्पर से कई रेलगाड़ियोंके छूटनेकी स्थितिमें शुरुआतके कुछ स्टेशन् एक ही आते हों तो ऐसे मान लेना कि हर गाड़ीमें हर लाईन्पर हर दिशामें सर्वथा एक ही स्टेशन् आयेंगे! अथवा किसी भी दिशामें रेलगाड़ीसे यात्रा करनेपर जो भी स्टेशन् आयेंगे वे होंगे तो इस भूतलपर ही, अतः भूतलकी अद्वैतधारणाके वश, सभी स्टेशन्

या गन्तव्योंके भेदको भी मिथ्या मान लेना!

भिन्न-भिन्न स्टेशनों अथवा दिशाओं के भेदको भूतलके अभेदकी धारणाके वश मिथ्या माने या सत्य माने, यात्री तो वही ट्रेन पकड़ना चाहेगा जो उसके अभिलषित स्टेशन्पर उसे पहुंचाती हो! भूतलके अभेदके पारमार्थिक होनेकी दुहाई देकर यात्रालु व्यक्तिके भेददृष्टि भरे व्यवहारका (कि उसका गन्तव्य स्टेशन् अन्य स्टेशनोंसे भिन्न है) बाध कभी संभव नहीं है!

एक ही स्टेशन्से अनेक गाड़ियां अनेक दिशाओंमें जाती हैं, जिनमें शुरुआतके स्टेशन् एक ही रहते हैं पर लाईन् बदलनेके साथ दिशायें बदलती जाती हैं और स्टेशनोंके सिलसिलें भी. हर लाईनका हर गाड़ीका हर यात्रीका अपना-अपना अलग गन्तव्य होता है. पर स्टेशन्के प्लॅटफॉर्म्पर खड़ा हुवा लक्ष्यबोधविहीन यात्रालु, चाहे जितने दिन खड़ा रहे और आती-जाती गाड़ियोंको विस्फारित नेत्रोंसे निहारता रहे, पर किसी एक गाड़ीमें सवार हुए बिना वह कहीं पहुंच नहीं पायेगा!

जो व्यक्ति प्लॅटफॉर्म्पर खड़े-खड़े केवल यही चिन्तन करता रहता है कि अन्ततः सभी गाड़ियां एकमात्र भूतलपर ही तो दौड़ती हैं, अतः इनके विभिन्न टर्मिनलोंके (अन्तिम स्टेशन्) रूपभेद; अथवा इन दौड़ती गाड़ियोंके अलग-अलग नामोंके भेद भी मिथ्या ही हैं, तो वह दिशाचयनकी तरह गाड़ीके चयनकी निष्ठा भी जुटा नहीं पाता और वहींके वहीं खड़ा रह जाता है! कहीं पहुंचना है तो विभिन्न गाड़ियोंमें से किसी एक गाड़ीको चुनना पड़ेगा. हमारा सहज विवेक ही हमें यह सिखलायेगा कि जहां हमें पहुंचना है वहीं जाती गाड़ीमें हमें सवार होना चाहिये; अन्य सारी गाड़ियोंकी चिन्ताको छोड़कर.

सभी साधकोंकी यात्रामें भिन्न-भिन्न दिशाओंमें दौड़ती भिन्न-भिन्न साधनाओंकी गाड़ीपर सवार होनेका प्लॅटफॉर्म् तो यही हमारा संसार है. इसी संसारके स्टेशनूसे कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग की पटरीपर दौड़नेवाली साधनाओंकी गाड़ीमें एकनिष्ठाके साथ सवार हो जाना नितान्त अनिवार्य बात है. फिर तो अपने अभीष्ट गन्तव्य आत्मानन्द ब्रह्मानन्द या भजनानन्द तक सरलतासे पहुंचा जा सकता है.

(योगत्रयी और प्रपत्ति के लक्ष्योंका तारतम्य)

यह तो स्पष्ट ही है कि अपनी सांसारिकता से आगे बढ़नेकी प्रक्रियामें प्रारम्भके कुछ उपायोंमें एकरूपता हो सकती है; और अन्तमें आत्मानन्द ब्रह्मानन्द अथवा भजनानन्द जो भी हों; हैं तो सभी एक ही सच्चिदानन्द ब्रह्म परमात्मा के विभिन्न रूप.

अतएव यह भी सच ही है कि विभिन्न मार्गोंपर चलकर हमें पहुंचना है, उसी एक परमतत्त्व तक ही. जैसे सभी नदियां भिन्न-भिन्न दिशाओंमें बहकर मिलती हैं एक ही सागरमें. परन्तु सभी नदियोंके एकमात्र गन्तव्य सागरकी एकताका बहुधा गलत अर्थ हम मान बैठते हैं. सागरमें एकता है परन्तु एकरूपता नहीं. बंगालकी खाड़ि अरबी समुद्र तथा हिन्दी महासागरके संगमपर तीन तरहकी रेतियां मिलती हैं. इन सागरोंकी गहराईयोंमें भी अन्तर है. इनमें बसते जलचर भी सदा एक जैसे नहीं होते. किन्हीं सागरोंमें तिमिंगल (व्हेल) मछली होती है तो किन्हींमें नहीं. सागरोंके भीतर बहती अन्तर्जलधाराओंके तापमानोंमें भी भेद रहता ही है. जानकार लोग ऐसा कहते हैं. इसी तरह उस परमतत्त्वके एक होनेपर भी अनेकरूप होनेके रहस्यको बौद्धिक धैर्यके साथ समझनेका प्रयास करना चाहिये. एक सागरके जैसे, उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वकी अनेकविध गहराईयोंके नाम-रूपघटित भेद हो सकते हैं, जिनमें हमारी अनेकविध साधनाओंकी नदियां पर्यवसित होती हैं.

वही एक तत्त्व अक्षरब्रह्मके रूपमें सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जित और देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न निराकार भी हो सकता है. वही एक तत्त्व सजातीय-विजातीय-स्वगत द्वैतोंका एकमात्र आधार बनकर सकल देश-काल-वस्तु-व्यापी सर्वाकार परमात्मा भी हो सकता है. वही एक तत्त्व क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तमाकारमें किसी भी देश काल या वस्तुमें प्रकट भी हो सकता है.

ज्ञानमार्गीय सरितामें हमारी बुद्धिके बहनेपर हम उस सागरके निराकार अक्षरब्रह्मकी खाड़ीमें पहुंच सकते हैं: "**ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवं संनियम्य इन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय: ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:**" (भग.गीता १२।३-४).

उपासनामार्गीय भक्तिकी सरितामें हमारी बुद्धिके बहनेपर हम उस सागरके सर्वाकार विराट् परमात्मारूप महासागरमें भी पहुंच सकते हैं "**त्वम् आदिदेव: पुरुष: पुराण: त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानं वेत्ता असि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वम् अनन्तरूपम् वायु: यमो अग्निर् वरुण: शशांक प्रजापति: त्वं प्रपितामहश्च... अनन्तवीर्यामितविक्रम: त्वं सर्वं समाप्नोषि ततो असि सर्व:**" (भग.गीता ११।३८-४०).

अपने इस सर्वाकार विराट्रूपकी पहचान भगवान्ने गीताके पंद्रहवे अध्यायमें 'उत्तमपुरुष' तथा 'परमात्मा' के रूपमें कराई है: "**द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरएव च, क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थ: अक्षर उच्यते उत्तम: पुरुषस्तु अन्यो परमात्मा इति उदाहृत:, यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्यय ईश्वर:**" (भग.गीता १५।१६-१७).

अक्षरोपासनाके ज्ञानमार्गीय प्रकारमें, अक्षरब्रह्मकी निराकारतामें चित्तकी

एकाग्रता सम्पादित करनेके लिये, प्रारम्भमें रूपकल्पना की जाती है. इस तरहके अक्षरोपासक निराकार अक्षरब्रह्मकी जिज्ञासावश कल्पित रूपकी कभी-कभी भक्ति करते हैं. यह भक्ति न तो स्नेहरूपा होती है और न ज्ञानरूपा ही. मुक्तिकामनासे की गई यह भक्ति गौणी भक्ति होती है. अतएव अक्षरब्रह्मकी निराकारताकी अपरोक्षानुभूति होते ही साधक भक्तिमयी वृत्तिको त्याग देता है. जिज्ञासुतावश कल्पित रूपके भजन करनेवाला साधक नित्ययुक्त एकान्तभक्ति करनेवाला नहीं हो पाता. अतः ऐसे भक्तकी तुलनामें नित्ययुक्त होकर एकान्तभक्ति करनेवाले अर्थात् साक्षात्कारके बाद भी भक्तिको न छोड़ देनेवाले साधकको भगवान् उत्तमकोटिका भक्त मानते हैं. उसे ही सच्चा 'ज्ञानी' भी मानते हैं "**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो अर्जुन आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिः विशिष्यते प्रियो हि ज्ञानिनो अत्यर्थम् अहं स च मम प्रियः उदारा सर्वएव एते ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्**" (भग.गीता ७।१७-१८).

अनेक आकारोंमें एक निराकार अक्षरब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति ज्ञानीको होती है. अनन्यभक्ति करनेवाले उपासकको उसी एक निराकार ब्रह्ममें अनेक आकारोंकी प्रत्यक्ष अनुभूति दिव्यदृष्टिसे होने लग जाती है.

जो तत्त्वतः सर्वाकार है वह प्रेमात्मिका भक्ति करनेवाले भक्तोंके भावोंके अनुरूप पुरुषोत्तमाकार बन जाये तो कोई अनहोनी बात नहीं हो जाती! अतएव प्रेमात्मिका भक्तिकी सरितामें हमारे हृदयके बहनेपर हम उस सागरके पुरुषोत्तमाकार श्रीकृष्ण भगवान्‌रूप समुद्रमें भी पहुंच सकते हैं.

अपने पुरुषोत्तमाकारको भगवान् दो तरहसे प्रकट करते हैं. जब वे किसी देशकालमें अपनी ओरसे कृपावश प्रकट होते हैं तो पुरुषोत्तमाकार सर्वलोकगम्य बन जाता है. परन्तु यदि किसी भक्तके भाववश होकर

वे किसी देशकालमें प्रकट होते हैं तो फिर केवल उसी भावुक भक्तको उनके पुरुषोत्तमाकारका साक्षात्कार होता है, अन्य किसीको नहीं. अर्जुनने विराट्दर्शनके बाद इसी पुरुषोत्तमाकारको पुनः प्रकट करनेकी प्रार्थना भगवान्से की थी "**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते**" (भग.गीता ११।४६). यह रूप भगवान्का भक्तहेतु परिगृहीत रूप होता है. इस रूपके भजनसे भक्तको जो भजनानन्द प्राप्त होता है, उसके बजाय संसारीको मिलते विषयानन्दकी, कर्मठ और आत्मज्ञानीको मिलते आत्मानन्दकी या ब्रह्मज्ञानीको मिलते ब्रह्मानन्दकी; कुल मिलाकर किसी भी तरहके आनन्द या मुक्तिकी कामना भक्तके हृदयमें कभी प्रकट हो नहीं पाती.

निष्काम-कर्ममार्ग आत्मयोग या आत्मज्ञानकी पहुंच आत्मानन्द तक ही होती है. इनसे साधक सांसारिक दुःखसे तो पूर्णतया निवृत्त हो जाता है किन्तु उसे सुख अपनी अंशरूपताके अनुरूप ब्रह्मानन्दके क्षुद्रांश आत्मानन्द जितना ही मिलता है.

विहित-भक्तिरूप उपासनामार्गका पर्यवसान सर्वाकार परमात्मामें सायुज्यलाभमें अर्थात् लीन हो जानेमें है. अथवा निज उपास्य रूपके साथ सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य या सारूप्य प्राप्त करनेमें होता है.

प्रेमात्मिका भक्तिका मार्ग कहीं पहुंचनेके लिये नहीं बनाया गया है. प्रेमभक्तिके मार्गपर तो निरन्तर टहलते रहनेमें ही सुख है. कहां पहुंचेंगे एसे सुरम्य मार्गको छोड़कर! जन्मानुजन्म इसी भक्तिके मार्गपर मस्तीभरे टहलनेमें ही भक्तको भजनानन्द मिलता है. भक्तिमार्गका लक्ष्य है भगवत्स्नेहके मार्गपर निरन्तर चहलकदमी करते रहनेका सौभाग्य!

भगवान्के भक्तिभावित अपने प्रियतम रूपके भजनमें ही भक्तको सब कुछ मिल जाता है. इसी भजनीय रूपका विवरण भगवान्ने

गीतामें इन शब्दोंमें दिया है **''यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''** (भग.गीता १५।१८).

इस तरह हमने देखा कि कैसे एक ही तत्त्वके अनेक रूप अनेक मार्गोंसे मृग्य बनते हैं. इनमें तात्त्विक अभेद होनेके बावजूद रूपगत भेद तो रहता ही है. अतएव विभिन्न मार्गोंमें व्यर्थ ही अभेद माननेकी कोई तुक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको दिखलाई नहीं देती है. साथ ही साथ किसी शास्त्रसिद्ध प्रामाणिक मार्गको जो सर्वथा निष्फल मान लेनेकी वृत्ति भी महाप्रभुको रुचती नहीं है. निष्ठापूर्वक अपनानेपर सभी मार्ग तत्तद् लक्ष्यों तक पहुंचानेमें समर्थ हैं. अतः इनके समुच्चयकी भी कोई आवश्यकता नहीं है.

(योगत्रयी और प्रपत्ति के बीच पारस्परिक गौणमुख्यभाव)

ज्ञान इच्छा और प्रयत्न रूप जो तीन वृत्तियोंकी बात प्रारंभमें कही गयी थी, उस विषयमें यह अवधेय है कि ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग या कर्ममार्ग में से यथायथ एकके प्रमुख बननेपर अन्य दो अवशिष्ट वृत्तियां गौण बन जाती हैं. उदाहरणतया हमारे भीतर अनेक आन्तर एवं बाह्य वृत्तियां हैं. जैसे देखने-सुनने चखने-सूंघने और छूनेकी ज्ञानकी बाह्य वृत्तियां होती हैं. इसी तरह चलने पकड़ने बोलने मलादि-विसर्जनकी क्रियाओंकी भी बाह्य वृत्तियां होती हैं. तर्क स्मृति इच्छा स्वप्न निद्रा आदिकी आन्तर वृत्तियां भी रहती हैं. प्रायः ये सभी वृत्तियां निरन्तर कार्यरत रहती ही हैं. फिर भी इनमेंसे जिस वृत्तिमें हमारा मनोयोग होता हो उसी वृत्तिका भान हमें होता है.

जैसे लेखनकार्यको करते समय बाहर मार्गपर दौड़ते वाहनोंकी ध्वनि भी स्वतएव सुनाई देती है, परन्तु मुझसे कोई प्रश्न करे कि क्या कर रहे हो तो मैं यही कहूंगा कि लेख लिख रहा हूं.

मैं सामान्यतया यह कहना पसंद नहीं करूंगा कि मैं मार्गपर दौड़ते वाहनोंकी ध्वनि सुन रहा हूं. क्योंकि इस श्रवणवृत्तिके साथ मेरा मनोयोग नहीं है.

इसी तरह ज्ञानमार्गीय साधककी तत्परता अक्षरब्रह्मको जाननेकी वृत्तिसे जुड़ी रहती है. वह ब्रह्मको एक ज्ञेय रूपमें चाह सकता है, परन्तु प्रेयस्के रूपमें जान नहीं पाता. यह बात नहीं कि ब्रह्मज्ञानार्थ वह किसी तरहके कर्म न करता हो. परन्तु जब भी जिज्ञासुसे पूछा जाये कि वह क्या कर रहा है तो कहेगा वह यही कि उसे जानना चाहता है.

इसी तरह भक्तिमार्गीय साधक भगवान्को चाहता है, अर्थात् भगवान्के साथ स्नेह करता है. इसका अर्थ यह नहीं कि वह भगवान्को जानता नहीं. भक्त भगवान्को केवल ज्ञेयके रूपमें न भी चाहता हो किन्तु अपने प्रियतमके रूपमें उसे जानता अवश्य है! भक्तसे कोई पूछे कि वह क्या कर रहा है तो वह यह नहीं कहेगा कि उसे जानना चाहता है. वह तो यही कहेगा कि वह उसे खूब भजना/पाना चाहता है.

एक वृत्तिके प्रमुख बननेपर अन्य सभी वृत्तियां स्वतएव गौण बन जाती है. चलनेवालेको दिखलाई देता ही है पर वह कहेगा तो यही कि वह चल रहा है. देखनेवाला चल ही रहा हो पर कहेगा तो यही कि वह देख रहा है. इसी तरह ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग और कर्ममार्गके रहस्यको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये.

(योगत्रयी और उसकी तुलनामें प्रपत्तिकी सर्वगुह्यतमता)

उस परमतत्त्वको खोजना हो तो ये तीन मार्ग हैं; और तीन मार्गोंके अनुरूप परमेश्वरके तीन मृग्य रूप भी हैं. चलनेवालोंके लिये

तीन मार्ग हैं और तदनुरूप तीन गन्तव्य भी. एक 'सर्वगुह्यतम' रहस्य, परन्तु, भगवान्ने गीताके अन्तमें यों भी समझाया है:

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामैवेष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।
(भग.गीता १८।६४-६६)

इस उपदेशमें कौनसा अंश अनुपदिष्ट अवर्णित या अश्रावितपूर्ण गुह्यतम है —यह विचारना चाहिये.

भगवान्में मन जोड़ना भगवद्भक्ति करना भगवद्भजन करना या भगवान्को नमन करना ये सारी बातें पहले भी किसी न किसी रूपमें, ज्ञान भक्ति या कर्मके रूपमें उपदिष्ट हुई ही हैं. ज्ञानसे भक्तिसे निष्काम कर्मसे अथवा प्रपत्तिसे पापोंकी निवृत्ति होती है यह भी पहले कहा ही जा चुका है. जो बात यहां नवीन कही गई है कि जिसे 'सर्वगुह्यतम उपदेश' कहा जा सके, ऐसा अंश यहां— ''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' वाला अंश ही है. इससे पहले सभी अध्यायोंमें भगवान् कर्म भक्ति ज्ञान एवं प्रपत्तिरूप धर्म तथा इनके अंगभूत उपायोंका ही निरूपण करते आ रहे थे. यहां आकर अब पहली बार भगवान् अर्जुनको यह समझा रहे हैं कि उसे चाहे कर्मयोगी बनना हो भक्तियोगी बनना हो ज्ञानयोगी बनना हो या शरणागत बनना हो या युद्ध से विमुख होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है.

युद्धजन्य हिंसादिरूप पापोंसे मुक्ति दिलानेमें कर्मयोग भक्तियोग या ज्ञानयोग तीनों ही सक्षम हैं. ऐसी स्थितिमें कर्मयोग भक्तियोग या ज्ञानयोगमें से किस उपायको अपनाना यह अर्जुन निश्चित नहीं कर पाया था. निष्कर्षरूपेण इस चरमोपदेशमें भगवान्ने उन सभी पूर्वोक्त धर्मोंकी चिन्ता छोड़कर अनन्यभावसे अपनी शरणमें आनेकी बात कह दी.

शरणागत जीवको किस मार्गपर चलना चाहिये, पापोंसे उसे कैसे छुटकारा मिल सकता है, उसे कहां जाना चाहिये और कहां नहीं आदि सभी चिन्ता शरणागत जीव करता नहीं किन्तु स्वयमेव भगवान् ही करते है!

प्रपत्तिमार्ग जीवात्माके चलनेके लिये नहीं प्रत्युत परमात्माके चलनेके लिये है. प्रपत्तिमार्गपर चल कर जीवात्मा परमात्माको खोजने नहीं जाती, प्रत्युत वह तो अनन्यभावसे भगवच्चरणारविंदोपर अटल विश्वास और धीरजके साथ अनन्याश्रय और धैर्यके साथ केवल बैठ जाती है. ऐसी जीवात्माकी निष्कपट प्रपत्तिको जानकर स्वयम् परमात्मा उसे खोजते हुअे उसके पास पहुंच जाते है.

(योगत्रयी और प्रपत्ति की विभिन्न इति कर्तव्यतायें)

ज्ञानरूप धर्माचरणके बिना ज्ञानमार्गीय रूप अक्षरब्रह्म अभयदान नहीं करता. निष्काम-कर्मरूप धर्माचरणके बिना कर्ममार्गीयरूप आत्मानन्द भी अभयदान नहीं करता. उपासनारूप धर्माचरणके बिना विहित-भक्तिरूप-उपासनारूप परमात्माके अनेकविध उपास्यरूप भी अभयदान नहीं करते. भक्तिरूप धर्माचरणके बिना भक्तिमार्गीयरूप पुरुषोत्तमाकार भगवान् भी अभयदान नहीं करते. इसी तरह अनन्य शरणागतिके बिना प्रपत्तिमार्गीयरूप अन्तर्यामी-सारथिरूप भगवान् भी अभयदान नहीं करते. फिर भी कर्म-ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावोंमें जो परस्पर अन्तर है वह

यही है कि उन मार्गोमें निरहंकारिता सहित ही सहीपर कुछ न कुछ साधननिष्ठाका भाव रहता ही है. शरणागतिमें साधननिष्ठाके स्थानपर विवेक धैर्य अनन्यभावके साथ केवल परमात्मापर ही निष्ठा रखी जाती है.

सर्वधर्मोके परित्यागपूर्वक एकमात्र भगवान्की शरणमें जानेकी रीति ही **''मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु''** वचनमें भगवान्ने समझाई है. ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नोंको दैन्यके साथ अनन्यभावसे भगवद् अभिमुख बनानेकी बात ही क्रमशः (१) मन्मना (२) मद्भक्त (३) मद्याजी (४) मां नमस्कुरु द्वारा समझाई गई है.

इस तरह हम देख सकते हैं कि प्रपत्तिमें कर्म ज्ञान और भक्तिकी तीनों मूल वृत्तियां सूक्ष्मरूपसे समाविष्ट हो जाती है. फिर भी निष्ठा शरणागत जीवको उसके कर्म ज्ञान या भक्तिरूप साधनोंपर न रखकर एकमात्र भगवान्पर ही रखनी होती है. साधनोंके सांगोपांग अनुष्ठानके बजाय मनोयोग दृढ़तया केवल भगवान्के शरणागतवत्सल स्वरूपके साथ ही जोड़ना होता है.

पूर्वोक्त तीन मार्गोपर जो चल पानेके लिये जो समर्थ हैं अथवा जो समर्थ नहीं है उन्हें उन तीन मार्गोपर चलते-चलते अथवा किसी मार्गपर चले बिना भी संसारमें ही, अनन्यभावके साथ भगवच्चरणोंके ध्यानमें मग्न होकर बैठना भर आ जाये तो, ऐसी शरणागत जीवात्माके पास चलकर स्वयं वो परमात्मा पहुंच जाता है.

आनन्द विभिन्न मार्गोपर दौड़-दौड़कर आत्मानन्द ब्रह्मानन्द या भजनानन्द के रूपमें छिपे हुवे उसे खोजनेमें मिलता है. इन मार्गोपर वह छिप जाता है और दाव हमपर है. परन्तु अक्सर आंखमिंचौनीके खेलमें चतुर बच्चे किसी ऐसी जगहपर छिपते हैं जहां खोजना किसी

भोले बालकके लिये सुकर नहीं होता. और देखा जाता है कि ऐसे बालक जब खोज नहीं पाते तो दावके स्थलके ही पास आकर खड़े हो जाते हैं. छिपे हुवे बालकको भी छिपनेमें तभी तक आनन्द आता है जब तक कोई खोज रहा हो. खोज बंद होते ही उसे बाहर निकलकर दौड़ादौड़ शुरु करनी पड़ती है. प्रपत्तिमार्गका मतलब है वह धीरज कि "तुम कब तक छिपे रहोगे? लो मैं तो बैठ गया — कभी तो तुम निकलकर बाहर आओगे ही न!"

ऐसी प्रतीक्षामें निरत होकर जब जीवात्मा बैठ जाती है तो उसे भी चिन्ता हो आती है कि खेल कहीं ठप्प न हो जाये! और तब खोजनेका दाव हमपर ही सही, फिर भी वही हमें खोजने लगता है!! इससे सावधानी यही अपेक्षित है कि हमें चौकन्ने होकर बैठना चाहिये, केवल उसीके ध्यानमें मग्न होकर!!!

अनन्य भगवन्निष्ठा यह प्रपत्तिमार्गकी प्रथम एवं चरम शर्त है. प्रपत्तिका अधिकार सभीका है. संसारमें अनुरक्तका भी और संसारसे विरक्तका भी. भगवद्भक्तका भी और ब्रह्मज्ञानीका भी. स्वकर्मनिष्ठका भी और स्वकर्मभ्रष्टका भी.

(कर्म ज्ञान भक्ति और प्रपत्ति की योगरूपता)

कर्म ज्ञान योग अथवा वैराग्य केवल आत्मबोधपर अवलंबित हो सकते हैं और परमात्मबोधपर भी. परन्तु भक्ति और प्रपत्तिके लिये परमात्मा एक अनिवार्यता है. आत्मबोधपर अवलंबित कर्म जब परमात्मबोधसे समृद्ध बन जाता है तो उसे 'कर्मयोग' कहते हैं. केवल स्वकर्मकी बुद्धिसे कर्मानुष्ठान न करनेकी बजाय जब निष्काम-निरहंकार बनकर ईश्वरार्पणकी भावनाके साथ कर्मानुष्ठान संपन्न किया जाता है, तो वह कर्मयोग बन जाता है.

संसारसे विरक्त केवल आत्मज्ञानीका ज्ञान जब ब्रह्मबोधसे समृद्ध बन जाता है, तो उसे 'ज्ञानयोग' कहते हैं. केवल वैराग्यमूलक निजात्माके बोधमें निजसे भिन्न अन्य सभी वस्तु या व्यक्तिमें मायिकता-मिथ्यात्व-हेयताकी द्वैतबुद्धि शांत नहीं हो पाती. साधक "अहं ब्रह्मास्मि"की भावनामें तो आनन्द ले पाता है, परन्तु "तत्त्वमसि" या "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं"में रम नहीं पाता! वह अशांत अधीर होकर "बाधार्थसामानाधिकरण्य"के तर्क खोज निकालता है! ब्रह्मबोधसे आत्मज्ञानको समृद्ध बनानेपर "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" और "तज्जलानिति शांत उपासीत" वाली ज्ञानयोगकी परमशांति मिल जाती है.

अतएव गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिमें भगवान्‌ने एक महत्त्वपूर्ण खुलासा दिया है—

तपस्विभ्यो अधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतो अधिकः।
कर्मिभ्यश्च अधिको योगी तस्माद् योगी भव अर्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेन अन्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

(भग.गीता.६।४६-४७)

देह और उससे सम्बन्धित पदार्थोंमें प्रेमास्पदता स्वयंगत नहीं होती. आत्मागत प्रेमास्पदता ही देहादिमें संक्रान्त होती है. जैसे अग्निकी उष्णता उसपे रखे हुवे पात्र और तद्द्वारा पात्रस्थित दुग्धमें संक्रान्त हो जाती है. इसी तरह आत्माके प्रिय होनेके कारण देह प्रिय लगने लगता है— देहके प्रिय लगनेके कारण देहसे सम्बन्धित पदार्थ भी प्रिय लगने लग जाते हैं. परन्तु यह प्रेमास्पदता आत्मामें स्वयंसिद्ध होती तो काहेको कोई मनुष्य अपनी आत्माको परमात्मालीन करना चाहता ?

आत्मामें प्रियता आती है परमात्माके कारण! आत्मा यदि प्रिय है तो सभी आत्मवान् प्राणियोंके लिये परमात्मा परमप्रिय होता है. गुरुके गुरुको जैसे ‘परमगुरु’ कहा जाता है ऐसे ही आत्माकी भी आत्मा होनेके कारण उसे ‘परमात्मा’ कहा जाता है. उसकी इस महत्ताको स्वीकारना ‘परमात्मबोध’ कहलाता है. इसे ही ‘माहात्म्यज्ञान’ भी कहा जाता है.

(योगत्रयी और प्रपत्ति का निष्कृष्ट स्वरूप)

निष्कर्षरूपेण सरलीकरणार्थ हम यों समझ सकते हैं:

(१) माहात्म्यज्ञान + स्वकर्म = कर्मयोग

(२) माहात्म्यज्ञान + आत्मज्ञान = ज्ञानयोग

(३) माहात्म्यज्ञान + उपास्यरूपमें सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह = भक्तियोग

कर्मयोग ज्ञानयोग एवं भक्तियोगमें जो यह माहात्म्यज्ञानकी प्राथमिकता है उसके कारण प्रपत्ति इन कर्मयोग ज्ञानयोग या भक्तियोग की पूर्वांग भी मानी जाती है. कर्म ज्ञान एवं भक्तिरूप उपायोंमें पूर्णनिष्ठाके अभावमें केवल माहात्म्यज्ञानमूलक परमात्मनिष्ठाके सुदृढ होनेपर प्रपत्तिमार्ग स्वतन्त्रतया भी सर्वफलसाधक बन सकता है.

कुछ लोग प्रपत्तिमें रहे निःसाधनताके भावकी निन्दा करते हैं. इसपर पलायनवादिता निराशा निकम्मेपन और आलस्य की मनोवृत्तिका दोषारोपण करते हैं. वास्तविकता इस विषयमें यह है कि ऐसे अर्धनास्तिक आलोचक या तो परमात्माके माहात्म्यको पूर्णतासे स्वीकारनेमें हिचकिचाते हैं; अथवा अज्ञानमूलक प्रपत्ति और माहात्म्यज्ञानमूलक प्रपत्ति के अन्तरको समझ नहीं पाते.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने अतएव अपने विवेकधैर्याश्रय नामक ग्रन्थमें विवेक धैर्य एवं अनन्याश्रयका वास्तविक स्वरूप समझाया है:

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति॥
प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च॥

....

त्रिदुःखसहनं धैर्यम् आमृतेः सर्वतः सदा।

....

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः॥

....

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्॥
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च।
प्रार्थना कार्यमात्रेपि ततोन्यत्र विवर्जयेत्॥
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः॥

....

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः॥

इन कारिकाओंमें माहात्म्यज्ञानमूलक अर्थात् विवेक और धैर्य से परिपुष्ट भगवदाश्रयका एक विलक्षण स्वरूप समझाया गया है. इस तरहके अनन्याश्रय-प्रपत्तिको कर्म-ज्ञान-भक्तिमार्गके अनुकल्पके रूपमें स्वीकारा गया है.

धर्मके आवश्यक अंग देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मंत्र-कर्ममें कलियुगके कारण जो विषमता पैदा हुई हैं, फलस्वरूप शास्त्रीय कर्मोका यथोक्त

अनुष्ठान अशक्य बन गया है. अतः कर्ममार्ग असाध्य बन गया है.

पुत्रेषणा वित्तेषणा तथा लोकेषणा छोड़कर विरक्त साधक शिष्येषणाके रूपमें उन तीनों एषणाओंको त्रिगुणित बना देते हैं. फलतः वास्तविक वैराग्यके अभावमें ज्ञानमार्ग भी बहुत दुःसाध्य बन गया है.

परमात्माके भजनीय स्वरूपकी निष्काम अहंकाररहित तथा आत्मसमर्पणसहित सुदृढ सर्वतोधिक अविचल भक्तिके अभावमें भक्तिमार्ग भी दुःसाध्य हो गया है. अतएव इन सभी मार्गोंके अनुकल्पके रूपमें महाप्रभु आज्ञा करते हैं **''एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितं कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः''.**

(प्रपत्ति योगत्रयी का अनुकल्प भी और विकल्प भी)

यहां प्रपत्तिमार्गका स्वातन्त्र्य भी महाप्रभु दिखला रहे हैं. कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग के अन्तर्गत माहात्म्यज्ञानवाले अंशके कारण जैसे प्रपत्ति कर्म ज्ञान एवं भक्तिका अंग बन गई थी, वह प्रपत्ति परमात्माके वास्तविक माहात्म्यके बोधपर अवलंबित होनेपर, विवेक-धैर्य एवं अनन्याश्रय रूप अंगोंके साथ एक सर्वांगपूर्ण पृथक्‌शरणमार्ग होनेकी गरिमाका भी वहन करती है अतएव अपने कृष्णाश्रय नामक ग्रन्थमें महाप्रभुने सुस्पष्ट शब्दोंमें यह स्वीकारा है :

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाषंडप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम।।

अतएव वाल्लभ सम्प्रदायमें सर्वप्रथम अष्टाक्षरघटित शरणमंत्रद्वारा प्रपत्तिमार्गमें दीक्षित किया जाता है. इस शरणागतिके भावको सुदृढ बनानेके हेतु उल्लिखित विवेक धैर्य एवं अनन्याश्रयका उपदेश कर्तव्य

होता है. इस तरह शरणागत जीवमें यदि परमात्माके एक विशिष्ट स्वरूपके निश्छल एवं पूर्ण स्नेहके सहित समर्पित होनेका भाव उद्बुद्ध हो पाये तो उसे आत्मनिवेदनकी दीक्षा ब्रह्मसंबंधद्वारा भक्तियोगके लिये दीक्षित करनेकी रीति थी. यों शरणमंत्रकी दीक्षा माहात्म्यज्ञानजननार्थ दी जाती है. और आत्मनिवेदनकी दीक्षा सुदृढ सर्वतोधिक भगवद्रतिके कारण अथवा सुदृढ सर्वतोधिक रतिके जननार्थ दी जाती है.

शरणागतिकी दीक्षा हमारे भीतर भरे हुवे भ्रान्त अहंकारका शुद्धिसंस्कार है, उसे परमात्माके माहात्म्यके समक्ष झुकानेके रूपमें. यहां हमारे अहंको तोड़ा नहीं जाता किन्तु परमात्माके माहात्म्यज्ञानके साथ दासोऽहम्के रूपमें जोड़ना आवश्यक माना गया है. आत्मनिवेदनकी दीक्षा हमारे भीतर भरी बहुमुखी ममताका शुद्धिसंस्कार है. ममताको भी तोड़नेकी आवश्यकता नहीं है प्रत्युत परमात्माकी ओर मोड़नेकी आवश्यकता है. ममतास्पद पदार्थोंके त्यागकी भक्तिमार्गमें उतनी महत्ता नहीं है, जितनी कि उन पदार्थोंके भगवद्भजनमें विनियोगकी महत्ता है.

(उपसंहार)

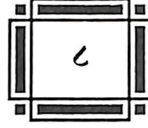
परमात्मकेन्द्रित अहंताममताका निर्माण पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति एवं भक्ति का परमप्रयोजन है. परन्तु प्रारम्भ तो अहंताका संस्कार शरणागतिद्वारा ही करना होगा :

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः अन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युः पुष्टिस्तुष्टिः क्षुदपायोनुघासम्॥
(भाग.पुरा. ११।२।४२).

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



योगके विविध रूप वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार

औपक्रमिक प्रमाणप्रमेयसम्बन्धी प्राग्धारणा :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य (वि.सं.१५३५ = ई.स.१४७८-वि.सं.१५८७ = ई.स. १५३०) का चिन्तन उत्प्रेक्षामूलक न हो कर शास्त्रव्याख्यानरूप है. अतएव वाल्लभ वेदान्तके अनुसार व्यवहारमें श्रुति प्रत्यक्ष अनुमान और ऐतिह्य रूपी[१] शास्त्रनिर्दिष्ट चार प्रमाणोंको ग्राह्य माना गया होनेपर भी वेदान्त-सम्बन्धी अवधारणाओंके प्रमाणतया, अन्य सभी वेदान्तके प्रस्थानोंसे, पृथक् मानदण्ड महाप्रभुने मान्य किये हैं. इस विषयमें वाल्लभ वेदान्त तलचतुष्टयवाली प्रामाण्यव्यवस्था प्रस्तुत करना चाहता है.

यथा :

(क)

१.ब्रह्म और तत्सम्बन्धी अन्यान्य पदार्थोंके शास्त्रीय बोधसे पूर्व शास्त्रीय उपदेश या विविदिषा के कालमें अवलम्बनीय अर्थात् शास्त्रतात्पर्यजिज्ञासाकालीन या शास्त्रोपदेशकालीन प्राथमिक प्रामाण्यतलीय प्रमाणव्यवस्था.

२.ब्रह्म और तत्सम्बन्धी विभिन्न पदार्थों के शास्त्राभिप्रेत स्वरूपके शाब्दबोध हो जानेपर श्रुत्यादि शास्त्रोंको प्रमाण माननेवालोंके साथ चर्चाकालमें अवलम्बनीय अर्थात्

तात्पर्यबोधोत्तरकालीन द्वितीय तलीय प्रामाण्यव्यवस्था.

३.ब्रह्मके साक्षात्कार हो जानेपर अर्थात् ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिसे अवलम्बनीय अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कारोत्तरकालीन तृतीय तलीय प्रामाण्यव्यवस्था.

४.भगवदवतारकालीन चतुर्थ तलीय प्रमाणव्यवस्था.

इनमें प्रथमतलीय व्यवस्थाके बारेमें महाप्रभु कहते हैं श्रुति गीता ब्रह्मसूत्र और भागवत के एकवाक्यतापन्न वचन ही प्रमाण होते हैं. क्योंकि श्रुतिवचनके आधारपर जो बात स्पष्ट नहीं हो पाती वह गीताके विमर्श करनेपर, इसी तरह उसमें भी जो बात स्पष्ट नहीं हो पाती वह ब्रह्मसूत्रोंके अवगाहन करनेपर, एवं ब्रह्मसूत्रोंसे भी जो बात स्पष्ट नहीं हो पाती वह भागवतके अवगाहन करनेपर सुस्पष्ट हो जाती होनेसे इन चारों ग्रन्थोंके एकवाक्यतापन्न वचन ही प्रमाण होते हैं.[२] इस तलपर इन एकवाक्यतापन्न वचनोंसे विपरीत अर्थका प्रतिपादक कोई भी प्रमाण या वचन जैसे विरुद्ध होनेके कारण अप्रमाण माना गया वैसे ही इनके द्वारा प्रतिपादित अर्थको ही दोहरानेवाला प्रमाण या वचन अनधिगतार्थका ज्ञापक न होनेके कारण अप्रमाण मान लिया गया है. यद्यपि किसीभी ग्रन्थमें ऐसा कण्ठोक्त विधान उपलब्ध होता नहीं. फिरभी अर्थापत्तिके बलपर यह भी सहज ही कहा जा सकता है कि इस प्रथम तलपर इन चारों ग्रन्थोंमें भी, कोई एक ऐसा वचन जो शेष तीनोंके वचनोंके साथ एकवाक्यतापन्न न हो पाता हो, उसे भी इस तलपर अप्रमाण माना जा सकता है. लक्ष्यमें रहे कि यह अप्रमाण होनेकी कथा शास्त्रतात्पर्यनिर्धारणकी सुकरताके हेतु तत्कालमात्रार्थ सीमित है.

द्वितीय तलपर महाप्रभु यह स्पष्टीकरण देते हैं कि एक ही ब्रह्म, क्योंकि, परस्पर विरोधाभासी अनेक नाम-रूप-कर्मोंको धारण कर सृष्टिके रूपमें प्रकट हुवा होनेसे परस्पर अनेक विरुद्ध धर्मोंका

आश्रय (coincidentia oppositarum) बन गया है. अतएव अनेकविध शास्त्रोंके अनेकविध वचनोंके द्वारा उस अलौकिक प्रमेयरूप ब्रह्मके परस्पर विरोधाभासी निरूपण ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयताके प्रमाण होते हैं, विरोधाभासके कारण अप्रमाण नहीं. क्योंकि तर्कबुद्ध्या परस्पर दो विरुद्धतया भासित होती बातें भी ब्रह्मके सन्दर्भमें प्रामाणिक हो सकती हैं.[३]

तृतीय तलपर तो शास्त्रीय वचनोंकी बात तो दूर कोई भी वचन, कितना भी असंगत या अर्थहीन क्यों न प्रतीत होता हो, वह ब्रह्मकी एकमेवाद्वितीयता और विरुद्धसर्वधर्माश्रयताके कारण अप्रमाण हो ही नहीं सकता.[४]

चतुर्थ तलपर काल कर्म स्वभाव प्रकृति या पुरुष से संघटित और नियन्त्रित होते ब्रह्माण्डमें अपनी अचिन्त्य अपरिमेय योगमायाके माध्यमद्वारा भगवान् लीला करते होनेसे सृष्टिके अनुल्लंघ्य नियमोंका यथेच्छ उल्लंघन भी कर सकते हैं.

इस चार तलोंवाली प्रामाण्यव्यस्थाका भलीभांति बोध महाप्रभुके चिन्तनके गूढ रहस्योंको सुबोध बनानेकी कुंजी है.

क्योंकि स्वाभाविक रूपमें चाहे कोई, लौकिक या अलौकिक — वस्तु या क्रिया, हो उसके लौकिक प्रमाणोंसे अवगत होते स्वरूप लोकव्यवहारमें प्रामाणिकतया अभिमत होनेपर भी, शास्त्रप्रमाणसे अवगत होते उसके अन्यविध स्वरूपके बारेमें अन्यथाबोध या बाधकज्ञान नहीं प्रकट कर पाते. इसी तरह उस वस्तुके साथ अभिप्रेत शास्त्रीय व्यवहारमें भी लोकावगत स्वरूप विरोधाभास प्रकट नहीं कर पाते. यह तो सत्य है शास्त्रीय वचनोंद्वारा प्रतिपादित स्वरूपके केवल शाब्दबोध होनेपर प्रत्यक्षानुभूतिमें लौकिक प्रमाणोंसे अवगत स्वरूप तुरत ही बाधित नहीं हो जाते. क्योंकि शास्त्रोक्त स्वरूप तो शास्त्रोपदिष्ट कर्म ज्ञान उपासना

भक्ति योग तप वैराग्य आदि साधनोंके अनुष्ठानोंके सफल होनेपर ही अनुभूतिगोचर होनेवाले माने जाते हैं.

ये शास्त्रोपदिष्ट साधनायें लोकावगत लौकिक या अलौकिक वस्तुओंके स्वरूपको बाधित किये बिना ही उनमें निगूढ स्वरूपका साक्षात्कार प्रदान करती हैं. जैसे श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनको जब दिव्यदृष्टि प्रदान की तो अर्जुनकी स्वयंकी दृष्टिसे गोचर श्रीकृष्णका मानुष स्वरूप, रज्जुपर भासित होते सर्पकी तरह, बाधित न हो कर उसी मानुष स्वरूपमें निगूढ़ विराट् स्वरूप भी दृष्टिगोचर होने लगा था. उदाहरणतया सूक्ष्म वस्तुमें दिखलायी न देनेवाली उसकी जटिल संरचनाको, मायक्रोस्कोप्, वस्तुकी सूक्ष्मताको स्थूलताके बाधद्वारा नहीं प्रत्युत उसमें निगूढ़ उसके जटिल संरचनात्मक सूक्ष्म स्वरूपको स्थूलतया दरसाने लगता है. अथवा शरीरपर अवस्थित चर्मावरणके कारण दिखलायी न देनेवाले अस्थिरूपको, जैसे एक्सरेद्वारा लिया गया चित्र, चर्मावरणके भासको बाधित किये बिना उसके भीतर निगूढ़ अस्थिपंजरको दरसाने लगता है. तद्वत्.

(ख)

दूसरी बात जो परम प्रमेयके बारेमें है वह यह कि महाप्रभुके मतके अनुसार श्रुति आदि शास्त्रोंमें प्रतिपादित होता अद्वैत — द्वैतका अत्यन्ताभावरूप न हो कर — भावात्मक अद्वैत है. यदि 'क' को सदेकरस अनादि-अविनाशी ब्रह्म मानें और 'ख' 'ग' 'घ' आदिको उत्पत्ति-नाशशील नाम-रूप-कर्म आदिका द्वैत मान कर चलें तो महाप्रभुके मतमें अभिप्रेत समीकरण "क = (-ख, -ग, -घ, -...)" रूपमें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता. वाल्लभ वेदान्तको अभिमत अद्वैतका स्वरूप तो "क = (ख , ग , घ ,...)" रूपेण ही प्रस्तुतियोग्य है. यह छान्दोग्योपनिषद्के **"ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है! असत्से सत् कैसे पैदा हो सकता है? अतः उत्पत्तिनाशशीलतया दिखलायी देता यह समग्र द्वैतप्रपञ्च पहले सत् ही था. एकमेव और द्वितीयरहित. उसने अनेक होनेकी**

ठानी और वह अनेक बन गया''[५] यों छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार उत्पत्तिनाशवान् तत्त्वोंका निगूढ़ रूप सदेकरस ब्रह्म ही सिद्ध होता है. अतएव इस सन्दर्भमें बृहदारण्यकोपनिषद्की भी दो बातें विशेषतया उल्लेखनीय हैं. वहां यह कहा गया है कि ''यह परिदृश्यमान जगत् **पहले अव्याकृत था. इसे नाम-रूपद्वारा व्याकृत किया गया.''**[६] **''नाम रूप और कर्म की त्रयी होती है. इस त्रयीका भरण ब्रह्म करता है. ब्रह्म एक होनेपर भी त्रितयात्मक होता है. नाम-रूप-कर्मोंकी त्रयी तीन होनेपर भी ब्रह्मतया एक बन जाती है''** [७].

इस भावात्मक अद्वैतवादी चिन्तनके परिप्रेक्ष्यमें शास्त्रोपदिष्ट विभिन्न साधना, नामशः, कर्म ज्ञान उपासना भक्ति योग वैराग्य तप से जुड़ी प्रमाण-प्रमेयव्यवस्थाके अवलोकन कर लेनेपर साधन-फलव्यवस्थाके विमर्शार्थ अग्रसर हुवा जा सकता है.

उक्त प्रमाणप्रमेयव्यवस्थापर अवलम्बित साधनफलसम्बन्धी धारणा :

जैसे कि सर्वप्रथम कर्मके बारेमें सोचें तो कर्म स्वयं क्षयिष्णु होनेके कारण कर्मोंसे मिलते फलको भी प्रायः क्षयिष्णु मान लेनेकी वैचारिक धांधल अनेक चिन्तनोंमें प्रकट हुयी है. जबकि पूर्वोदाहृत श्रुतिवचनमें दरसायी गयी वास्तविकता तो यही है कि कर्मका क्षयिष्णु होना तो केवल उसका एक लोकानुभूत रूप है. निगूढ़ स्वरूप तो कर्मका भी ब्राह्मिक सदेकरस होना ही है.[८] अतः क्षयिष्णु होनेके आरोपद्वारा कर्म या उसके फल को मिथ्या मानना वाल्लभ वेदान्तमें सुसंगत नहीं होता. वह कर्म स्वयं क्षयिष्णु होनेके कारण कभी क्षयिष्णु फल तो कभी अक्षयिष्णु फल भी कर्मफलदाताके संकल्पविधानके अनुसार प्रदान करता है ऐसा शास्त्रमें निरूपित हुवा है.[९]

इसी तरह ज्ञानमार्गीय साधनामें ज्ञेय बनते उस परम तत्त्वका देश-काल-वस्तुके परिच्छेदोंसे रहित होना एक इतरव्यावर्तक असाधारण स्वरूप प्रायः माना जाता है. परन्तु लौकिक अनुभूतिमें जिस अनुभूयमान

विषयको हम देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे ऐकान्तिकतया ग्रस्त मानते हैं, वे सारेके सारे नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत उसमें निगूढ़ सदेकरस ब्रह्मके तादात्म्यसे वंचित नहीं होते. अतएव श्रीकृष्णके मानुष रूपके बाध किये बिना श्रीकृष्णके विराट् भी होनेकी उभयविधताकी तरह ही प्रत्येक विषय अपनी उभयविधताकी वास्तविकता ब्रह्मज्ञानीके समक्ष ही प्रकट करता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं **''भ्रमात्मक ज्ञानके उदाहरणमें भी केवल हमारी समझ ही मायिक या मिथ्या होती है. अन्यथा भ्रमात्मक ज्ञानके विषय तो स्वयं भगवान् ही होते हैं'', ''अणुपरिमाण भी ब्रह्म सर्वत्र व्यापक हो सकता है. श्रीकृष्ण अपनी माता यशोदाकी गोदमें लेटा हुवा रहनेपर भी सकल ब्रह्माण्डका आधार बन सकता है''**[१०] अतएव ज्ञानमार्गीय साधनाके परिपक्व होनेपर सर्वत्र प्रकट होती ब्रह्मानुभूति वाल्लभ वेदान्तमें सर्वबाधपूर्वक नहीं अपितु सर्व लौकिक वस्तुविषयोंके भीतर अन्तर्यामितया अवस्थित परमात्माका अनुदर्शन होता है.[११]

कर्म तथा ज्ञान की साधनाओंके बारेमें इस स्पष्टीकरणको भलीभांति बुद्धिगत कर लेनेपर उपासना भक्ति अथवा योग की साधनाओंके प्रकारमें भी क्या कल्पित रूप फलप्रद होता है या वास्तविक रूप इस दुविधाका तोड़ सरलतया हस्तगत हो जाता है. क्योंकि भक्तिकी साधनामें अनन्तनामरूपकर्मा ब्रह्मके किसी रूप-नाम-कर्मविशेषमें विशेषासक्तिरूप जो भक्तिभाव साग्रह रूढ़ होता है, वह भजनीयके वास्तविक स्वरूपकी अयथार्थ स्वीकृति है या यथार्थ स्वीकृति? इसी तरह योगसाधनामें भी यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहारद्वारा निर्मल बने चित्तमें एकाग्रताकी उपलब्धिके हेतु जो ध्यान-धारणागंतया ध्येयरूपकी कल्पना की जाती है, वह चित्तको केवल एकाग्र बनानेके हेतु क्या मनमें ध्येय या धारणीय रूपकी व्यावहारिक उपयोगिता (Utilitarian Value) होती है या वस्तुतः लोकोत्तर आध्यात्मिक या आधिदैविक (Transcendental Truth-corresponding Value) तथ्य? ये प्रश्न

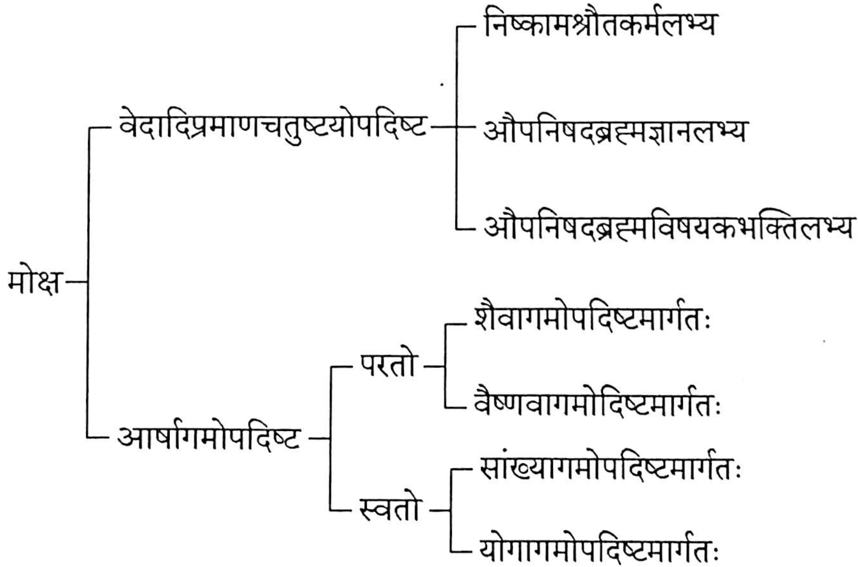
उभरते हैं. ये प्रश्न वैसी अनुभूतिसे रहित सिद्धान्तविद् और साधनाविशेषके अनुरूप पनपी अनुभूतिविशेष करनेवाले साधक के बीच बहुधा विसंवाद खड़ा कर देते हैं. वाल्लभ वेदान्तका अभिप्राय इस विषयमें सुस्पष्टतया यह है कि उल्लिखित प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशीके बलपर ऐसे रूपोंको मिथ्या या मायिक मान लेना अनिवार्य नहीं होता.[१२] इस विषयकी प्रबलतम उपपत्ति वाल्लभ वेदान्त यह मानता है कि किसी भी व्यवहारोपयोगी या व्यवहारानुपयोगी मानसिक प्रत्ययके अनुरूप देश-काल-वस्तुके न होनेपर ही मानसिक प्रत्यय अर्थरहित होनेके कारण अयथार्थ या मिथ्या माना जाता है. उदाहरणतया कोई योगसाधक घटात्यन्ताभाववाले देश-कालमें घटाकृतिकी ध्यान-धारणद्वारा चित्तको एकाग्र बनना चाहता हो तो उसके घटैकाग्रचित्तमें घटेतर वस्तुका अनवभास तथा घटमात्रका अवभास बाह्य जगत्में घटकी सत्ताका प्रमाण बन नहीं जाता. परब्रह्म तो, परन्तु, सर्वदेश सर्वकाल तथा सर्ववस्तुरूप होनेसे स्वयं मनोरूपेण भी वही प्रकट हुवा होनेसे[१३] तथा मनोध्यातरूपेण भी वह वहां मनमें मानसीन रूपमें विद्यमान होनेके कारण ही ब्रह्मविषयक रूपकल्पना कभी अयथार्थ नहीं मानी जा सकती.

अतएव योगसाधनामें अथवा वैराग्यसाधनामें जो यम-नियम-प्रत्याहारौपयिक अथवा त्यागौपयिक जो दोषदर्शन या हेयताबुद्धि अपेक्षित होती है, वहां भी इस भावात्मक अद्वैतकी धारणाके अनुरूप दोष या हेयता स्वयंमें दोषरूप न हो कर फलविशेषौपयिक साधनाके सीमित सन्दर्भमें ही सदोष या हेय हो सकते हैं. उदाहरणतया गंगाजल भी मदिरापात्रमें अपेय जैसे बन जाता है, तद्वत्.[१४]

वाल्लभ वेदान्तकी अवश्यज्ञातव्य इन प्राग्धारणाओंके संक्षेपमें निरूपणके बाद योगसाधनासम्बन्धी उसकी अवधारणाओंके जिज्ञासार्थ अग्रसर हुवा जा सकता है.

<u>योगकी अनिवार्यताका, गौणताका और/अथवा प्रमुखताका वाल्लभ वेदान्ताभिमत स्वरूप</u> :

भागवतपुराणमें कर्म ज्ञान और भक्ति रूपी तीन ही साधनाओंको योगके रूपमें मान्य करके इन तीन योगोंके अलावा अन्य किसी भी साधनाका आत्यन्तिक श्रेयःसाधन होना अस्वीकारा गया है : **''योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिः च <u>नोपायो अन्यो अस्ति</u> कुत्रचित्. निर्विण्णानां ज्ञानयोगः न्यासिनाम् इह कर्मसु, तेषु अनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनां, यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः''**[१५]. यहां इन साधनाओंके हेतु जिस-जिस तरहकी त्रिविध अधिकारिताओंके लक्षण निर्दिष्ट हुवे हैं उनका आपाततः अवलोकन करनेपर ऐसा भी प्रतीत होता है कि इनमेंसे किसी भी अधिकारीके लिये स्वतन्त्र योगसाधनाकी उपयोगिता सिद्ध होनी नहीं चाहिये. महाप्रभुने परन्तु अपने *तत्त्वार्थदीपनिबन्ध* तथा *बालबोध* नामक ग्रन्थोंमें मुक्ति और तत्साधक उपायोंके कुछ प्रभेद समझाये हैं :



(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।१७-१९, बालबोध : १-१८)

हम देख सकते हैं वेदादिप्रमाणचतुष्टयोपदिष्ट मोक्षकी प्राप्तिके उपायोंकी संख्या नियत तीन ही मानी गयी है, जिसमें अंगभावापन्नतया योगप्रणालीको अन्तर्भूत मान लिया गया होनेसे इन्हें 'कर्म' 'ज्ञान' या 'भक्ति' कहनेके बजाय भगवद्गीतामें भी 'कर्मयोग' 'ज्ञानयोग' या 'भक्तियोग' ही कहा जाता है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके ग्रन्थोंमें तथा उपदिष्ट साधनाप्रणालीमें भक्तिमार्गीय साधनापर मिलते प्रतिपादनभारके कारण तथा उनके ग्रन्थोंका गम्भीर अवगाहन न करनेके कारण बहुसंख्यक विद्वानोंके भीतर भी एक मिथ्या धारणा घर कर बैठी है कि वाल्लभ वेदान्तमें मुक्तिका एकमात्र साधन भक्तिमार्गको ही माना गया है.

वास्तविकता जबकि यह है उल्लिखित तालिकामें निर्दिष्ट किन-किन उपायोंको महाप्रभुने मुक्तिप्रद नहीं माना है? वैसे यह तो शास्त्रोंमें मुक्तिके उपायतया उपदिष्ट साधनोंकी बात हुयी. अन्यथा शास्त्रोपदिष्ट उपायोंके नियम तो मुमुक्षु जीवात्माके लिये ही बन्धनकारी हो सकते हैं स्वयं परमेश्वरके लिये नहीं. अतएव भूतलपर प्रकट होती अवतारलीलामें भगवान् इन नियमोंको स्थगित करके भी मुक्ति प्रदान करते हैं. वह भी वाल्लभ वेदान्तमें भगवान्की अवतारलीलाके रूपमें मान्य रखा गया है. क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णमें शास्त्रनिन्दित जारभाव रखनेवाली गोपिकाओंको क्यों-कैसे भगवत्प्राप्ति शक्य हुयी? ऐसी राजा परीक्षित्की जिज्ञासा शान्त करनेको श्रीशुकमुनिने भागवतपुराणमें यह स्पष्टीकरण दिया कि भगवान्के साथ द्वेषभाव रखनेवालोंको भी यदि भगवान् मुक्ति प्रदान कर सकते हों तो कामभाव रखनेवाली गोपिकाओंको क्यों मुक्तिदान नहीं कर सकते! भगवान्का भूतलपर अवतार किसी भी जीवके निःश्रेयस्को सिद्ध करनेको हुवा हो तो कामभाव क्रोधभाव भयभाव स्नेहभाव ऐक्यभाव सौहृदभाव मेंसे, जिस किसी भावके वश जीव भगवान्के साथ अचञ्चल दृढताके साथ बंध पाये, वह उसे भगवन्मय बन पानेमें निमित्त बन जाता है[१६]. ऐसी स्थितिमें शास्त्रोपदिष्ट किसी भी निर्दोष उपायको मुक्तिप्रदतया स्वीकारनेमें वाल्लभ वेदान्तको किसी भी तरहकी आपत्ति

हो ही कैसे सकती है? अतएव इस तालिकामें श्रुत्यादि शास्त्रोंमें उपदिष्ट कर्मज्ञानभक्तिरूप ब्राह्मिक उपायोंकी तरह ब्रह्मके अवरदेवरूपोंका अवलम्बन करनेको उपलक्षणतया शैव-वैष्णव पौराणिक या आगमोपदिष्ट उपायोंको ही केवल नहीं प्रत्युत मुमुक्षुकेलिये निजात्मावलम्बी सांख्य-योगरूपी उपायोंको भी मुक्तिप्रद माना ही गया है.

ब्राह्मिकी मुक्तिमें एकमात्र उपाय भगवत्कृपैकलभ्य ब्रह्मविद्याके पांच पर्वोमें योग भी एक पर्व :

वैसे इस विवादास्पद मुद्देके भीतर वाल्लभ वेदान्तके निगूढ़ रहस्यको जानना हो तो हम कह सकते हैं कि मुक्तिका एकमात्र साक्षात् हेतु तो भगवत्कृपैकलभ्य ब्रह्मविद्यारूप ही महाप्रभुको अभिमत है. 'ब्रह्मविद्या' यानि शास्त्रोपदिष्ट ब्रह्मस्वरूपका यथावद् अवबोध. इस ब्रह्मविद्याके कारण ब्राह्मिकी अविद्या जब नष्ट हो पाये तभी मुक्ति सम्भव है.

जैसा कि हम देख आये तदनुसार स्वयं ब्रह्म ही अपने चिदंशभूत जीवात्माओंमें निज अंशी ब्रह्मके या जीवके ब्रह्मांश होनेके आत्मभानको तिरोहित या आविर्भूत करता है. ये तिरोभाव या आविर्भाव वह अपनी अविद्या या विद्या शक्तिओंके द्वारा करता है. अविद्या शक्तिके द्वारा ब्रह्म अपने चिदंशमें अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यास देहाध्यास स्वरूपाज्ञान प्रकट करता होनेसे जीवात्मा सच्चिदानन्द ब्रह्मका साक्षात् चिदंश होनेपर भी उसे जान नहीं पाती. अविद्याके ये पांच पर्व निवृत्त होते हैं पञ्चपर्वा विद्याशक्तिद्वारा. ये पांच पर्व इस तरह गिनाये गये हैं : १.वैराग्य २.सांख्य ३.योग ४.तप ५.भक्ति. इनका स्वरूप समझाते हुवे महाप्रभु कहते हैं : सबसे प्रथम ऐन्द्रियक विषयोंमें वितृष्णा जगनी विद्याका प्रथम पर्व होता है. उसके बाद दूसरे पर्वद्वारा नित्यानित्य वस्तुका जब विवेक प्रकट होता है तब अनित्य पदार्थोंमें ममताका नाश हो पानेके कारण उनका त्याग शक्य बन पाता है.

तीसरे पर्व योगद्वारा एकान्तमें यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अष्टांग योगकी साधना आवश्यक होती है. चौथे पर्व तपके रूपमें सविचार आलोचनके साथ समाधिवाली एकाग्रताको निभाना होता है. इस तरह निरन्तर भावना करते रहनेपर परमात्मामें परमप्रेम प्रकट होनेपर ब्रह्मविद्या ब्रह्मभान कराने सक्षम बन जाती है. इस ब्रह्मविद्याके फलस्वरूप अंशभूत जीवात्मा अंशीमें लीन हो पाती है.[१७]

सारे मुक्त्युपाय जीवात्माको मुक्तिप्रदान करनेकी भगवदिच्छाके अवान्तर व्यापार होते हैं :

इस मोड़पर दो और बातें और ज्ञातव्य हो जाती हैं. सर्वप्रथम तो यह कि शास्त्रोपदिष्ट जितने भी मोक्षोपाय स्वीकारे या विचारे जा सकते हों, निरपवादतया, वे सभी मुक्तिसाधनतया अभिमत न हो कर, वाल्लभ वेदान्तमें भगवान्‌की मुक्ति प्रदान करनेकी इच्छा या कृपा के अवान्तरव्यापाररूप ही माने गये हैं. जैसाकि वे स्वयं कहते हैं : जोभी कर्म ज्ञान भक्ति सांख्य योग तप वैराग्य आदि मुक्तिके उपायतया माने जाते हैं वे परमात्माकी कृपाके अवान्तरव्यापार होनेके कारण ही अनेकविध फल प्रदान करने सक्षम हो पाते हैं. वस्तुतः तो भगवान्‌की कृपा ही केवल मुक्तिका अनन्यसाधन होती है.[१८] दूसरे क्रियाप्रधान श्रौत-कर्ममार्ग, शान्तरसप्रधान औपनिषद-ज्ञानमार्ग, भगवद्रसानुभूतिप्रधान गीताभागवतोक्त-भक्तिमार्ग, त्यागप्रधान सांख्यमार्ग; अथवा संयमवैराग्यप्रधान योगमार्ग आदि सभी उपाय परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌के किसी न किसी रूपको प्रकट करनेके हेतु तो बनते हैं, भगवान्, किन्तु, उपायोंके स्वभावोंके अनुरूप ही प्रकट होते हैं. परमानन्द स्वरूप परब्रह्म भक्तियोगद्वारा प्रकट होनेपर भक्तिके परमप्रेमरूप स्वभावके अनुरूप अपना परमप्रिय रूप या परमानन्द प्रकट करते हैं. अतः मुक्ति अनेक उपायोंसे शक्य होनेपर भी भगवान्‌के स्वरूपानन्द और उसकी अनुभूतिसे होते सुखमें तारतम्य होता माना गया है.

सांख्यमार्ग मानों भगवत्स्वरूपानन्दकी अनुभूतिके अभावमें अविद्यावशात् होते दुःखको सहन करनेकी क्षमताद्वारा मिलता सुख प्रदान करता है. जैसे प्यास लगी हो और कोई उसे सहन कर पानेके कारण दुःखी न हो पाता हो वैसे. योगमार्ग मानों प्यास लगनेपर कुआ खोद कर जलपान करने स्वावलम्बी बन जाने जैसा उपाय है. भक्तिमार्ग तो मानों किसी प्यासे व्यक्तिके शुद्धसलिला सरित्के किनारेपर जा बसने जैसी बात बन जाती है. जब चाहो जितना चाहो उतना जल सर्वदा निरायास उपलब्ध रहनेके जैसी कथा![१९]

योगमार्गीय उपायोंके प्रभेद—कर्मज्ञानभक्तिके अंगभाववश भी तथा स्वातन्त्र्यवश भी :

ब्रह्मसूत्रमें द्वितीय अविरोधाध्यायके प्रथमपादमें जैसे सांख्य-योग चिन्तनका अश्रौत होना प्रस्थापित किया गया है. उसी तरह इन ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य स्वयं अनेक श्रुतिवचनोंमें, शब्दशः, **''नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानाम् एको बहूनां विदधाति कामान् तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'', ''यदा पञ्च अवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिः च न विचेष्टति ताम् आहुः परमां गतिं, तां 'योगम्' इति मन्यन्ते स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्''**[२०] सदृश वचनोंमें औपनिषद पुरुषको सांख्ययोगगम्य भी माना गया है. इस विरोधाभासके परिहारहेतु महाप्रभुका कहना है कि सांख्यमत अनेक रूपोंमें उपलब्ध होता है परन्तु सांख्यमतके जिस प्रकारमें सकल २८ तत्त्वोंको भगवद्रूप माना गया हो उसे प्रामाणिक तथा अन्यको अप्रामाणिक मान कर चलना चाहिये. इसी तरह योग भी जिसमें भगवान्के ध्यानका उपदेश मिलता हो उसे ही प्रामाणिक मानना चाहिये. क्योंकि योग, मूलमें तो चित्तवृत्तिको निरुद्ध करनेके उपायोंका विवरण है. यदि योगको भगवान्के ध्यानार्थ अंगतया उपयोगार्ह बनाया जा सकता हो तो ही उसे प्रामाणिक समझना चाहिये. जो निरीश्वरयोगका प्रकार किसी तरहके फलको सिद्ध करनेवाला माना जाता है अथवा देह इन्द्रिय आदिसे जुड़ी सिद्धिओंके साधक दिखलाये

जाते हैं उन्हें अप्रमाण मानना चाहिये. वैसे परमेश्वरके ध्यानकी रीति न होनेपर भी यदि जीवात्माको परमात्माका अंश मान कर आत्मबोधार्थ जो किसी तरहकी प्रक्रियाका उपदेश करते हों तो भी प्रामाणिक माननेमें कोई आपत्ति नहीं. क्योंकि वैराग्य ज्ञान योग प्रेम या तप मेंसे किसी एक उपायके द्वारा भी परमेश्वरका दृढ़ भजन करनेसे सिद्धि मिलती ही है.

पञ्चपर्वा विद्याका अंगभूत योग :

फिरभी उचित तो यही होता है कि विद्याके पांचों पर्वोंसे सम्पन्न हो कर भगवान्‌के भजनमें परायण होना चाहिये. क्योंकि इन पांच पर्वोंमें प्रथम पर्व वैराग्य है, जिसके अभावमें भगवदावेश न हो पानेके कारण भगवद्भजन ही सुचारुतया सम्पन्न नहीं हो पाता. दूसरा पर्व सभी भगवत्सृष्ट पदार्थोंका और स्वयं सृष्टाका भी यथार्थ ज्ञान होता है. इसके अभावमें साधक किसी तरहका साधननिश्चय ही न कर पानेके कारण उपक्रम ही भलीभांति नहीं कर पाता. इसी तरह भगवद्भजनमें तत्पर होनेवालेके मनको अचञ्चल बनानेको, अन्यथा भजन ही निभ नहीं पाता होनेसे, योग भी तीसरा आवश्यक अंग होता है. चौथे पर्व प्रेमको इसलिये ब्रह्मविद्याका अंग मानना आवश्यक है कि अन्यथा भजन स्वतः पुरुषार्थरूप न रहनेसे भक्तिरस ही अभिव्यक्त नहीं हो पाता. पांचवें पर्व तपकी आवश्यकता देह आदिमें आत्मबुद्धिको संयत करनेके कारण माननी पड़ती है. ये पांचों एक साथ सधने दुर्लभ होनेसे गौण पक्षतया इनमें किसी एक पर्वको साधना भी उत्तमतया बिरदाया गया है. यहां ब्रह्मविद्यांगभूता गौणी भक्ति तथा गौण योग को सामान्यरूपेण विद्याका पर्व मान कर योगकी भी उपयोगिता उपदिष्ट हुयी है. [२१]

पौराणिक नवधा भक्तिके अंगतया योगकी उपयोगिता :

इसी तरह श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य

सख्य और आत्मनिवेदन रूपा पौराणिकी नवधा भक्तिके अंगतया भी योगोपायोंको अपनानेपर महाप्रभु भार देते हैं **"योगसहितभजने प्रेम"**[२२].

इस भक्तिके अंगभूत योगकी प्रक्रियाविधिका निरूपण भागवतपुराणमें अनेकत्र किया गया है. उदाहरणतया द्वितीयस्कन्धके प्रथम और द्वितीय अध्यायोंमें मृत्युसे पूर्व अवश्य अनुसरणीय भगवान्के विराट् स्वरूप या प्रादेशमात्र स्वरूप के ध्यान-धारणाकी विधि समझायी गयी है. यहां भक्तिके आद्य तीन श्रवण कीर्तन स्मरण अंगोंके उपांगतया यौगिक प्रक्रिया उपदिष्ट हुयी है. इसी तरह कपिल-देवहूतिसंवाद जो तृतीयस्कन्धमें सविस्तर निरूपित हुवा है वहां भी ध्यानयोगका निरूपण मिलता है. इन अंशोंपर महाप्रभुकी सुबोधिनी व्याख्या उपलब्ध होनेसे इस विषयका विस्तृत अवगाहन तो वहींसे कर लेना उचित होगा. फिरभी कुछ संक्षिप्त स्वरूपपरिचय पानेको सम्बद्धांशोंको उद्धृत करना उचित होगा. यथा —

"अन्तकालेतु पुरुषः आगते गतसाध्वसः छिन्द्याद् असंगशस्त्रेण स्पृहां देहे अनु ये च तं... धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने अभ्यसेद् मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम्. मनो यच्छेद् जितश्वासो ब्रह्मबीजम् अनुस्मरन्. नियच्छेद् विषयेभ्यो अक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः. मनः कर्मभिः आक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद् धिया. तत्र एकावयवं ध्यायेद् अव्युच्छिन्नेन चेतसा. मनो निर्विषयं युक्त्या ततः किञ्चिन् न संस्मरेत्. पदं तत् परमं विष्णोः मनो यत्र प्रसीदति. रजस्तमोभ्याम् आक्षिप्तं विमूढं मनः आत्मनो यच्छेद् धारणया धीरः हन्ति या तत्कृतं मलम्. यत्र सन्धार्यमाणानां योगिनः भक्तिलक्षणः आशु सम्पद्यते योगः आश्रयं भद्रम् इक्षतः"(भाग.पुरा.२।१।१५-२१).

इसकी व्याख्यामें महाप्रभुने यहां उपदिष्ट योगांगोंकी उपयोगिता और उनका स्वरूप समझाया है : इस ध्यानविधिको केवल अन्तकालमें उपयोगिनी नहीं समझना चाहिये. यह तो सर्वात्मना सर्वदा अनुसरणीय ध्यानपद्धति है. यहां औपनिषदिक मनन-निदिध्यासनका निरूपण अभिलषित है. मननका मतलब होता है युक्तिपूर्वक श्रुतविषयका अनुचिन्तन. भगवान्‌को श्रोतव्य कहा अतः भगवान् क्या-कैसे हैं ऐसी आकांक्षा हो तो जानना चाहिये कि सर्वात्मा सर्वपुरुषार्थरूप सर्वफलसाधक सर्वरूप होते हैं. यहां परिदृश्यमान सब कुछ भगवद्रूप कैसे हो सकता है? इस आकांक्षाकी पूर्तिके हेतु अनेक श्रुतियोंमें प्रमाण दरसाये ही गये हैं. परन्तु उस भाव या ध्यान को दृढ़ बनानेको समग्र जगत्‌का भगवान्‌के शरीरमें अंगोपांगतया धारणाविधिद्वारा विन्यास कर उन सभीका ध्यान करना चाहिये. क्योंकि ध्यायमानका कदाचित् साक्षात्कार होनेकी शक्यतामें भगवान्‌के वैसे स्वरूपको स्वीकार पाने लायक हमारी सन्नद्धता होनी आवश्यक होती है. इस समग्र विषयप्रपञ्चको भगवद्विग्रहमें देखनेकी प्रक्रियामें व्यवधान उपस्थापित करनेवाले अहन्ता-ममतास्पद विषयोंसे मनका व्यासंग असंगशस्त्रसे काट-छुड़ाना आवश्यक होता है. उसके बाद शीत-ग्रीष्म आदिकी बाधामें अपना धैर्य न खो देना चाहिये. एतावता यहां अहिंसा सत्य अस्तेय असंग ह्री असंचय आस्तिक्य ब्रह्मचर्य मौन स्थैर्य क्षमा अभय शौच जप तप होम श्रद्धा आतिथ्य भगवदर्चन तीर्थाटन परार्थ इहा तुष्टि आचार्यसेवन रूपी यमोंका विधान उपदिष्ट हुवा है... यहां 'पुण्यतीर्थजल' के विधानसे उद्धृत जल और काम्यतीर्थों का त्याग द्योतित किया गया है. इस योगका अभ्यास एकान्तमें पवित्र चैलाजिनकुशोत्तरप्रकारसे बने आसनपर बैठनेके अभिप्रायवश है. सबीज प्राणायाम करनेपर शीघ्र ही श्वासवायु स्थिर होने लगती है. अकार उकार और मकार रूप त्रिवृद् ब्रह्माक्षरोंसे संघटित वर्णत्रयात्मक ब्रह्मवाचक एक ॐकारसे प्राणायामका अभ्यास अपेक्षित होता है. ऐसा करनेसे श्वासवायुपर जय प्राप्त होने लगता है. जो सांसको जीत नहीं पाता वह मनको भी जीत नहीं पाता. मनको जीत पानेवाला ही इन्द्रियोंको

जीत पाता है. विषयोंमें दोषबुद्धि अर्थात् योगाभ्यासमें विघ्नकारक होनेकी बुद्धि मनकी सहायिका बन सकती है. मन उभयविध ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय रूप होनेसे विषयोंसे उसके निवारणकी तरह योगमें विघ्नकारी कर्मोंसे भी मनका निवारण प्रत्याहारद्वारा करना पड़ता है. ऐसा सिद्ध हो जानेपर भगवान्‌की सांगोपांग मानसी मूर्ति घड़ कर उस भगवन्मूर्तिके सर्वावयवोंमें मनको स्थापित करना 'धारणा' कहलाती है. एक किसी अवयवमें मनको स्थापित करना 'ध्यान' कहलाता है. भगवन्मूर्तिके एक-एक अवयवोंका क्रमशः परस्पर संश्लिष्टतया ध्यान करना चाहिये. इस तरह ध्यान सिद्ध हो जानेपर इस ध्यातमूर्तिका ध्यान बंद कर कुछ कालके लिये मनको सर्वथा निर्विषय रह पानेका अभ्यासी बनने देने चाहिये. इस ध्यानरहित बनानेकी प्रक्रियामें जब मन स्वयमेव प्रसन्न हो कर भगवान्‌के ध्यानाकारमें परिणत हो पाये तब समझना चाहिये कि भगवन्मूर्ति अब अन्तःकरणके बजाय भगवान्‌के त्रिगुणातीत दिव्य अक्षरधाम या तदंशभूत स्वयं जीवात्मा को अपना अधिष्ठान बना कर दर्शन देने लगी है. इस धारणाके कारण योगीको शीघ्र ही भक्तिलक्षण योग सिद्ध हो जाता है.

इसके बाद राजा परीक्षितने प्रश्न किया कि ऐसी धारणा कैसे करनी? कया मानसी मूर्ति बना कर वहां मन स्थापित करना चाहिये अथवा यथाश्रुत रूपकी मानसी मानसी मूर्ति घड़नी चाहिये. भगवान् तो अनन्तमूर्ति हैं अतः उनमें कैसी मूर्तिके बारेमें सभी योगिजनोंकी निरपवाद सहमति है. कैसी मूर्ति? इस प्रश्नका अभिप्राय रूपप्रधान या धर्मप्रधान स्थूल या सूक्ष्म? निराकार या साकार? शान्त या साग्रह भगवन्मूर्तिका ध्यान धरनेसे सारे मनोमल निवृत्त हो पाते हैं?

इसके समाधानतया श्रीशुकमुनिने सर्वप्रथम तो भगवान्‌के स्थूल रूपका ध्यान धरना उचित माना है. यह स्थूलता सारे स्थूल जगत्‌को भगवान्‌के विग्रहमें योजित कर भगवान्‌की विराट् मानसी मूर्ति घड़नेकी

प्रक्रियाद्वारा सम्पन्न होती है. एतदर्थ पातालका भगवान्‌के पादमूलोंमें विन्यास करना चाहिये. यों शनैः-शनैः पादमूलसे भगवन्मस्तक पर्यन्त सकल ब्रह्माण्डके विन्यासद्वारा ध्यान-धारणा करनेपर सर्व जागतिक विषयोंके ब्रह्मविग्रह या ब्रह्मात्मक होनेकी अनुभूति होने लगती है. स्वप्नानुभूतिमें जैसे स्वप्नद्रष्टासे भिन्न न तो कोई दृश्य होता है और न दर्शनोपकरण और न दर्शनानुभूति ही. ठीक उसी तरह सर्वत्र ब्रह्मभाव प्रकट अनुभूत होनेपर कहीं भी ब्रह्मेतरता भासित होनी बंद हो जाती है. ऐसे सत्य आनन्दनिधि भगवान्‌को इस तरहकी ध्यान-धारणाद्वारा भजनीय बनाया जाता है. अतएव भगवद्गीतामें इसे त्रिगुणातीत एकान्तिकसुखरूपा ब्रह्मभूयस्ताके रूपमें बिरदाया गया है.[२३] अतः ऐसे भगवान्‌के साथ, बृहदारण्यकोपनिषद्‌के प्रथमाध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणके प्रारम्भमें प्रतिपादित, निर्भयरमण शक्य हो पाता है.[२४]

एकाकितामें अरति और सद्वितीयतामें भीति के उभयतःपाशका समाधान—एककी अनेकरूपतामें उपनिषदोंने खोजा है. अपनी पूर्वकालिक योगरहित अवस्थामें होनेवाली भीतिसे और इसी तरह योगयुक्त अवस्थामें विकसित एकाकितामें पनपनेवाली अरतिसे भागवतोक्त भगवान्‌के स्थूलरूपकी यह ध्यान-धारणाविधि योगीको उबार लेती है, उस औपनिषदिक परम सत्यके साक्षात्कारके हेतु. ब्रह्मके विराट् स्वरूपका ऐसा ही विलक्षण माहात्म्य बृहदारण्यकोपनिषद्‌में ज्ञानोपदेशकी विधिसे तथा भागवतपुराणमें ध्यान-धारणोपदेशकी विधिसे प्रतिपादित हुवा है.

भक्तियोगका, नारदपञ्चरात्रोक्त लक्षण—"**माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढसर्वतोधिकस्नेह**"—वाल्लभ वेदान्तमें मान्य रखा गया है. तदनुसार भक्त जीवात्माके बाहर अवस्थित जो सकल ब्रह्माण्डविस्तार है, उसमें ब्रह्मके तादात्म्यकी स्वीकृति या अनुभूति जीवात्माके भीतर ब्रह्मके माहात्म्यज्ञानको जगाती है. इसी तरह स्वयं जीवात्माके भीतर होती ब्रह्मके तादात्म्यकी स्वीकृति या अनुभूति जीवको उस ब्रह्म परमात्मा

भगवान्में सुदृढसर्वतोधिकस्नेहवान् बना देती है. अर्थात् इस तरह बाह्याभ्यन्तर उभयत्र ब्रह्मके तादात्म्यकी अनुभूति जीवात्माको परमात्माका भक्तियोगी बना पाती है.

अतएव छान्दोग्योपनिषद्में नवधा आवर्तन कर दिये गये उपदेश **“स य एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा, तत् त्वम् असि”**[२५] का परम प्रयोजन महाप्रभु माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढसर्वतोधिकस्नेहरूप भक्तियोगके उद्बोधनार्थ ही स्वीकारते हैं : अनेकधा सृष्टिकी उत्पत्तिके निरूपणमें उपनिषदोंका अभिप्राय भगवान्का माहात्म्य समझाना ही है. ताकि जीवात्मा कथञ्चित् परमात्माके भजनमें प्रवृत्त हो पाये. भक्तिका दूसरा अंश सुदृढसर्वतोधिकस्नेह होता है, उसे जगानेको ही उपनिषद्में जीवात्मा और परमात्मा के बीच तादात्म्यका भी उपदेश दिया गया है.[२६].

आगे बढ़नेपर भागवतपुराणमें अगला उपदेश इसी तादात्म्यभावके उद्बोधनार्थ साधकको निजहृदयमें प्रादेशमात्र भगवत्स्वरूपके ध्यान धरनेके रूपमें दिया गया है :

> “इस तरह अपने चित्तमें स्वतएव सिद्ध आत्मा प्रिय अर्थ भगवान् अनन्त होते हैं. ऐसे भगवान् संसारोपरमके हेतु होते हैं अतः उनका भजन सानन्द तथा नियतार्थ हो कर करना चाहिये... कुछ साधक उनका अपने हृदयावकाशके भीतर बिराजमान प्रादेशमात्र पुरुषके रूपमें... धारणाविधिसे स्मरण करते हैं... चतुर्भुज भगवान्के एक-एक श्रीअंगोंका बुद्धिसे अनुभावन करते हैं, चरणारविन्दसे ले कर हास्यसहित मुखारविन्द पर्यन्त. एक-एक श्रीअंगके ध्यानपर जय पा कर अग्रिम-अग्रिम श्रीअंगोंकी अन्तमें धारणाद्वारा साधककी बुद्धि जैसे-जैसे शुद्ध होती चली

जाती है वैसे-वैसे उन परावर विश्वेश्वर विश्वद्रष्टामें भक्तियोग स्थिर होने लगता है. यह जब तक न हो पाये तब तक उस परमपुरुषका पूर्वोपदिष्ट स्थूल रूप प्रत्येक ध्यानक्रियाकी समाप्तिके प्रयत्नपूर्वक स्मरण करना चाहिये''. [२७]

यहां इन कारिकाओंकी सुबोधिनी व्याख्यामें महाप्रभु कहते हैं : जो परमात्मा सभी तरह सर्वनिरपेक्ष होनेकी प्रेरणा किसी साधकके अन्तःकरणमें प्रकट करता है, वह स्वयं अन्तःकरणके भीतर ही कहीं निवास करता होना चाहिये... ऐसे भजनीयको आत्मा होनेके कारण 'प्रिय', प्रिय होनेके कारण 'अर्थ', अर्थ होनेके कारण 'भगवान्' और भगवान् होनेके कारण 'अनन्त' कहा जा रहा है. ये पांचो रूप प्राणिओंको भगवान्‌की सेवामें तत्पर होनेको प्रेरित करते हैं. प्राण या देह तो सभी प्राणिओंको प्रिय लगते हैं. फिरभी ये स्वयं परिच्छिन्न होनेसे इनमें प्रीति भी परिच्छिन्न ही जुड़ पाती है. अतएव एकत्र जुड़नेपर वह अन्यत्र टूट जाती है. अतः एक सर्वरूप भगवान्‌में प्रीति जोड़नी चाहिये... वस्तुतः तो प्रीति स्वयं भी भगवान्‌का ही धर्म है. इसे खण्डशः सभी जीवोंमें भगवान्‌ने बांट रखी है, उन्हें सुख प्रदान करनेको. अतः जो जहां अपनी प्रीति जोड़ लेता है, उसे वहां सुख मिलने लगता है. वस्तुतः तो हमें अपनी प्रीतिका ही सुख सर्वत्र मिलता है वस्तुका नहीं!... इस तरह सारी बातोंका निर्णय हो जानेपर भक्तिमार्गके अनुसार भगवान्‌के बारेमें श्रवण आदि साधन करने चाहिये. भगवान्‌के उल्लिखित चतुर्भुज आदि रूप आनन्दमात्र करपादमुखोदरादिरूप होते हैं. इस तरहके ज्ञानके साथ भजन करने उद्यत होनेपर भगवान्‌के पूर्ववर्णित स्थूलरूपके स्थानपर यहां आनन्दप्रद रूपकी ध्यान-धारणा समझायी गयी है.[२८] भागवतपुराणके तृतीय स्कन्धमें कपिल-देवहूतिके प्रसंगमें २८ वें अध्यायमें भी इस तरहकी भजनीय आनन्दाकाररूप भगवान्‌की हृदयमें ध्यान एवं धारणा कैसे करनी उसका सविस्तर निरूपण उपलब्ध होता है. यह सब पौराणिक श्रवण-कीर्तन-स्मरणरूपा त्रिविधा या

श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनरूपा नवधा भक्तिके उद्बोधनार्थ योगमार्गीय उपायोंके सहकारका प्रकार है.

प्रेमलक्षणा भक्तियोगमें योग आदि अन्यान्य सहकारी उपायोंके अपेक्षा नहीं रहती :

वाल्लभ वेदान्त नित्यसिद्धा, किन्तु अप्रकट, दशमी प्रेमलक्षणा भक्तिका मूल प्रमाण पूर्वोक्त औपनिषदिक ब्रह्मतादात्म्यवादके प्रतिपादनको स्वीकारता है. इसे पौराणिक त्रिविधा या नवधा भक्तिकी तुलनामें परा या साधनरूपा भक्तिके बाद लब्ध या प्रकट होनेवाली सिद्धावस्था मानी गयी है "भक्त्या सञ्जातया भक्त्या".[२९] यह परा प्रेमलक्षणा भक्ति जैसे योगसहकृत त्रिविधा/नवधा भक्तिद्वारा प्रकट हो पाती है; वैसे ही, योगके बिना भी केवल भक्तिमार्गीय सत्संग आत्मसमर्पण आदि उपायोंसे भी प्रकट होती दरसायी गयी है. इस प्रेमलक्षणा भक्तिको स्वयं भक्तियोगतया बिरदाते हुवे भगवान् यह उसका वैलक्षण्य दिखलाते हैं :

> "अत: भगवान्‌की भक्ति करनेवाला योगी, जो उसे निजात्मतया देख पाता है, उसका ज्ञान या वैराग्य के बिना भी इस जगत्‌में कल्याण प्राय: हो ही जाता है. क्योंकि जो सत्कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा या तपद्वारा या ज्ञानवैराग्यद्वारा या योगद्वारा अथवा अन्यान्य श्रेयस्कारी दानधर्मोंद्वारा प्राप्त हो सकता हो, वह सभी कुछ भगवान्‌की भक्तिद्वारा भक्तको सहज ही मिल जाता है... वैसे भगवान्‌की एकान्तिक भक्ति करनेवाले धीर साधु जन तो स्वयं भगवान् देना चाहें तब भी पुनर्जन्मरहित कैवल्यकी भी वांछा नहीं करते हैं. इस तरह मुक्तिपर्यन्त भगवान्‌के अलावा अन्य सभीमें निरपेक्ष रहनेवालोंका नि:श्रेयस् कभी अल्प नहीं होता"[३०].

इस प्रेमलक्षणा भक्तिके बारेमें महाप्रभुने एक अति रोचक विधान किया है : ज्ञानमार्गमें तो सभी कुछ अखण्डाद्वैतानुरोधी होनेसे ज्ञेयके किसी भी एक उदाहरणमें कोई विशेषता प्रकट नहीं होती, क्योंकि सभी कुछ पूर्णतया ब्रह्मरूप हो जाता है. भक्तिमार्गके बारेमें, परन्तु, यह कथा इतनी सरल रह नहीं जाती. क्योंकि भगवान्ने जैसे समग्र जगत्की सृष्टि की वैसे ही स्वयं अपनेही लिये एक पृथक् भक्तिमार्ग भी प्रकट किया. (इसे **''वह एकाकी रहना नहीं चाहता था अतः उसे अपने अलावा दूसरेकी कामना हुयी अतएव उसने यह सब कुछ सिरजा''** [३१] ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर स्वीकारा गया है.) जागतिक साधन-फलसम्बन्धी व्यवस्था अपने विभूतिरूपोंको सोंप कर अपने स्वरूपानन्दपर अवलम्बित भजनानन्द प्रदानकी व्यवस्था स्वयंकी इच्छा या कृपा से नियत रखी... इस कृपालभ्य भक्तिमार्गमें तो भगवान्का बहिर्भजन ही मुख्य माना जाता है. अपने हृदयमें ही निहित भगवान्की मानसी मूर्तिके ही भजनकी नियति तो ज्ञानमार्गीय है.[३२] लक्ष्यमें रखना चाहिये कि यह निर्देश साधनदशासे जुड़ा है फलदशामें तो इस विषयमें बाह्य भजनके नियमको भी शिथिल बना दिया गया है. ब्रह्मसूत्रभाष्यके फलाध्यायमें भाष्यकार कहते हैं—भगवत्स्वरूपमें चित्तके एकाग्र हो जानेपर जब भक्तको अन्तर्बाह्यके प्रभेदका भान रह नहीं जाता तब बाह्य भजन या आन्तर भजन के बीच किसी तरहका कोई तारतम्य रह नहीं जाता.[३३] अतएव प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्रारम्भिक या चरम परिपक्व अवस्थामें योगमार्गीय उपायोंकी सहकारिता प्रश्न गौण हो जाता है. शास्त्रीय विधि-विधानके अंकुशसे कर्म, जिज्ञासा या भावना का तो परिचालन शक्य हो सकता है परन्तु ज्ञान या प्रेम पर शाब्दिक विधि-विधानका अंकुश चल नहीं सकता!

ज्ञानमार्गीय उपासनाओंमें यौगिक उपायोंकी सहकारिता :

ज्ञानमार्गीय साधनामें योगोपायोंकी सहकारिताके सन्दर्भमें महाप्रभुका कहना है कि क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति से भी सम्पन्न होनेके

कारण मन उभयविध सामर्थ्यवाला होता है. अतः शास्त्र और विवेक द्वारा — लौकिकालौकिक नित्यानित्य दृष्टादृष्ट शुभाशुभ का प्रभेद — जान पाने जैसे हम समर्थ हो पाते हैं; वैसे ही, योगद्वारा यदि हमारी क्रियाशक्तिको हम प्रबलतर बना पायें तो ही ध्यात या धारित विषयमें हमारा चित्त एकाग्र हो पाता है. अन्यथा साधारणतया हमारे भीतर रहे क्रियाओंके आवेग हमारे ज्ञानको बाधित कर देते हैं. जिन्हें अपनी ज्ञानशक्तिके अनुसार हम उचित न मानते हों वैसा भी कर्म हमसे हठात् करवा लेते हैं. फलजननौपयिक व्यवहारमें जैसे ज्ञानसे इच्छा और इच्छासे प्रयत्न उत्तरोत्तर प्रबल देखे जाते हैं. वैसे ही मनसे अधिक प्रबल वाणी होती है और वाणीसे अधिक प्रबल काया होती है. क्योंकि वहां काम आदिके आवेग भरे रहते हैं, ये आवेग ऐसे होते हैं कि जिनके कारण मन संसारमें ही प्रवृत्त हो ही जाता है. ऐसी स्थितिमें योगके उपाय भी अशक्य बन जाते हैं. हवाके तेज़ीसे बहनेपर अन्धेरेमें दीपक जलाया नहीं जा सकता! अतएव योगमार्गीय उपायोंसे काया वाणी और मन से जुड़ी क्रियाशक्तिओंपर काबू पानेपर ही मनोध्यात मूर्तिके रूपपर चित्त एकाग्र हो पाता है.[३४] अतएव ज्ञानमार्गमें इस तरह चित्तको एकाग्र बनानेमें योगमार्गीय उपायोंकी अपेक्षा सहकारिता अतीव ही होती है.

एक ओर खुलासा यहां जान लेना उपकारक होगा कि मनोध्यात रूपको ध्यानकर्ता स्वयं यदि साक्षात् ब्रह्मतया न स्वीकार कर क्षुद्र फल प्रदान करनेवाली देवरूप विभूतिके रूपमें ध्यान-धारणाका आलम्बन बनाता हो तो, योग भी क्षुद्र फलोंमें ही साधनाको पर्यवसित कर देगा. परन्तु उपास्यतया किन्हीं अवरदेवताओंके या विभूतिओंके रूपोंका ध्यान भी उपासक यदि साक्षाद् ब्रह्मतया करता हो तो योगमार्ग ज्ञानोपासनामें सहकारी बन कर साधकको ब्रह्मप्राप्तिमें उपकारी बन जाता है.[३५] यह ब्रह्मप्राप्ति जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के प्रभेदवश अन्ततः ब्रह्मसायुज्य या ब्राह्मयैक्य में पयर्वसित होती मानी गयी है.

कर्मानुष्ठानमें योगमार्गीय उपायोंकी सहकारिता :

जहां तक कर्मयोगका प्रश्न है तो वाल्लभ वेदान्तका दृष्टिकोण इस विषयमें सावधानतया अवगन्तव्य है. कर्मका एक स्वरूप सृष्टिनियामक होनेका होता है. अर्थात् सृष्ट्यर्थ काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुष के पञ्चकके अन्तर्गत प्रकटा वह एक ब्राह्मिक रूप है (अनुसन्धेय : उद्धरणसंख्या ७ और ८). इसी तरह श्रुत्यादि शास्त्रोंद्वारा विहित या उपदिष्ट यज्ञयाग देवार्चन आदि आराधनारूप भी कर्म भी होते हैं. इन्हें सविशेषरूपमें देवरूप या भगवद्रूप माना गया है. महाप्रभु कहते हैं **''वेदके पूर्वकाण्डमें यज्ञरूप हरिका प्रतिपादन जानना चाहिये'' ''अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, पशु, चातुर्मास्य, सोमयाग इन सभी रूपोंमें क्रमशः श्रीहरिकी ही पञ्चविधता समझनी चाहिये, इनके प्रयाज आदि और स्रुक्-स्रुवा आदि उपकरण भी श्रीहरिरूप होते हैं. यह हरिरूपता नित्य प्रकृतिकर्मरूप यागोंकी ही होती है. क्योंकि काम्यकर्म तो विकृतिरूप होता है''.**[३६] यज्ञयागादि तो कृतिसाध्य होते हैं उन्हें नित्य कैसे माना जा सकता है? इसके समाधानतया महाप्रभु कहते हैं कि ध्यान आदिद्वारा जैसे परमात्माकी मूर्ति अभिव्यक्त होती है वैसे ही आधान आदि सोमयाग आदि वेदबोधित दैहिकी चेष्टारूपा क्रियाओंके तथा ध्यान आदि सहित मानसी क्रियाओंके अनुष्ठानद्वारा यज्ञस्वरूपी परमात्माकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं.[३७] किसी भी स्थितिमें इन कर्मोंके अन्तर्गत परन्तु जिन-जिन देवताओंका उद्देश्य बना कर आहुति दी जाती उन देवताओंका मनमें ध्यान धरनेका विधान है. ध्यान धरनेकी इस रीतिमें उन-उन देवताओंके शास्त्रोंमें श्रुत रूपोंकी एकैकशः ध्यान-धारणा अपरिहार्य माननी ही पड़ेगी.[३८] और यहां पुनश्च योगमार्गीय उपायोंकी सहकारिता अपेक्षित होगी ही. महाप्रभुके अनुसार निष्कामकर्मके यथाविधि अनुष्ठित होनेपर, वह ब्रह्मके चिदंशभूत जीवको आत्मानन्द प्रदान करता है. इसे ब्रह्मानन्दका चिदंशोपम क्षुद्रांश माना गया है. सांसारिक किसी भी सुखसे अत्यन्त यह सुख ही उत्कृष्ट माना गया है.[३९]

सृष्टिघटक और सृष्टिमें प्रकट होनेवाले जीवद्वारा अनुष्ठित भगवदाराधनात्मक कर्मके अलावा तीसरा और रूप सामाजिक प्राणी होनेके रूपमें अपने कर्तव्योंके अनुष्ठान हैं. इसे प्राचीन शास्त्रीय व्यवस्थाके अनुसार वर्णाश्रमीय कर्तव्योंके रूपमें भी देखा जा सकता है. इसे भगवदाराधनाके रूपमें निभानेका आदर्श भगवद्गीतामें उपदिष्ट हुवा है : अपने-अपने कर्मोंमें अभिरत रहनेसे पुरुषको सिद्धि मिलती ही है. वह मिलती है सारे प्राणिओंकी प्रवृत्तिके मूलमें रहे परमात्माके अर्चनके एक अन्यतम प्रकारतया अपने कर्तव्यका निर्वाह करनेपर. अर्थात् उसकी अर्चनाकी भावना रखते हुवे करनेपर. ऐसा करनेसे वह कर्म अवश्य ही कर्मयोग बन जाता है.[४०] क्योंकि विष्णुपुराणमें सुस्पष्ट ऐसा प्रतिपादन मिलता है कि अपने प्रयत्नद्वारा अपनी विशिष्ट मनोगतिको परमेश्वरके साथ जोड़ देना ही 'योग' कहलाता है.[४१] एतावता कर्मानुष्ठानके इस प्रकारमें योगमार्गीय उपायोंको सर्वथा नियत न भी माना जाता हो तो सर्वथा असम्बद्ध भी माना नहीं जा सकता है. क्योंकि अपने सामाजिक कर्मोंके अनुष्ठान करते समय जगत्सृष्टा कर्मप्रेरक परमेश्वरके निरन्तर अनुसन्धानको निभाना जैसे मृदु भक्तिभावनात्मक हो सकता है वैसे ही कठोर ध्यानात्मक भी. अतः इस विषयमें हठ नहीं पकड़ी जा सकती.

स्वातन्त्र्येण कर्म-ज्ञान-भक्तिके अंग बनाये बिना स्वतो अनुष्ठेय आत्मयोग :

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार सांख्य-योगके जिन ग्रन्थोंमें श्रुतिप्रतिपादित प्रमेयसे विपरीत प्रमेयोंका प्रतिपादन मिलता है, उन अंशोंमें इनका प्रामाण्य स्वयं ब्रह्मसूत्रकारद्वारा निरस्त किया गया होनेसे मान्य नहीं. फिरभी सांख्य-योगशास्त्रोंको नित्यानित्यवस्तुविवेकरूप ज्ञानके तथा चित्तनिरोधद्वारा ज्ञानस्थापक होनेके रूपोंमें पौराणिक उपायतया मान्य किया गया है. अतः कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग के अंगतया इन्हें प्रभावकारी उपाय माना गया है. अतः केवलसांख्यप्रक्रियाके अवलम्बनद्वारा अविद्याके पांच पर्वोंमें देहाध्यास इन्द्रियाध्यास प्राणाध्यास के निवर्तनपूर्वक

तथा अहंकारके निरसनपूर्वक आत्मज्ञानार्थ प्रभावी उपाय माना गया है. आजीवन इन अध्यासोंसे रहित रहनेवाला अविद्याके बन्धनसे मुक्ति पा लेता है अथवा जन्मान्तरमें औपनिषदिक आत्मानुभूतिमें समर्थ सर्वथा मुक्तियोग्य ज्ञानीके रूपमें जनमाता है. इसी तरह केवल योगद्वारा भी यावज्जीवन योगाभ्यासरत ज्ञानके उदय होनेके कारण योगबलद्वारा ही देह त्याग कर योगी अविद्याके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है.

यदि श्रुति आदि शास्त्रोपदिष्ट कर्म-ज्ञान-भक्तिके मार्गके अंगतया अनुसरा जाये तो वह तत्तद् मार्गानुसारी फलोंके प्रदानमें भी सक्षम होता है. परन्तु धर्ममार्गसे विपरीत निन्दित वाममार्गीय योगके प्रकारोंके अनुष्ठान करनेपर या तो नरक ही अथवा जन्मान्तरमें ही किसी तरहका कोई सुख मिल पाता है. परमेश्वरावलम्बनरहित निजात्मावलम्बित स्वतन्त्र योग पौराणिक उपाय होनेसे पुराणोक्त प्रकारसे अनुष्ठान करनेपर ही फलदायक होते हैं.[४२]

उपसंहार :

इस तरह हमने देखा कि एकमेव अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वयं अनेक रूपोंमें सृष्टिमें अनन्तविध नाम-रूप-कर्मोंके स्वरूपमें लीलाविहार करनेवाला स्वीकारा गया होनेसे काश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शनकी तर्जमें वाल्लभ वेदान्तमें भी यह कहा जा सकता है कि—

ब्रह्म बन्धो ब्रह्म मुक्तिः ब्रह्म बद्धः तथेतरः।
ज्ञानाज्ञाने तथा ब्रह्म करणे मोक्षबन्धयोः।
ब्रह्मणा ब्रह्मणो बन्धो ब्रह्मण्येव यथा मतः।
ब्रह्मणा ब्रह्मणो मुक्तिः ब्रह्मण्येव तथोच्यते॥

सन्दर्भ

[१]द्रष्टव्य : तत्र प्रतिविधास्यामो वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचारइति किम्

अत्र युक्तं ? व्याख्यानम् इति, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः (ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : १।१-।१), स्मृतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयम् एतैः आदित्यमण्डलं सर्वैव विधास्यते (तैत्तिरीयारण्यक : १।२।१), श्रुतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयं प्रमाणेषु अनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते (भागवतपुराण : ११।१९।१७).

[२]वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्. उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् अविरुद्धं यत्तु अस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा एतद्विरुद्धं यत् सर्वं न तद् मानं कथञ्चन (तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।७-८).

[३]अर्थो अयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैः च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव (तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।-१०४)

[४]एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्यं प्रमाणत्वेन तद् निरूप्य तदनन्तरं यत् प्रमाणं तद् आह — अथवा सर्वरूपत्वात् नामलीलाविभेदतः विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव ही — वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्... रूपवद् नामलीलायाः विभेदानां वक्तव्यत्वात् नानाविधानि वाक्यानि प्रवृत्तानि. विरुद्धवाक्यत्वेनैव परस्परं भासमनेष्वपि अविरोधप्रकारम् आह — विरुद्धांशपरित्यागाद् इति. विरुद्धांशपरित्यागो द्वेधा वक्तव्यः, भगवत्सामर्थ्येन अलौकिकप्रकारेण भगवतः सर्वरूपत्वेन वा. अतो युक्तएव अविरोधः (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।९).

[५]कुतस्तु खलु... एवं स्यात्! कथम् असतः सद् जायेत? सत्त्वेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत "बहु स्यां प्रजायेय" इति" (छान्दोग्योपनिषद् : ६।१।२-३).

[६]तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत (बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।७).

[७]त्रयं इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एक अयम् आत्मा. आत्मा उ एकः सन् एतत्त्रयम् (बृहदारण्यकोपनिषद् : १।६।१-३).

[८]द्रव्यं कर्म च कालः स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो, ब्रह्मन्!, नच अन्यो अस्ति तत्त्वतः... सएष भगवान् लिंगैः त्रिभिः एभिः अधोक्षजः

स्वलक्षितगतिः, ब्रह्मन्!, सर्वेषां मम च ईश्वरः कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया आत्मनि यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुः उपाददे (भागवतपुराण : २।५।१४-२१) यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवते ईर्यते. सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानांगम् ईर्यते. पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिः तथा. क्रिया ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य यो अवतीर्णः कृष्णः स भागवते विशिष्टो निरूप्यते. अतः खण्डशो निरूपणं वेदे भागवतेतु समुदायेन निरूप्य तस्य लीलाः अनेकविधाः निरूप्यन्ते (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : - १।११-१२).

[९]अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनो सुकृतं भवति (शतपथब्राह्मणे : १।६।१).

[१०]विषयता मायाजन्या विषयो भगवान् (भागवतसुबोधिनी : २।९।३३) अण्वपि ब्रह्म व्यापकं कृष्णः यशोदाक्रोडे स्थितो सर्वजगदाधारो भवति (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।५४).

[११]यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः (केनोपनिषद् : ७).

[१२]एको देवो बहुधा निविष्टो अजायमानो बहुधा विजायते... तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति (मुद्गलोपनिषद् : ३), ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम् (भगवद्गीता : ४।११), अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (ब्रह्मसूत्र : ३।२।२४), तद्रूपं कृतकम् अनुग्रहार्थं तच्चेतसाम्, ऐश्वर्यात्. रूपं वा अतीन्द्रियम् अन्तःकरणप्रत्यक्षनिर्देशात् (वाक्यकारब्रह्मनन्दि), त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो... यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय (भागवतपुराण : ३।९।११).

[१३]सो अकामयत द्वितीयो मे आत्मा जायेत इति स मनसा वाचं मिथुनं समभवद् (बृहदारण्यकोपनिषद् : १।२।४) यो मनसि तिष्ठन् मनसो अन्तरो (तत्रैव : ३।७।२०) भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो... इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः (भगवद्गीता : ७।४) स मानसीनः आत्मा जनानां (तैत्तिरीयारण्यक : ३।११।१).

[१४]द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च संस्कारेण अथ कालेन महत्त्वाल्पतया अथवा शक्त्या अशक्त्या अथवा समृद्ध्या यदात्मने... क्वचिद्

गुणोऽपि दोषः स्याद्, दोषोऽपि विधिना गुणः(भागवतपुराण : ११।२१।१०-१६).

[१५](भागवतपुराण : ११।२०।६-८).

[१६](भागवतपुराण : १०।२६।११-१५).

[१७]विद्याविद्ये हरेः शक्ती ते माययैव विनिर्मिते ते जीवस्यैव न अन्यस्य...आत्मलाभो विद्यया देहलाभो अविद्यया इति. उभयोः जीवधर्मत्वं व्यावर्तयति हरेः शक्ती. तेन भगवदिच्छयैव तयोः आविर्भावतिरोभावयोः हेतुत्वम्... ते उभे जीवरूपस्यैव अंशस्य भवतो न अन्यस्य जडांशस्य अन्तर्यामिणो वा... स्वरूपाज्ञानम् एकं हि पर्व देहेन्द्रियासवः अन्तःकरणम् एषां हि चतुर्धाध्यासः उच्यते. पञ्चपर्वातु अविद्या इयं यद्बद्धो याति संसृतिम्... विद्यया अविद्यानाशेतु जीवो मुक्तो भविष्यति. देहेन्द्रियाः सर्वे निरध्यस्ताः भवन्ति... स्वबुद्ध्या लीनवत् प्रतिभानेऽपि न सर्वेषां बुद्ध्या तथा प्रतीयन्ते... एवं साधनसम्पत्तौ पञ्चपर्वा विद्या सम्पद्यते यया कृत्वा जातसाक्षात्कारः तं प्रविशेद् (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : ४६).

[१८]ये अस्माभिः ज्ञानादयः उपायत्वेन उक्ताः... भगवत्कृपायुक्तत्वे तेषामपि फलसाधकत्वात्... वस्तुतस्तु कृपैव साधनम् (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : २।३०-७). [१९]कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः उदासीनतया उद्भेदाद् नहि सर्वात्मना फलं, भक्तौ अत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः आत्मानं च ततो दद्याद् सुखे का परिदेवना! सहनं खननं गंगातीरस्थितिवदेव तत् सांख्यो योगः तथा भक्तिः. तत्र प्रेमा अतिसौख्यदम् (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : २।३१२-३१४).

[२०](श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।१३ , कठोपनिषद् : २।३।१०-११).

[२१]सांख्यो बहुविधः प्रोक्तः तत्र एकः सत्प्रमाणकः अष्टाविंशतितत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः... अन्ये सूत्रे निषिध्यन्ते योगोऽपि एकः सदादृतः यस्मिन् ध्यानं भगवतो निर्बीजेऽपि आत्मबोधकः... चित्तवृत्तिनिरोधो योगः, सच भगवद्ध्यानार्थम् अंगत्वेन उपयोज्यते स प्रामाणिकः यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तः तथासिद्धिहेतुः ज्ञानात्मा च तथा अन्ये देहेन्द्रियादिसाधकाः ते अप्रामाणिकाः... ध्यानाभावेऽपि आत्मबोधांगभूतः प्रामाणिकएव... वैराग्यज्ञानयोगैः च प्रेम्णा च तपसा तथा एकेनापि दृढेन ईशं भजन् सिद्धिम् अवाप्नुयात्. पञ्चांगयुक्तः पुरुषो भगवन्तं भजेत्. तत्र प्रथमं वैराग्यम् अंगम्. तदभावे भगवदावेशाभावात्

न भजनसिद्धिः..... पञ्चानां समुदायो दुर्लभइति गौणपक्षम् आह... (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।९३-९५).

[२२](सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।१०३).

[२३]मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठा अहम्... शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्य एकान्तिकस्य च (भगवद्गीता : १४।२६-२७).

[२४]आत्मैव इदम् अग्रे आसीत्. सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत् सो 'अहम् अस्मि' इति अग्रे व्याहरत्. ततो 'अहं'नामा अभवत्. तस्मादपि एतर्हि आमन्त्रितो 'अहम् अयम्' इत्येव अग्रे उक्त्वा अथ अन्यद् नाम प्रब्रूते यद् अस्य भवति. स यत्पूर्वो अस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मान् औषत् तस्मात् पुरुषः ओषति ह वै स तं यो अस्मात् पूर्वो बुभूषति यः एवं वेद. सो अबिभेत् तस्माद् एकाकी बिभेति. सह अयम् ईक्षाञ्चक्रे यद् मदन्यत् नास्ति कस्मान्नु बिभेमि इति. ततएव अस्य भयं वीयाय. कस्माद् व्यभेष्यद् द्वितीयाद् वै भयं भवति. सवै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत्. सह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुंमासौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्... ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीद्. तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति. तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्. तद् यो-यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तद् अभवत् (बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१-३ ,१०).

[२५](छान्दोग्योपनिषद् : ६।८-१६).

[२६]अनेकधा सृष्टिकथनस्य प्रयोजनम् आह — यथाकथञ्चिद् माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं ''तत् त्वम् असि''-आदिकं तथा. भक्तिस्वरूपम् आह — माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढसर्वतोधिकस्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः... (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।४१-४२).

[२७](भागवतपुराण : २।२।६-१४).

[२८](सुबोधिनी : २।२।६-१४).

[२९](भागवतपुराण : ११।३।३१).

[३०](भागवतपुराण : ११।२०।३१-३५)

[३१]सवै नैव रेमे. तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. सह

एतावान् आस (बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।३).

[३२](सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।१३).

[३३](ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : ४।१।११).

[३४](भागवतसुबोधिनी : १०।३७।२७).

[३५]सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानांगम् ईर्यते पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिः तथा. ब्रह्मकाण्डे ज्ञानसिद्धयर्थम् उपासनाः निरूप्यन्ते. तत् चित्तशुद्धिद्वारा इति केचित्. फलदानद्वारा माहात्म्यप्रतिपादनेन भक्तिद्वारा इति सिद्धान्तः. तथा पुराणोक्तानां दुर्गागणपतिप्रभृतीनां विशिष्टशेषत्वम् आवरणदेवतात्वेन, तथापि भिन्नार्थत्वम् आशंक्य तत्तद्रूपो हरिः इति उक्तम्. साधनरूपः फलरूपः स्वयमेवेति एकवाक्यता (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।१२), वेदोक्तानाम् अग्न्यादीनां देवोपासनाबुद्ध्या अग्निहोत्रादिकरणे भेदबुद्धेः विद्यमानत्वात् तत्तद्देवतासायुज्यम्... एकदा बहुदेवोपासनायां कर्मप्राधान्यात् कर्ममार्गीयमेव फलं न उपासनाफलम् (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : २।२६५-२६७), श्रुतौ ब्रह्मत्वेनैव सर्वत्र उपासनायाः उक्तत्वाद् उपास्येषु भगवद्विभूतिरूपत्वेन शुद्धब्रह्मरूपेष्वपि अतथात्वं ज्ञात्वा श्रुतिः ब्रह्मत्वोपासनायाः फलसाधनत्वं वदति नतु उपास्ये ब्रह्मतामपि इति मन्वानाः ये उपासते ते 'प्रतीकालम्बनाः' इति उच्यन्ते...किन्तु शुद्धब्रह्मत्वं ज्ञात्वा ये उपासते तानेव ब्रह्म प्रापयति इति बादरायणः आचार्यो मन्यते... वस्तुतस्तु उपासनायाम् उपास्यस्वरूपज्ञानस्यापि अंगत्वात्... (ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : ४।३।१६).

[३६](सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।११ — २।२-३).

[३७]ननु कृतिसाध्यो यागादिः कथं नित्यः ? इति चेत् तत्र आह... यथा ध्यानधारणादिभिः भगवन्मूर्तेः आनन्दरूपस्य अभिव्यक्तिः तथा आधानादिसोमान्तक्रियाभिः वेदबोधितदेहचेष्टाभिः ध्यानादिसहिताभिः यज्ञस्वरूपिणोऽपि भगवतो अभिव्यक्तिः इति अर्थः (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : २।१५).

[३८]यस्यै देवतायै हविः गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट् करिष्यन् साक्षादेव तद्देवतां प्रीणाति प्रत्यक्षाद् देवतां यजति (ऐतरेयब्राह्मण : ११।८।१).

[३९]सच स्वर्गो द्विविधः... सुष्ठु अर्ज्यते इति स्वर्गः सत्त्वाकारान्तःकरणे सर्वेहानिवृत्तौ यद् आत्मसुखं प्रकटीभवति तद् अग्निहोत्रादिसाध्यम्. सर्वदेवानां तुष्टौ आध्यात्मिकत्वे यागस्य जाते आत्मानन्दः प्रकटो भवति. एतदभावेतु भौतिकत्वे

स्वर्गलोको भवति... लौकिको हि अभिलाषानन्तरं प्रयत्नसम्पाद्यः वैदिको न तथा. तादृशं सुखं किम् इति आकांक्षायां विषयजन्यं तथा भवितुं न अर्हति (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : २।४-५).

[४०]स्वे-स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् श्रुणु, यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वम् इदं ततं स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः (भगवद्गीता : १८।४५-४६).

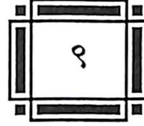
[४१]आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः तस्याः ईश्वरसंयोगः 'योगः' इति अभिधीयते (विष्णुपुराण : ६।७।३).

[४२]एवं सांख्ययोगभक्तीनां मेलने फलम् उक्त्वा केवलानां फलम् आह... केवले सांख्ये द्वयम् अंगं : संघाताद् भिन्नतया आत्मज्ञानम् अहंकाराभावः च. एतयोः निर्वाहः 'नैव किञ्चित् करोमि' इति बुद्धिः वैराग्यं च. जन्मान्तरे ज्ञानी सन् उत्पद्यते... केवलयोगम् आह... यावज्जीवं योगाभ्यासे ज्ञानोदये योगबलेनैव देहं त्यक्त्वा अविद्यातो विमुच्यते. भक्तिसहितः चेत् पूर्वोक्तमेव फलम्... निषिद्धयोः फलम् आह.. धर्ममार्गाद् भ्रष्टे तत्सिद्ध्यर्थं कदाचिद् निषिद्धमपि कुरुतः अपेयपानेन नाडी शुद्धा भवतीति विमार्गे परिपोषिते नरकायैव भवतः पश्चाद् (जन्मान्तरे) किञ्चित् सुखं भवेत्... सांख्ययोगशास्त्रं पुराणमूलकम् अंगत्वेन निरूपितम्. तदपि परम्परया नित्यानित्यवस्तुविवेकस्य ज्ञानांगत्वम्. तथा चित्तनिरोधस्य ज्ञानस्थापकत्वम्. अन्यथा ज्ञानं स्तुतं भवतीति तयोः अंगं सांख्ययोगौ नतु सर्वथा तत् प्रमाणम्. अप्रमाणांशं स्पष्टयति पदार्थतत्त्वनिर्धारे न प्रमाणं कथञ्चन (सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्ध : २।२०५-२०८).



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



वैष्णवी आस्था और उसके सामने उभरती आधुनिक चुनौतियां

(उपक्रम)

द्वैताद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद द्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद या अचिन्त्यद्वैताद्वैतवाद की विविध दार्शनिक अवधारणाओंकी वाङ्मुद्रामें प्रकट होनेवाले 'वैष्णव धर्म' या 'वैष्णवी आस्था' में सामान्यरूपेण विष्णुको ही केन्द्रवर्ती मौलिक परम तत्त्वके रूपमें स्वीकारा गया है. वैष्णवपुराणों और वैष्णवागमों के अलावा **''विष्णुः गोपा अदाभ्यो अतो धर्माणि धारयन्... तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः''** (ऋक्संहि.१।२२।१८-२०) **''विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि''** (ऋक्संहि.१।१५३।१) **''विष्णुमुखाः वै देवाः छन्दोभिः इमान् लोकान् अनपजय्यम् अभ्यजयन्''** (तैत्ति.आर.१०।१।१०) जैसे ऋग् यजु आदि वेदोंके वचनोंमें भी 'विष्णु' नामक देवके अतिशय महिमावान् होनेका निरूपण भी मिलता तो है ही.

(वैष्णवी आस्था)

यद्यपि आधुनिक भारतीय विद्याविद् वैष्णव शैव या शाक्त आदि धर्म-सम्प्रदायोंमें परमतत्त्वतया समादृत विष्णु शिव या शक्ति आदि देवताओंको वैदिक अधिदेव न मान कर पौराणिक अधिदेव मानते

हैं. परन्तु पारम्परिक दृष्टिकोण इस विषयमें वेद और पुराणो के बीच उतना अधिक अन्तर स्वीकारनेका नहीं था. अतएव वेदप्रतिपादित अथवा पुराणप्रतिपादित देवताओंके बारेमें न तो एकान्तिक अभेद और न एकान्तिक भेद ही माना जाता था. अतएव अमरकोषमें भी वैदिक 'विष्णु' 'त्रिविक्रम' 'नारायण' नामोंकी तरह ही 'कृष्ण' 'वासुदेव' 'देवकीनन्दन' आदि पौराणिक नाम भी एक ही देवके विभिन्न पर्यायवाची नाम माने गये हैं.

ऋक्संहिताको ही पकड़ कर चलें तो एक और अनूठा पक्ष उभर कर सामने आता है. यथा : "**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**"(ऋक्संहि.८।५८।२), "**इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः... एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः**"(ऋक्संहि.१।१६४।-४६), "**त्वम् अग्ने वरुणो जायसे यत्, त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः, त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवाः, त्वम् इन्द्रो दाशुषे मर्त्याय**"(ऋक्संहि.५।२।१) "**यो देवानां नामधा एकएव**" (ऋक्संहि.१०।८२।३) वेदके इन विधानोंपर केवल दृष्टिपात करने मात्रसे इतना तो सरलतासे समझा जा सकता है कि आरंभसे ही न तो हम संस्कृतिविहीन प्रकृतिपूजावादी (paganistic) थे, न बहुदेववादी थे (polytheistic) और न एकदेववादी या मेक्समूलरोक्त एकदेवाश्रयवादी (monotheistic/henotheistic)ही.

हम तो "**यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे गात्रा विभेजिरे तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः**" (अथ.संहि.१०।७।१६) "**यद् वै किञ्च अनूक्तं तस्य सर्वस्य 'ब्रह्म' इति एकता**" (बृह.उप.१।५।१७) इन वेदवचनोंका अनुसरण करनेवाले ब्रह्माद्वैतवादी थे, जिस एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अनेक नाम और अनेक रूप और उन अनेक नाम-रूपोंकी अनेक प्रकारकी आराधनाओंके अनुमोदक अर्थात् बिना किसी स्पर्धा-कलहके स्वीकार करनेवाले थे. अतएव जिस देवताके यज्ञ-होमादि कर्म, पूजन, जप, ध्यान, प्रार्थना या भक्ति आदिके आराधनाके प्रकारोंको अनुसरणार्थ

हम अपनाते थे, उस आराधनाकी रीतिमें अपने इष्टदेवके प्रति अनन्यश्रद्धा या अनन्याश्रय की भावना रखते होनेपर अन्यकी अस्वीकृति या अवहेलना करनेवाले हम नहीं थे. हमारे इष्टदेवके नामसे पृथक् या इष्टदेवरूपसे पृथक् अथवा उसकी आराधनाकी रीतिसे पृथक् भी किसी अन्य नामवाले देवरूपकी आराधनाकी अन्य रीति हमारे भीतर असहिष्णुता स्पर्धा या धर्मान्तरण की उद्दाम आकांक्षाको प्रबल नहीं बना देती थी. जैसा कि वैदिक निरुक्तकार कहते हैं :

> ‘‘यद्देवः स यज्ञो वा यज्ञांगं वा तद्देवता भवति... अपिवा कामदेवता स्यात्... अपिहि अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते... महाभाग्याद् देवतायाः एकएव आत्मा बहुधा स्तूयते. एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति... प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च. इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयः, कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः... तासां महाभाग्याद् एकैकस्याअपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति, अपिवा कर्मपृथक्त्वात्... अपिवा पृथगेव स्युः पृथग्धिस्तुतयो भवन्ति’’.
>
> (निरु.७।१।४-७।२।६).

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भी अतएव ‘बालबोध’ नामक लघुकाय उपदेशग्रन्थमें मोक्ष पुरुषार्थके [१]स्वतोमोक्ष और [२]परतोमोक्ष यों दो मूल प्रभेद प्रतिपादित करते हैं. इन दोनोंके चार : [१/क]सांख्यशास्त्रीय विवेक-बाह्यत्याग और वैराग्य से लभ्य स्वतोमोक्ष [१/ख]योगशास्त्रीय यमनियमादि-ध्यानधारणासमाधिसे लभ्य स्वतोमोक्ष [२/क]शैवागमोक्त शिवकी आराधनासे होता परतोमोक्ष [२/ख]वैष्णवागमोक्त विष्णुकी आराधनासे होता परतोमोक्ष यों अवान्तर उपभेदोंको भी स्वीकारते हैं. इसी तरह ‘तत्त्वार्थदीपनिबन्ध’ नामक ग्रन्थके सर्वनिर्णय प्रकरणमें महाप्रभु वैदिक कर्मानुष्ठानसे लभ्य आत्मानन्दानुभूतिरूप मोक्ष, औपनिषदिक ब्रह्मकी उपासना-ध्यान आदिसे प्राप्य ब्रह्मज्ञानलभ्य ब्रह्मानन्दानुभूतिरूप मोक्ष भी मान्य करते ही हैं.

इसी तरह माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढसर्वतोधिक स्नेहरूपा भागवती प्रेमलक्षणा भक्ति और उसे प्राप्त करनेको नवधा भक्तिके उपायोंके अनुष्ठानसे लभ्य भजनानन्दको भी मान्य करते हैं. साथ ही साथ महाप्रभुने अपना यह अभिप्राय भी स्पष्ट किया है कि सकामभक्ति तो परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी भी भजनीय स्वरूपकी क्षुद्रदेवताके रूपमें पदावनतिका हेतु बन जाती है; और अन्यान्य विभूतिरूप देवताओंका भी ब्रह्माद्वैतबुद्धिद्वारा किया जाता भजन उन देवताओंको मोक्षप्रापक बना पाता है.

एकेश्वरवाद या अनेकेश्वरवाद के दो विरोधी खेमोंमें बँटी आस्थाओंके बीच चलते झगड़ेमें हमारी व्यापक लचीली प्रज्ञा कभी उलझी नहीं. इसीलिये हमारी आधिदैविकी आस्थाका भी ऐसा व्यापक और लचीला स्वरूप प्रकट हो पाया. हमारी आस्थाके स्वरूपकी तादात्म्यनियतिमें हमें पश्चिमी तर्कशास्त्रमें समादृत आधारभूत तीन तर्कनियमोंके अन्तर्गत द्वितीय अव्याघातनियम और तृतीय मध्यपातिव्यावर्तकनियम कभी स्वीकरणीय नहीं लगे. हमें कभी ऐसा नहीं सूझा कि एक आस्था सत्य तो दूसरी आस्था अवश्य मिथ्या ही होनी चाहिये; अथवा दो विरोधी आस्थायें एक साथ सत्य हो नहीं सकती. अतएव अपने-अपने अनुष्ठेय कर्मोंके अन्तर्गत किसी देवका एकमात्र अधिष्ठाता होना या अनेक देवताओंका किसी कर्ममें समुच्चय या विकल्प या अन्वाचयवाला गौणमुख्यभाव होना किसी या किन्हीं देवताओंके प्रति अपराधी या विद्रोही होनेकी आत्मग्लानिसे हमें भर नहीं पाया. अतएव अन्य आस्थाओंको दण्डनीय या धर्मान्तरणीय प्रमुख कर्तव्य बनानेवाले असहिष्णु देवके साथ जुड़ी आस्थाओंकी तरह. हमारी आस्था कभी भी अन्यान्य धर्मानुष्ठानोंकी विविधरूपताकी निरासिका बन नहीं पायी.

इस विषयमें हमारी आस्थाके स्वरूप और उसकी प्रक्रिया के निरूपक कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिताके ये तीन वचन अतीव प्रकाशपाती हो सकते हैं :

[१]“‘नमो देवेभ्यः !’ इति आह याः चैव देवता यजति याः च न, ताभ्यएव उभयीभ्यो नमस्करोति आत्मनो अनार्त्यै” (तैत्ति.संहि.२।६।९).

[२]“हुतादो वा अन्ये देवाः अहुतादो अन्ये. तान् अग्निचिदेव उभयान् प्रीणाति” (तैत्ति.संहि.५।४।५).

[३]“यो वा अयथादेवतम् अग्निं चिनुते आ देवताभ्यो वृश्च्यते पापीयान् भवति, यो यथादेवतं, न देवताभ्यः आ वृश्च्यते वसीयान् भवति” (तैत्ति.संहि.५।७।१).

ये वचन वैसे तो श्रौतकर्मकाण्डीय देवताओंके सन्दर्भमें कहे गये हैं पर इन्हें वैष्णवपौराणिक या वैष्णवतान्त्रिक ध्यानोपासना शरणागति या भक्तिभाव के आलम्बन बननेवाले विभिन्न आधिदेविक रूपोंके बारेमें भी लागू करनेपर उन-उन देवरूपोंकी पूजाके हेतु या देवनामोंके जपके हेतु भी अपनाया जा सकता है. न केवल पञ्चदेवोपासक प्रत्युत वैष्णव शैव शाक्त आदि एकदेवोपासकोंकी आस्थाओंके भी बारेमें भी अपनाया जा सकता ही है.

यही बात देवताओं के पुरुषविध (anthropomorphic) या अपुरुषविध (non-anthropomorphic) अर्थात् साकारेश्वरवाद या निराकारेश्वरवाद के झगड़ोंमें भी खरी उतरती है. फलस्वरूप हम भारतीयोंको पहले कभी इस तरहकी समस्याओंके साथ जूझनेको बाधित नहीं होना पड़ा था. अतएव निराकारेश्वरवादी न्यायमत एवं शांकर वेदान्त की तरह साकारेश्वरवादी वैष्णव-शैव वेदान्तों के बीच बहुधा शास्त्रार्थ चलते रहनेके बावजूद इस समस्याने ऐसा विकराल रूप कभी धारण नहीं किया कि किसी एक आस्था द्वारा दूसरी आस्थाके मठ-मन्दिरोंको ढहा देना या मृत्युदण्डका अधिकारी मान लेना किसीको आवश्यक लगा हो !

(वैष्णवी आस्थाके सामने प्रकट हुयी चुनौतियां)

फिरभी आज हमारी नयी पीढ़ीकी आस्थामें न तो ऐसी व्यापक लचीलापन ली हुयी स्वधर्मनिष्ठा झलकती है; और न स्वीय या परकीय धर्मोंके अनुसरण या अननुसरण का ही कोई रागद्वेषातिरेक दिखलायी देता है. यह तथ्य उभर झलकता ही है कि अपने-अपने धर्म-सम्प्रदायों और देव-आराधनाओं के बारेमें श्रद्धाभाव वर्तमानमें कुछ बढ़ता सा ही दिखलायी देता होनेपर भी, ऐसी किसी भी आस्थामें एकनिष्ठ न होना ही आजकी फेशन बनती जा रही है. इस फेशनके कारण बहुधा किसी एक धर्म-सम्प्रदायके संकीर्ण दायरेमें प्रतिबद्ध होना, कैदमें फंस जानेकी पीड़ा देनेवाली बात लगती हो ऐसा लगता है. कुछ अल्पसंख्याक अनुगामी इस तरह प्रतिबद्ध होना चाहते भी हों तो आधुनिक जीवनप्रणाली उन्हें अनुकूल न लगती होनेके कारण या तो वे समाजकी मुख्यधारासे वे कट जाते हैं. अथवा उनके साथवाले लोगोंको भीति सताने लगती है कि ऐसा व्यक्ति प्रतिगामितावादकी अस्वस्थ मनोवृत्तिका तो कहीं शिकार नहीं हो गया!

अतः ऐसे भूतकालीन श्रेष्ठ आदर्शको वर्तमानमें निभाना या तोड़ ही देना? अथवा इस तरहकी आस्थाकी जो भी भवितव्यता हो उसके भरोसेपर छोड़ कर उसे हमारे उपेक्षाभावका विषय बना लेना चाहिये? क्योंकि हमारी ऐसी व्यापक और लचीली आस्थाके साथ-साथ हमें जब भिन्न आस्थावाले लोगोंके सम्पर्कमें, अनेक प्रकारकी आवश्यकताओंके कारण, आने या रहने को विवश होना पड़ता है, तब उन्हें हमारी आस्था या तो आस्थाहीनता जैसी या व्यवस्थाविहीन हास्यास्पदता लगती है. कभी ऐसी आस्था हमारी असामर्थ्य भी लगती है. ऐसी स्थितिमें उनके समक्ष हमारी आस्थाका प्रकट स्वीकार करना अथवा सम्बन्धोंमें अन्तराय न पड़ जाये ऐसे संकोचवश ऐसी आस्थाकी उपेक्षा ही कर देनी?

इस तरहके अनेक प्रश्न हमारी आस्थाके सामने आज गम्भीर चुनौतीके रूपमें खड़े हो गये हैं.

पश्चिमी विद्वान्; और उनके समान ही दृष्टिकोण अपनानेवाले भारतीय विद्वान् भी, वेदोंको बहुदेववादी मान कर चलते हैं. अथवा तो पृकृतिपूजावादी मानते हैं. उनकी यह धारणा आधुनिक शिक्षाप्रणाली द्वारा भी बहुप्रचारित होती रहती है. अतः वैष्णव किशोरों और युवकों के मनोबुद्धिमें भी वह व्यापक रूपसे आरूढ़ होती जाती है. ऐसी स्थितिमें आधुनिक शिक्षित युवा जनमानसमें वैष्णवी आस्थाके विपरीत विष्णुके बारेमें मूलतः या तो सूर्य आदि जैसे अनेक वेदोक्त आधिभौतिक पदार्थोंके पुराणोंद्वारा दैवीकरणकी बात ठंस जाती है. अथवा विष्णु या उसके अवतार राम-कृष्ण आदि कुलपरम्परागत श्रद्धाके भाजन होनेके कारण उनके बारेमें किसी भी तरहके चिन्तन या चर्चा में न उलझनेकी पलायनवादितामें ही वे अपना हित मान कर चलने लगते हैं.

दुनियाके सभी देशोंके बीच वर्तमान कालमें पारस्परिक सूचनाओंके आदान-प्रदानकी आधुनिक प्रणाली विकसित हुयी है. व्यापारिक सामाजिक या सांस्कृतिक सम्पर्कोंको घनिष्ठ बनानेवाले संसारव्यापी माध्यमोंकी सुलभताके कारण भी हर व्यक्ति स्वयं उसकी आस्थासे विपरीत या अविपरीत भी सभी तरहकी आस्थाओंको निकटतासे जानने या निरखने भी लग गया है. किसी भी एक आस्थाके साथ, परन्तु, प्रतिबद्ध होनेकी मानसिकता अब क्षीणसे क्षीणतर होती जा रही है. अतएव ऐसी स्थितिमें पराई आस्था और निज आस्था के बीच रही विभाजकरेखाका भी धुंधला जाना एक स्वाभाविक नियति बनती जा रही है.

(आधुनिक जीवनशैलीके कारण सामने आती चुनौतियां)

किसी धर्म या सम्प्रदाय की मौलिक आस्थाकी प्राथमिक महत्ताके बाद दूसरे क्रमपर उस आस्थाको जीनेवाले अनुगामिओंकी जीवनशैलीका पक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है.

आज शनैः-शनैः ग्रामांचलकी जनता नगरोंकी ओर निष्क्रमण करने लगी है, नगरोंकी जनता महानगरोंकी ओर; इसी तरह महानगरकी जनता विदेशोंकी ओर आव्रजन करने लगी है. ऐसी स्थितिमें ग्रामांचलीय फुरसद भरी जीवनशैली शनैः-शनैः विलुप्त होती जा रही है. ऐसी परिस्थितिमें धार्मिक अनुष्ठानोंकी जटिलता तथा बहुकालसाध्यता भी आधुनिक जीवनशैलीमें व्यवधान प्रकट करने लगी है.

उदाहरणतया निज पारिवारिक घरमें भगवत्सेवाका सांगोपांग अनुष्ठान सम्पन्न करने बाद ही धंधा या नौकरी आदिके लिये दौड़ना एक कठिन उत्तरदायित्व लगता है. तिसपर भी साम्प्रदायिक धार्मिक त्यौहार आदि उत्सवोंपर नौकरी परसे छुट्टि न मिलना अथवा धंधा-नौकरी के हेतु अपने आवासीय स्थलसे सुदूर स्थलोंपर यात्रार्थ जाना भी अनिवार्य बन जाता है. अतः वहां साम्प्रदायिक आस्थाप्रणालीके अनुरूप आवास खान-पान आदिकी व्यवस्थाका उपलब्ध न हो पाना भी आस्थाह्रासका हेतु बनने लगा है. यह भी पुनः स्कूलमें बिताये जाती बाल्यावस्थासे लेकर युवावस्था या प्रौढावस्था पर्यन्त चलती व्यस्तता है. जो धार्मिक जीवनशैलीको वृद्धावस्थामें अवकाशप्राप्तिके बाद ही, शारीरिक सक्षमता बच गयी हो तभी, स्वधर्मतया अनुसरणार्थ शक्य बना पाती है.

महाप्रभुके ज्येष्ठ आत्मज 'साधनदीपिका' नामक ग्रन्थमें कहते हैं कि किसी भी देहधारी प्राणीके लिये सभी तरहके कर्मोंका त्याग शक्य न होनेसे भक्तिमार्गके अनुसार वर्णाश्रमधर्मोंको निभानेवालेके भीतर आसुरावेश नहीं होता. ऐसी स्थितिमें एक ओर अशक्यप्राय बने हुवे वर्णाश्रमधर्मानुसारी आह्निक कर्तव्यों और शौचाचारोंको निभाना और दूसरी ओर प्रातःकालसे ले कर रात्री तक नवधाभक्तिवाली भगवत्सेवाको भी निभाने जानेपर प्रतिपदपर अनेकविध स्पर्धाओंमें उलझी जीवनशैलीका या तो परित्याग कर्तव्यतया स्वीकारना पड़ेगा. अथवा अनियततया

जो कुछ भी जैसा भी आपाधापी बन पड़े उससे सन्तोष मानना पड़ेगा? महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य यद्यपि अपने 'विवेकधैर्याश्रय' 'कृष्णाश्रय' 'चतुश्लोकी' और 'भक्तिवर्धिनी' आदि उपदेशग्रन्थोंमें कहते हैं कि भगवान्‌की शरणागति स्वीकार कर, भगवान्‌के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो कर भगवद्भजनमें तत्पर रहना देशकाल या लिंग वयोवस्था अथवा वर्णाश्रम की सीमाओंमें न बंधनेवाला हमारा एकमात्र प्रमुख आत्मधर्म है. फिरभी उसे निभाने जानेपर आधुनिक स्पर्धा भरी सत्वर जीवनशैली निश्चित ही आड़े आ जाती है.

(वैष्णवी आस्थाकी प्रचार-प्रसारशैलीके सामने आती चुनौतियां)

ग्रन्थोपदिष्ट सैद्धान्तिक आदर्शोंके विपरीत आजकी तारीखमें वैष्णव सम्प्रदायने अपनी आस्थाके प्रचार-प्रसार और निर्वाह के हेतु कुल चार तरहके उपायोंका अवलम्बन करना चाहा है :

१.भक्तिमार्गीय भजनकी रीतिका दृश्य-श्राव्य भागवतसप्ताहों द्वारा व्यावसायिक उपदेश.

२.भगवत्सेवाकी व्यावसायिक झांकिओंके सार्वजनिक प्रदर्शन.

३.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें यात्राके अन्तर्गत मुकामों अर्थात् ८४ बैठकोंकी यात्रा अनुगामी जनोंको करवानी और इसी तरह व्रजभूमिके ८४ कोसकी भी यात्रा करवानी.

४.वैष्णव सम्प्रदायमें धार्मिक दार्शनिक ऐतिहासिक सामाजिक इतर आस्थाओंके साथ निज आस्थाके तुलनात्मक स्वरूप तथा अन्तमें आधुनिक युगके कारण उभरती समस्या और चुनौतियों का सामना या समाधान कैसे करना इस बारेमें कोई ठोस अनुसन्धानपूर्ण चिन्तनात्मक लेखसामग्री प्रकट हो नहीं पाती है. पुरानी घिसी-पिटी बातोंको दोहरानेवाली लेखसामग्री और किस धर्मगुरुने कहां किस स्थलकी प्रचारयात्रा

की तथा किसके पुत्र या पुत्री के विवाहमें कितनी संख्यामें अनुगामी जनताने कितने आनन्द एवं उत्साह के साथ मनाया, बस इससे अधिक कोई स्थायी मूल्यकी लेखसामग्री प्रकाशित नहीं हो पाती है. हां, कुछ गोस्वामी महानुभावोंने अपनी-अपनी वेबसाइटें खोली हैं परन्तु मुझे नहीं लगता कि मुद्रित पत्रिकाओंके स्तरसे इनमें कोई उल्लेखनीय अन्तर हो.

इन चारों तरहके आयोजनोंमें जनताको आकर्षित कर के द्रव्य एकत्रित हो पाता होनेसे आधुनिक धर्मोपदेशकोंकी आजीविकाके उपार्जनके तो ये सरल एवं सफल उपाय माने जा सकते हैं. फिरभी मौलिक वैष्णवी आस्थाका प्रचार-प्रसार इन पद्धतिओंके कारण किस हद तक अनुगामी जनताको अनुप्राणित करने सफल हो पाया है! यह विचारणीय विषय लगता है. क्योंकि स्वयं अनुगामी जनता इन्हें कितना पर्याप्त मानती है, उसका व्यापक सर्वेक्षण किया जाना भी आवश्यक है. कहीं ऐसा तो नहीं कि जिस अनुगामी वर्गको अपने पारिवारिक वातावरणके प्रभाववश जो श्रद्धाभाव पूर्वसिद्ध ही है उस श्रद्धाभावके केवल मिथ्या तुष्टीकरणसे अधिक इन उपायोंमें अन्य किसी भी प्रकारकी प्रभावोत्पादकता हो ही नहीं. फिरभी वैष्णवी आस्थाके प्रचार-प्रसारमें जुटे वर्गको आत्मत्राणका एकमात्र उपाय यह लगता होनेका कारण, इससे अधिक कुछ कर न पानेकी कोई विवशतामात्र भी यह हो सकता है. अर्थात् इनमें किसी भी तरहका पुरुषार्थ जैसा कुछ भी न हो. इन आयोजनोंमें, निःसन्देह, श्रोता दर्शक यात्री या पाठक के रूपमें सम्मिलित होनेवाली जनताके भीतर धार्मिक भावनाका तात्कालिक उत्साह तो भरपूर झलकने और छलकने लगता है ऐसा तो देखा जा सकता है. इसके अलावा, परन्तु, स्थायी आध्यात्मिक या आधिदैविक प्रभाव या निष्ठा दृढ़ हो पाये ऐसी आशाकी कोई भी किरण इनमें फूटती दिखलायी तो नहीं देती है.

(वैष्णवी धर्मसंस्थाओंमें धार्मिक अधिकार और कर्तव्योंके निर्वाह तथा समायोजन की शैली और चुनौतियां)

वैष्णव सम्प्रदायमें धर्मसंस्थाओंके नामपर [क]बहोत सारे भारत तथा विदेशों में स्थापित सार्वजनिक देवालय, [ख]महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य श्रीप्रभुचरण श्रीनाथजी आदिकी सौ-डेढ़ सौ जैसी बैठकें, [ग]कतिपय ग्रन्थ एवं मासिक पत्रिकाओं के प्रकाशनगृह, [घ]स्वयं अनुगामी जनताके भीतर यहां-वहांके कुछ ग्रन्थ पढ़ कर सत्संग करानेवाले वैष्णवजनोंके सत्संगमण्डल और अन्तमें [ङ]अन्तमें तथाकथित अन्तरराष्ट्रिय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् जैसी धार्मिक संस्थायें कार्यरत है.

[क]इनमें जहां तक देश-विदेशस्थित सार्वजनिक देवालयोंका प्रश्न है, उनमें कर्मचारी वर्ग स्वयं वस्तुतः कितना वैष्णव सम्प्रदाय सिद्धान्त और आदर्शों में आस्थाशील है अथवा कितना केवल अन्य किसी भी तरहकी नौकरी करने लायक न होनेके कारण केवल आर्थिक लाभकी दृष्टिसे तुलसीकी कण्ठी पहना दी गयी होनेके कारण इन देवालयोंद्वारा उपार्जित द्रव्यसे अपने परिवारके पुत्र-पुत्रियोंको पढ़ा-लिखा कर उन्हें कहीं इस त्रासदीमें फंसना न पड़े ऐसी विवशताके कारण जुटा हुवा है. यह निश्चित करना इसलिये महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि ऐसी स्थितिमें जिस संस्थाको आस्थाके प्रचार-प्रसार-निर्वाहार्थ सर्वाधिक कार्यरत रखनेमें वैष्णव सम्प्रदायका धनबल जनबल और समय-क्रियाशक्ति लगी हुयी है स्वयं उसी धार्मिक संस्थामें कार्यभारी व्यक्तिओंका केवल नौकरीपेशा व्यक्तिओंके भरोसे चलाना इस सम्प्रदायके आस्थादारिद्र्यका बहोत बड़ा प्रमाण माना जाना चाहिये. जिस भगवत्सेवाकी अधिकारिताको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने जाति-वर्ण-आश्रम-लिंग-के प्रभेदोंके बन्धनसे मुक्त रखना चाहा उसी भगवत्सेवाके संस्थाकीय स्वरूपमें ब्राह्मणवर्णको अनिवार्य माननेकी भ्रान्तिके वश इस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंमें निष्ठाशील जनताको केवल दर्शनाधिकारी मान बहिष्कृत किया गया है.

[ख] महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य श्रीप्रभुचरण आदिकी बैठकोंके बारेमें एक दारुण वास्तविकता यह है कि अधिकांश ये बैठकें ठेकेदारीपर उठायी जाती होनेके कारण वैष्णवोंके यात्राकालकी अवधिमें खोली और चलायी जाती हैं. अन्यथा बंद ही रहती हैं. ठेकेदार जो ठेकेपर बैठकें लेते हैं उन्हें अपनी निवेशित पूंजीके आधारपर कुछ कमाई कर लेनेके अलावा सम्प्रदायके सिद्धान्त परम्परा या आस्था के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं होता. मुझे नहीं लगता अन्य किस धर्मसम्प्रदायके देरासर मन्दिर गुरुद्वारा चर्च या मस्जिद-मक़बरा इस तरह आस्थाहीन कर्मचारियों या आर्थिक ठेकेदारी लेनेवालों द्वारा चलाये जाते होंगे! इन सचमुचमें ऐतिहासिक और कतिपय कपोलकल्पित तथ्योंके आधारपर घोषित पवित्र स्थलोंकी ऐसी दुर्गति वैष्णवी आस्थाके लिये वस्तुतः गम्भीरतम चुनौती है.

[ग] ग्रन्थ और त्रैमासिक/मासिक/पाक्षिक पत्रिकाओं के प्रकाशनगृहों के बारेमें धार्मिक सार्वजनिक न्यासरूप या निजी संस्थाओंका तो नाम तो केवल विधिक आवश्यकताके आधारपर दिया जाता है अन्यथा एकलव्यक्तिपुरुषार्थ (oneman's show) मानना ही अधिक उपयुक्त लगता है. फिरभी क्योंकि इनमें सिद्धान्तबोधसे मण्डित या विरहित पर निष्ठाशील अनुगामी जनता जुटी हुयी है अतः एकसूत्रता न होनेकी कठिनाईके बावजूद आस्थाके पोषक और निर्वाहक तो बन पाते हैं. फिरभी ग्रन्थ या पत्र-पत्रिका का मुद्रण-प्रकाशन और वितरण की प्रक्रियामें परस्पर संवादिता न होनेके कारण अनपेक्षित पुनर्मुद्रण अवितरण, वितरणापेक्षी जनताके लिये सरलतासे उपलब्ध न हो पाना, ऐसी अन्य भी कुछ दुविधायें एकसूत्रताके थोड़े से प्रयासके द्वारा दूर की जा सकती हैं.

[घ] इन व्यक्तिप्रधानताके बलपर चलते अर्थात् अराजकताकी मनोवृत्तिवाले इन अगणित सत्संगमण्डलोंका न तो कोई उत्तरदायित्वपूर्ण वैध स्वरूप

है और न यही पता चल पाता है कि इनके द्वारा वैष्णवसम्प्रदायकी आस्थाके प्रचार-प्रसार-निर्वाहमें कितना सच्ची दिशामें प्रयास हो रहा है और कितना ऐसे सत्संगमण्डलके बहाने वैष्णवी आस्थाके छद्मद्वेषी अथवा अन्यान्य क्षुद्र प्रयोजनोंके वश पाषंड फैलानेवाले दुर्भावयुक्त जन भी इस कार्यमें जुटे हुवे हैं.

ङ यह संस्था विगत सौ-सवा सौ वर्षोंसे जीवित अवश्य है परन्तु न तो इस संस्थामें प्रतिवर्ष पारित होते प्रस्तावोंकी कार्यपूर्ति होती है और न इस संगठनका कोई निश्चित जनाधार ही अभी तक प्रकट हो पाया है. इसके वार्षिक महासम्मेलनोंके आयोजनार्थ भी इसे व्रजयात्रामें एकत्रित हुवे यात्री वैष्णवोंकी जनमेदिनीका मुखापेक्षी रहना पड़ता है. जो भी स्मारकग्रन्थ या स्मारिका पत्रिका इसके द्वारा प्रकाशित होते हैं उनमें एकसूत्रताका नितान्त अभाव सर्वथा खटकनेवाली बात लगती है. एक बार तो पोरबन्दरके किसी कार्यक्रममें हम लोग सम्मिलित होनेवाले थे. सो वहां इसकी शाखाका उद्घाटन मेरे हाथों करानेका प्रस्ताव रखा गया. तदनुसार स्वीकृतिप्रदान कर मैने शाखाके उद्घाटनकी सभामें उद्‌बोधन कर के शाखाके स्थानीय प्रमुख, शाखाके मंत्री तथा कोषाध्यक्षों के नाम भी घोषित कर दिये. बादमें उस उद्‌घाटनसभामें उपस्थित अन्य कोई तीन महोदयोंने भरी सभामें मुझे पूछा कि अब हमारा क्या कर्तव्य बच गया? मेरे यह कहनेपर कि पोरबंदरशाखाके पदाधिकारी जो घोषित हुवे हैं उनके साथ मिल-बैठ कर कैसा सहयोग लिया और दिया जा सकता है, वह निर्धारित कर लेना चाहिये. तब उन तीनों महापुरुषोंने अपना मौन तोड़ कर मुझे सूचना दी तीन वर्ष पहले उन्हें भी इस परिषद्‌की स्थानीय शाखाके प्रमुख मंत्री और कोषाध्यक्ष बनाया गया था. सो उनका वह पदाधिकार अब चालु रहता मान कर सहयोग देना या समाप्त जान कर साधारण कार्यकर्ताके रूपमें सहयोग देना! मेरी तो उद्‌बोधनशक्ति ही कुण्ठित हो गयी! सो मैं भरी सभामें यह कह कर खिसक

गया कि "मत पूछो कि अन्तरराष्ट्रिय परिषद् आपसे कैसा सहयोग चाहती है आप स्वयं बताओ कि आप उसे कैसा सहयोग दे सकते हैं!"

प्रत्येक धर्म-सम्प्रदायोंमें आचार्यसंस्थाका यह परम कर्तव्य एवं अधिकार होना ही चाहिये कि उस धर्म-सम्प्रदायकी आस्थाके अनुरूप गुरुपद या आचार्यपद पर आसीन होनेवाले व्यक्तिओंका वंशानुक्रम अथवा शिष्यानुक्रम के आधारपर उस धर्म-सम्प्रदायकी आस्थाके अनुसार स्वाधीत होना, स्वसिद्धान्त और स्वकर्तव्य के प्रति जागरुकतया निष्ठाशील होना तथा अनुगामी जनतामें उस आस्थाके प्रचार-प्रसार-निर्वाहके हेतु तत्पर भी होना. वैष्णव धर्मसम्प्रदायमें, परन्तु आस्थाशीलोंके दुर्भाग्यवश इस सम्प्रदायमें गुरुपद या आचार्यपद पर आसीन होनेवाले पुरुषोंमें इनमेंसे किसी भी एक निकषपर योग्यायोग्य होनेके निर्धारणार्थ न तो कोई प्रक्रिया उपलब्ध है, न व्यवस्था या विधि गढ़ी जा सकी है; और न गुरुपदके दावेदार ऐसी किसी भी आचारसंहिताके अनुमोदनार्थ साहस धर्मनिष्ठा और स्वार्थपूर्तिके वृत्तसे बाहर निकलनेकी उदारता प्रकट कर पाते हैं. मुझे तो सर्वाधिक गम्भीर चुनौती आधुनिक युगमें वैष्णवी आस्थाके सामने सुरसाकी तरह मुँह बांये खड़ी हुयी यही लगती है.

श्रीवेंकटाध्वरी कविके विश्वगुणादर्श चम्पुके नायक कृशानुकी उक्ति

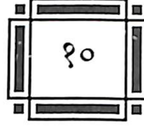
> "भवतु तव एतेषु नमस्कर्तृता ! मम तु देवलकदेवालयोपजीविदुराचारान् आलोकयतो न भवति नमश्चिकीर्षा !...द्रव्यं देवलका हरन्ति अचकिताः देवस्य तत्पूजितासु एतासु प्रतिमासु हन्त भविता किं देवतासन्निधिः"

(विश्वगुणा.चम्पु.३८।४६६)

आज हम वाल्लभ सम्प्रदायके धर्मगुरुओंपर कितनी अधिक चरितार्थ होती जा रही है! इस चुनौतिका सामना कैसे करना!!



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



श्रीभागवतीय स्थानलीलाका औपनिषदिक सन्दर्भ

(मंगलाचरण)

अव्याकृतानि निखिलानि हि नामरूप-
कर्माणि यत्र तु निजात्मतया स्थितानि॥
सृष्टानि चात्मनि यदेतरथैव तत्र
लीलास्थलानि परजीवविभेदकानि॥१॥
ब्रह्माश्रितानि खलु तानि तदात्मकानि
सर्वान्तरात्मवपुरायतनान्यभूवन्॥
लीलास्थलं विभुतया किल सच्चिदानं-
दस्यैव तद् भगवतः पुरुषोत्तमस्य॥२॥
माहात्म्यबोधोत्तरहार्दभावाद् हृदेव तु स्थानमिहोच्यते तत्॥
त्वामेव याचे यदि रोचते मन्मनःस्थलं स्थातुमिह स्थिरः स्तात्!॥३॥

(उपक्रम)

वैसे तो तैत्तिरीयारण्यकमें पंच महायज्ञोंके निरूपणके अन्तर्गत ब्रह्मयज्ञमें स्वाध्यायतया अध्येतव्य ग्रन्थोंकी परिगणनामें न केवल ऋग्यजुःसामकी ऋचाओंको अपितु ब्राह्मण इतिहास एवं पुराणों को भी समानकुक्षिनिविष्टतया

नित्य अध्येतव्य माना गया है (द्रष्ट.तैत्ति.आर.२।१०।१). एतावता परन्तु एक ऐसा सन्देह तो निवृत्त नहीं हो पाता कि यहां 'पुराण' पदद्वारा अभिप्रेतार्थमें महर्षि वेदव्यासविरचित अट्ठारह पुराणोंको अन्तर्भूत मानना या स्वयं वेदके ही संहिता-ब्राह्मणादि भागोंमें उपलब्ध होते उपाख्यानोंको. ऐसे ही छान्दोग्योपनिषद्में आते "**ऋग्वेदका, भगवन्!, अध्ययन करता हुं, यजुर्वेदका सामवेदका; और, चतुर्थ आथर्वणका भी. वेदोंके भी वेदरूप पांचवें इतिहास-पुराणका भी**" (छान्दो.उप.७।१।१) इस वचनके आधारपर पुराणोंके बारेमें पंचमवेदतया स्वीकृतिके विमर्श कर लेनेपर भी 'पुराण' पदके अभिप्रेतार्थके बारेमें उभरी आंशका पूर्णतया निवृत्त नहीं हो पाती है. प्रत्युत और अधिक गहरा जाती है क्योंकि वेदोंके मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक या उपनिषदों के अन्तर्गत आते वैदिक इतिहास-पुराणोंको चार वेदोंसे पृथक् पांचवा मानना तो अनावश्यक लगता है; तथा इतिहास-पुराणको 'पांचवा वेद' कहना वेदोंकी संख्या तीन या चार नियत होनेके कारण केवल वेदोपम आदरणीयताके अर्थमें स्तुत्यर्थ ही है. अतः इसे स्वयं वेदोंकी संख्या पांच विधानार्थ भी माना तो नहीं जा सकता. अतः वेदोंसे पृथक् वेदकालिक इतिहास-पुराणोंको अब या तो विलुप्त मानना पड़ेगा अथवा अगतिकतया उपलब्ध महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित इतिहास-पुराणोंको ही पांचवे वेद होनेकी गरिमासे मण्डित मानना पड़ेगा.

इन दो कल्पोंमें कौन सा कल्प और किस आधारपर मान्य करना? इसके निकष या लिंग के प्रत्यभिज्ञानार्थ एक वचन यों भी उपलब्ध होता है "**प्राण तत्त्वकी उत्पत्ति आयति स्थान विभुत्व और पांचवे अध्यात्म के भी विज्ञात होनेपर अमृतोपभोग मिल पाता है**" (प्रश्नोप.३।११) इस वचनमें प्राणतत्त्वके पंचधा बोध, जिन्हें "**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च भूम्यादेश्च संस्थानं पुराणं पञ्चलक्षणम्**" (द्रष्ट.अम.को.रामा.१।६।५) यों पुराणलक्षणोक्त पंचधा बोधके समकक्ष स्वीकारा जा सकता है. एक अन्य वचन यों भी मिलता है कि

''ऋक् यजू साम और अथर्वांगिरस ये और अन्य इतिहास-पुराण भी... जो ब्रह्मरूप हों या ब्रह्मरूप न हों, वे सभी ब्रह्मके भीतर प्रतिष्ठित होते हैं'' (तैत्ति.ब्राह्म.३।१२।८।१-२). यों वेदान्तर्भूत और तदनन्तर्भूत सभीको वेदोंके अन्तर्गततया मान्य रखनेके दृष्टिकोणके आधारपर श्रौतपरम्परागत किसी भी तत्त्वका पौराणिक पंचधा बोध मिलता हो तो उस शब्दराशीको वेदोंसे बाह्य न माननेकी एक पौराणिक विचारदृष्टि प्राप्त होती ही है.

यों इन विविध शास्त्रोंके अन्तर्गत श्रीमद्भागवतसंहिता महापुराणतया मान्य है. अतएव उसमें उपनिषत्प्रतिपाद्य तत्त्वका उपबृंहण भी पंचधा नहीं प्रत्युत दशधा मिलता है : सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, अतएव, तत्त्वार्थदीपनिबन्धके भागवतार्थप्रकरणके मंगलाचरणमें ''श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा'' (त.दी.नि.३।१) विधान करते हैं. यहां भागवतके तृतीय स्कन्धसे आरम्भ कर द्वादशस्कन्ध पर्यन्त वर्णित दशविध लीला विवक्षित हैं, क्योंकि प्रथम-द्वितीय स्कन्ध तो इन दशविध लीलाओंके श्रवण-कीर्तन-स्मरणके अधिकार और साधनों के निरूपकतया ही योजित हुवे हैं. तदनुसार स्थानलीला श्रीभागवतके पंचम स्कन्धमें प्रतिपादित हुयी है. भागवतोपनिबद्ध इसी स्थानलीलाके औपनिषद सन्दर्भकी मीमांसा ही प्रस्तुत निबन्धका प्रतिपाद्य-विषय है.

इस महापुराणमें वेदके **''ॐ भूर्भुवःस्वः, ॐ तत्सवितुः वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमही, धियो यो नः प्रचोदयात्''** गायत्रीमन्त्रमें एवं उपनिषदोंमें प्रतिपाद्य सत्य ज्ञान अनन्त रूप ब्रह्म परमात्मा भगवान्की, ब्रह्मसूत्राभिमत परिभाषा या लक्षण की घटक, 'जगज्जन्मस्थितिप्रयाणलयात्मिका' क्रिया ही लीलाके रूपमें दशधा वर्णित हुयी हैं. यह इस महापुराणके—

''जन्माद्यस्य यतो अन्वयाद् इतरतः च, अर्थेषु अभिज्ञः स्वराट्

तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये, मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमही।।''
(भाग.पुरा.१।१।१)

इस मंगलाचरणके अवलोकन द्वारा निहारा जा सकता है.

भूलोक भुवर्लोक एवं स्वर्लोक के प्रसविता=जनकसे इन सभी लोकालोकात्मक स्थानों और उनमें अवस्थित जीवात्माओं का जनन-स्थापन और मूल आश्रयस्वरूपकी ओर पुनःप्रयाण और उसमें प्रलय होता है. वह ब्रह्मादि सभीकी बुद्धिको धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोके बारेमें प्रेरित करते हैं. ऐसे उस देवाधिदेवका परम वरेण्य सत्य तेज सदा अज्ञान-मोहजन्य मृषापदार्थका निरासक होता है; अथवा, एतदर्थ जो सदा ध्यान करने योग्य हो, उसकी बात यहां की गयी है.

जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद्के **''ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त होता है''-''जिससे इन पांचभौतिक शरीर पदार्थोका जन्म होता है, जिससे जन्म लेकर ये शरीरी जीवित रहते हैं तथा जिसकी ओर प्रयाण कर अन्तमें ये उसीमें लीन हो जाते हैं. उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये वही ब्रह्म होता है''** (तैत्ति.उप.२।१ - ३।१) इन वचनोंमें ब्रह्मके स्वरूपलक्षण और कार्यलक्षण यों दो तरहके लक्षण निरूपित हुवे हैं. काकतालीयन्यायेन स्वरूपके लक्षणके घटक तीन गुणधर्म तथा कार्यलक्षणकी घटक चार क्रियाओंको इतरेतरगुणित करनेपर श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्धोंकी जैसी बाहर संख्या मिलती है. अर्थात् सत्यके उत्पत्ति-स्थिति-प्रयाण-लय ज्ञानके उत्पत्ति-स्थिति-प्रयाण-लय और आनन्त्यके उत्पत्ति-स्थिति-प्रयाण-लय यों द्वादशधा भगवज्ज्ञान श्रीभागवतमहापुराणमें प्रतिपादनीय माना जा सकता है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भी सुबोधिनी(द्रष्ट.२।६।१)में सदंशके देश-काल-स्वरूपतः परिच्छिन्न सृष्ट पदार्थकी जननरूपा उत्पत्ति दिखलाते हैं. देशतः तथा स्वरूपतः परिच्छिन्न चिदंशकी समागनमरूपा उत्पत्ति

दिखलाते हैं. देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न आनन्दांशकी प्राकट्यरूपा उत्पत्ति दिखलाते हैं. 'उत्पत्ति' पद गत्यर्थक 'पद्लृ' धातुके साथ 'उत्' उपसर्ग जोड़नेपर निष्पन्न होता होनसे उद्गमनार्थक माना गया है, प्रागभावप्रतियोगितारूप नहीं. अतः आविर्भावके अर्थमें लेना आवश्यक है. उपलक्षणविधासे इसी क्रममें इन्हीं तीनों अंशोंके नाश निर्गमन और अप्राकट्य रूप तिरोभावका भी ऊह कर लेना उचित होगा. यद्यपि तैत्तिरीयोपनिषद्वर्णित प्रयाणके बारेमें कुछ भी कहा तो नहीं गया है. फिरभी सृष्टावस्थासे स्रष्ट्रवस्थाके प्रति सदंश चिदंश और आनन्दांश यों तीनोंका पुनःप्रयाणकी दृष्टिसे निहारनेपर द्वादशधा प्रतिपादनकी बात हृद्गत हो पायेगी.

इस बारेमें विचारणीय यह हो जाता है कि [१]ब्रह्मके सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूपमें से जन्म-स्थिति-प्रयाण-प्रलयशील देश-काल-स्वरूपतः परिच्छिन्न त्रिसर्ग पदार्थ, मृषात्वेन प्रतिपादित होनेके कारण, वस्तुतः प्रकट हो सकते हैं या नहीं? विशेषतः इस कारणसे कि उसके तेजको 'सदा निरस्तकुहक' कहा जा रहा है. अतः ऐसे कुहकनिरासक तेजके रहते त्रिसर्ग न तो मृषा उत्पन्न होना चाहिये और न आभासित ही. अथवा [२]जन्म-स्थिति-प्रयाण-प्रलयशील होनेके कारण देश-काल-स्वरूपतः परिच्छिन्न पदार्थ, यदि मृषा हों तो, सत्यात्मक ज्ञानात्मक और त्रिविध परिच्छेदरहित अनन्तरूप हो सकते हैं या नहीं? यह समस्या "**जिसके भीतर ये तीनों सर्ग मृषा लगते हैं**" पदावलीपर दृष्टिपात करते ही अधिक गम्भीर लगने लगती है.

वैसे इतना तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि 'त्रिसर्ग' पदमें 'सर्ग'पदके समभिव्याहरवश ब्रह्मके कार्यलक्षणकी घटक उत्पत्ति-स्थिति-लय रूपा क्रियाचतुष्टयी तो यहां विवक्षित मानीं नहीं जा सकती. क्योंकि ब्रह्मलक्षणघटक उपनिषद्वचनमें केवल तीन क्रिया नहीं प्रत्युत चार क्रिया परिगणित हुयी हैं. उन चारोंके बजाय केवल तीन क्रियाओंको मृषा स्वीकारना एक असंमजस विधान लगता है. ऐसी स्थितिमें या तो ब्राह्मिकी

नाम-रूप-कर्मकी त्रयीको मृषा त्रिसर्ग मानना? अथवा प्रकृतिकी या मायाकी मानी जाती सत्त्वरजस्तमोगुणकी त्रयीको यहां 'त्रिसर्ग' पदद्वारा अभिप्रेत मानना? अथवा इनसे जन्य देहेन्द्रियान्तःकरणकी अध्यासत्रयीको? अथवा भूर्भुवःस्वःरूप लोकत्रयीको? अथवा इन लोकोंमें निवास करनेवाली देवमानवदानवत्रयीको? अथवा त्रिविध परिच्छेदरहित अनन्त ब्रह्ममें देश-काल-स्वरूपपरिच्छेदकी त्रयीको? किसको मायिक या मृषा त्रिसर्ग मानना? यह गंभीर चिन्तनकी अपेक्षा रखता है.

अर्थात् ब्रह्मके ये उभयविध स्वरूपलक्षण और कार्यलक्षण परस्परसहिष्णु हो सकते हैं या नहीं? उपनिषदर्थके उपबृंहणार्थक होनेके कारण तथा ब्रह्मसूत्रोंकी लीलाकथात्मिका व्याख्या होनेके कारण श्रीभागवतमहापुराणका अपना अभिप्रेतार्थ वस्तुतः क्या है? इन प्रश्नोंके, किन्तु, समाधान खोजनेसे पहले स्वयं उपनिषदोंको उनका प्रतिपाद्य-विषय कैसा मान्य है यह देख लेना भी उचित ही होगा.

(औपनिषद ब्रह्मकी मीमांसा और श्रीभागवतीय स्थानलीला)

'ब्रह्म' पद प्रायः 'ब्रह्मचर्य' 'ब्राह्मण' या 'ब्रह्मवादी' सदृश पदप्रयोगोंमें वेदवाचक होनेपर भी उपनिषदोंमें तो वेदोंके प्रतिपाद्यार्थका भी वाचक बन गया है : **"तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" — "ब्रह्म ते ब्रवाणि"** (बृह.उप.३।९।२६ — २।१।१).

इस विषयमें भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य एक अतीव मननीय मूलाधाररूप निकष हमें प्रदान करते हैं **"अतः तार्किकवादके योद्धा इस सर्वप्रमाणोंके राजा वेदान्तकी बलवती भुजाओंद्वारा सुरक्षित ब्रह्मात्मैक्यके दुर्गमें प्रविष्ट ही नहीं हो पाते हैं"** (प्रश्नोप.६।३). अतः उपनिषदोंकी श्रुतिओंमें ब्रह्मका जैसा निरूपण उपलब्ध होता हो तदनुसार ब्रह्ममीमांसाके हेतु प्रवृत्त होना सभी वेदान्तिओंका परम कर्तव्य बन जाता है. क्योंकि श्रीभागवत महापुराण यदि 'निगमरूप कल्पतरुका गलित फल' हो तो

उपनिषद् स्वयं उस निगमकल्पतरुकी स्पृहणीयतम सुपल्लवित शाखा हैं, जिनपर यह फल उग पाया है!

ब्रह्मसे प्रकट होनेवाला त्रिसर्ग :

१.अतः जिस औपनिषद ब्रह्मके उपादान आश्रय अधिकरण आधार या स्थान बननेपर यह त्रिविध सर्ग प्रकट हुवा, वह सर्ग स्वयं कैसा है, यह जानना हो तो बृहदारण्यकोपनिषद्के अधोनिर्दिष्ट वचन सर्वथा मननीय हैं. उनमें यह कहा गया है :

> "ब्रह्मके दो रूप होते हैं : वह मूर्त भी है और अमूर्त भी, मर्त्य भी है और अमृत भी, किसी स्थानविशेषमें स्थित भी है और अस्थित भी, अपरोक्ष भी है और परोक्ष भी.
>
> वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न तत्त्व ब्रह्मके मूर्त रूप हैं. ये सारे मूर्त रूप मर्त्य स्थित तथा अपरोक्ष होते हैं. इन मूर्त मर्त्य स्थित और प्रत्यक्ष बनते रूपोंका वास्तविक रस तो यह तपता हुवा सूर्य है. जो कुछ प्रत्यक्षतया दिखलायी देता उसका रस यही तपता हुवा सूर्य है. अब वायु और अन्तरिक्ष तो अमूर्त होते हैं. ये ब्रह्मके अमूर्त रूप अमृत अस्थित और परोक्ष होते हैं. इन अमूर्त अमृत अस्थित परोक्ष रूपोंका रस तो इस सूर्यमण्डलके भीतर रहता है. अतः जो परोक्ष हो उसका वास्तविक रस तो यह सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती अधिदैव है.
>
> अब इसी तरह अध्यात्मके बारेमें भी सोचनेपर जो मूर्त हो वह प्राणसे भिन्न होता है. इस आकाशमें जो मर्त्य और स्थित होता है, वह प्रत्यक्षतया दिखलायी देता है और इस मर्त्य स्थित और अपरोक्ष का वास्तविक रस चक्षु होती है. इसी तरह अपने भीतर जो प्राण

> और आकाश होते हैं, वे अमूर्त तथा अमृत होते हैं. ये अस्थित और परोक्ष होते हैं. इस अमूर्त अमृत अस्थित और परोक्ष का वास्तविक रस दक्षिण नयनमें दीखता पुरुष (स्वपरप्रकाशक चैतन्य) है. जो भी कुछ अपने भीतर परोक्ष होता है उसका यह रस है.
>
> अब इसके बाद निषेध-आदेश किया जाता है 'नहीं!'-'नहीं!' कह कर. 'इतना ही नहीं!', 'नहीं!' क्योंकि वह अन्य भी कुछ अधिक है ही.''
>
> (बृह.उप.२।३।१-६).

अतः जो सर्ग प्रकट हुवा है वह परस्पर विरोधाभासी गुणधर्मोंवाला सर्ग है, यह स्पष्ट हो जाता है.

त्रिसर्गको प्रकट करनेवाले ब्रह्मका स्वरूप :

२.अब जिस औपनिषद ब्रह्मसे यह त्रिविध सर्ग प्रकट हुवा वह स्वयं कैसा है, यह जानना हो तो तैत्तिरीयोपनिषद्का यह वचन पर्याप्त है :

> ''जो ब्रह्मको असत् मानता है, वह तो स्वयं असत् सिद्ध हो जाता है. परन्तु जो व्यक्ति 'ब्रह्म है' ऐसे मानता हो उसे तो अस्तिमान ही मानना चाहिये... उस ब्रह्मने कामना की कि वह अनेकतामें प्रजनित हो जाये... उस ब्रह्मने विचारा और उसने विचार कर यह सब कुछ सिरजा. यहां जो कुछ है उसका सर्जन कर वह उसमें प्रविष्ट हो गया. और प्रविष्ट हो कर प्रत्यक्ष और परोक्ष वह बना, निरुक्त्यर्ह और अनिरुक्त्यर्ह भी वही बना, साधार=स्थित और निराधार=अस्थित भी वह बना, विज्ञान और अविज्ञान भी वही बन गया, और सत्य

और अनृत भी वही परम सत्य स्वयं बन गया!. अतः यहां जो कुछ है उसे 'सत्य' कहा जाता है.''

(तैत्ति.२।६).

एतावता सिद्ध हो जाता है कि देश-काल-स्वरूपतः परिच्छेदसे रहित होनेके कारण ही ब्रह्म देश-काल-स्वरूपतः परिच्छिन्न परस्पर विरोधाभासी अनन्त नाम-रूप-कर्मोंका एक अविरोधी आधार या आश्रय तत्त्व है.

ब्रह्मसे त्रिसर्गके प्रकट होनेकी रीति :

३.वह औपनिषद ब्रह्म किस रीतिसे त्रिविध सर्ग बना यह जानना हो तो अर्थवसंहिता और तैत्तिरीयोपनिषद् के ये वचन मननीय हैं :

''उसे दिशाओंमेंसे प्रकट होना था इसलिये दिशा प्रकट हो गयी... उसे भूमिसे प्रकट होना था इसलिये भूमि प्रकट हो गयी'', ''अमृत देवोंने मर्त्य मनुष्यको अपना घर बनाना चाहा, इसलिये वे पुरुषमें प्रविष्ट हो गये.''

(अथर्वसंहि.१३।४।२९, ११।२५।१९).

''उसने चाहा कि वह अनेक बन जाये सो ऐसा विचार कर उसने यह सब कुछ सिरजा. यहां जो कुछ है उसे सरज कर वह स्वयं सिरजे हुवोंमें प्रविष्ट हो गया.''

(तैत्ति.उप.२।६).

''यह दृष्टिगोचर जगत् उत्पन्न होनेसे पहले भी सद्रूप ही था एकमेव और अद्वितीय,... अन्यथा, क्योंकि, असत्से सत् कैसे बन पाता?..., उसने कामना की कि बहुत कुछ बन जाऊं... उस देवताने देखा कि मैं अकेला

ये तीन देवता हुं, सो इस जीवात्माके रूपमें अनुप्रविष्ट हो कर नाम-रूपोंका व्याकरण करूं!"

(छान्दो.उप.६।२।१-३, ३।१-२)

अतः यह सारा नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् अपने आश्रय या उपादान रूप ब्रह्मके भीतर एकमेवाद्वितीय ब्रह्मात्मना उत्पत्तिसे पहले भी सद्रूप था, अर्थात् आविर्भूत हो जानेपर तो सद्रूप होना प्रश्नार्ह ही नहीं है, अतः वह ब्रह्मके एकत्वमें अनेकतया बाहर प्रकट हुवा, सागरकी जलराशीके भीतर जैसे अन्तर्धारा अथवा वायु-परिपूरित चतुर्दिक वातावरणमें मन्द समीर या आंधी प्रकट हो जाती हैं. इसी तरह ब्रह्मकी त्रिविधपरिच्छेदरहित अधिष्ठानता आश्रयरूपता या उपादानरूपता के भीतर त्रिविध परिच्छेदवाला यह नाम-रूप-कर्मात्मक सर्ग प्रकट हुवा है. और इस तरह प्रकटे उस सर्गके भीतर भी वह सर्वाश्रयरूप ब्रह्म पुनः सर्वान्तरात्मा या परमात्मा के रूपमें प्रविष्ट हो कर, उन-उन नाम-रूप-कर्मोंका भीतरसे भी नियमन करता ही है. निष्कर्षतया नाम-रूप-कर्मोमें प्रतीत होते उत्पत्ति-स्थिति-आयति-लयका वह अभिन्ननिमित्तोपादानभूत स्थान या आश्रय सिद्ध होता है.

निष्कर्षरूपेण नाम-रूप-कर्मके त्रिविध सर्गको ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न मानना तो मिथ्या धारणा हो सकती है पर ब्रह्मसे तादात्म्यभावापन्न मानना कथमपि मिथ्या धारणा मानी नहीं जा सकती. अतः त्रिविध सर्गको 'अब्राह्मिक विकार' कहना वाणीविलास अथवा शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यरूपा विकल्पवृत्तिद्वारा त्रिसर्गका निरूपण करने जैसी बात है. एतावता स्वयं ब्रह्मात्मक त्रिविध सर्ग मृषा नहीं सिद्ध हो जाता.

क्योंकि दृष्ट-श्रुत-मत-विज्ञात नाम-रूप-कर्मोंके साथ कोई ब्राह्मिकी एकताको भलीभांति जान पायें तो अदृष्ट-अश्रुत-अमत-अविज्ञात ब्रह्मके औपादानिक स्वरूपगत सर्वतादात्म्याधाररूपा एकत्वको भी जान लेने

और नाम-रूप-कर्मोंके अनेकत्वमें भी एकत्वको पहचान लेने समर्थ बन सकता है. स्वयं श्रुति ही ऐसा विधान करती है :

“जिसे सुन लेनेके कारण अश्रुत श्रुत बन जाता हो, अमत मत बन जाता हो, अविज्ञात विज्ञात बन जाता हो... जैसे एक मृत्पिण्डको भलीभांति जान लेनेपर सारे मृण्मय पदार्थ जाने जा सकते हैं. जैसे मिट्टीमेंसे बने घड़े-सकोरेको ‘मिट्टीका विकार’ कहना बाह्य वस्तुदर्शी नहीं प्रत्युत वक्ताका आन्तर विवक्षादर्शी वाणीका व्यापार है. क्योंकि उनका सच्चा नाम तो ‘मृत्तिका=मिट्टी’ ही होता है.”

(छान्दो.उप.६।१।४).

“नाम रूप और कर्म तीन होते हैं... सारे नाम वाणीद्वारा प्रकट होते हैं... ब्रह्म इन सारे नामोंको धारण करता है. सारे रूप नयनोंके द्वारा प्रकट होते हैं और ब्रह्म ही इन सारे रूपोंको धारण करता है... सारे कर्म आत्मा द्वारा प्रकट होते हैं और ब्रह्म ही सारे कर्मोंको धारण करता है. अतः ये तीन होनेपर भी आत्माके रूपमें एक ही होते हैं और आत्मा एक होनेपर भी तीन होती है.”

(बृह.उप.१।६।१-३).

इन श्रुतिवचनों तथा ऐसे ही दूसरे भी वेदवाचक ‘ब्रह्म’पदके बारेमें उपलब्ध होते विधान—

“गुरुमुखद्वारा उच्चारित वेदके अनुच्चाररूपेण अधीत वेदके मन्त्र-ब्राह्मणरूप अनेक श्रुतियोंकी ‘ब्रह्म’ इस पदके प्रयोग करनेपर एकता प्रकट हो जाती है.”

(बृह.उप.१।६।१७).

अर्थात् पद या पदार्थ उभयरूपेण असंख्य विविधता दरसानेको जो कुछ भी कहा-सोचा जा सकता हो, उन सभीकी 'ब्रह्म' कहनेसे एकता प्रकट हो जाती है.

ब्रह्मसे प्रकटे त्रिसर्गकी प्राकट्यपूर्व अवस्था, प्राकट्योत्तर अवस्था तथा लयोत्तर अवस्था तीनों कालमें ब्रह्मरूपता :

४.एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्मके उपादानतया आश्रयभावापन्न होनेपर ब्रह्मके भीतर प्रकट होनेवाले त्रिविध सर्गको ब्रह्मसे भिन्न दीखता मानना या जानना ही मृषा अभिमति या विज्ञान मानना चाहिये. अन्यथा तादात्म्येन प्रकट हुवा दीखता अभिमत या विज्ञात होता होनेपर मृषा मायिक या स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिक निषेधका प्रतियोगी मानना आवश्यक नहीं रह जाता.

स्वयं श्रीभागवत महापुराणमें सृष्टिको प्रकट करनेकी ब्रह्माजीको प्रदत्त आज्ञा तथा निर्दिष्ट इतिकर्तव्यताका निर्देश और तदुपयोगी तत्त्वोपदेश करते समय भगवान्‌के ये वचन इस विषयमें अतीव मननीय है :

> ''मेरा विज्ञानसमन्वित सरहस्य परमगुह्य सांगोपांग ज्ञान सुनो कि मैं कितना हुं कैसा हुं किन रूप गुण और कर्म वाला हुं. इन सारी बातोंका मेरे अनुग्रहसे तत्त्वविज्ञान हो जाना चाहिये : मैं ही और था ही, मेरे सिवा अन्य कुछ भी सत् असत् या पर नहीं था. बादमें भी यह जो कुछ है वह मैं ही हुं और जो कुछ बचेगा वह भी मैं ही हुं. अर्थरूप मेरे अलावा जो कुछ प्रतीत होता है; अथवा, सर्वात्मरूप होनेपर भी, जो कुछ मेरे भीतर नहीं प्रतीत होता, उसे मेरी मिथ्याभास और अन्धकार दरसानेवाली माया जानो. जैसे पंच महाभूत प्रत्येक उच्च-नीच भौतिक पदार्थमें प्रविष्ट भी रहते हैं और बाहर रहनेसे

अप्रविष्ट भी. उसी तरह सभी पदार्थोंके भीतर मैं प्रविष्ट भी हुं और अप्रविष्ट भी.''

(भाग.पुरा.२।९।३०-३४).

अतः क्योंकि मृषा होनेकी अनिवार्य यह है शर्त कि कोई वस्तु अपने आश्रयमें रहनेवाले अत्यन्ताभावकी प्रतियोगी भी हो. इसके विपरीत स्वयं परमार्थ सत्य भगवान् ही अपने भीतर प्रकटे नाम-रूप-कर्मात्मक त्रिविध सर्गके अन्तर्भूत प्रत्येक पदार्थमें प्रविष्ट भी हैं और अप्रविष्ट भी. अतः कण्ठोक्त उनकी विद्यमानता और अविद्यमानता दोनों हैं. अर्थात् स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभावके प्रतियोगी बन रहे हैं. अब परम सत्य भगवान् तो मृषा हो नहीं सकते. क्योंकि अन्यथा तथाकथित मृषा त्रिसर्गरूप अधिष्ठानपर परम सत्य भगवान्‌को भी आरोपित मिथ्याभास स्वीकारनेपर तो सब कुछ शून्यवत् ही हो जायेगा!

'त्रिसर्ग' पदके सम्भावित अर्थ :

५.ऐसी स्थितिमें प्रकृति/मायाकी सत्त्वरजस्तमोगुणकी त्रयीको क्या मृषा मानना ?

''इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिका त्रिगुणात्मक उपादानकारण प्रकृति बनती है. गुणातीत पुरुष उसका आधार बनता है. और जो सत् या विद्यमान हो उसका अभिव्यञ्जक काल बनता है. पर इन तीनों ही रूपोंमें ब्रह्मरूप मैं तो एक ही रहता हुं.''

(भाग.पुरा.११।२४।१९).

इस वचनके आधारपर, परन्तु, गुणत्रयी अथवा त्रिगुणात्मिका सृष्टि को भी मृषा तो माना नहीं जा सकता है. और अतएव

इनसे जन्य देहेन्द्रियान्तःकरणकी त्रयीको भी स्वरूपतः तो मृषा माना नहीं जा सकता. त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके कार्यभूत इन देहेन्द्रियान्तःकरणोंके पुरुषोंमें घटित होते या पुरुषोंके बीच अवतीर्ण होनेवाले पुरुषोत्तममें प्रतीत होते अध्यासको अवश्य मृषा माना जा सकता है. रही बात भूर्भुवस्स्व-रूपा लोकत्रयीकी अथवा उन लोकोमें निवास करते देवमानवदानवोंकी योनित्रयीकी, तो स्वयं श्रीभागवत महापुराणमें —

> ''सुर असुर नर नाग खग मृग सरीसृप गन्धर्व अप्सरायें यक्ष राक्षस भूतगण पशु पितर सिद्ध विद्याधर चारण द्रुम और अन्य भी विविध जीव जल स्थल तथा नभ में रहनेवाले ग्रह नक्षत्र केतु तारागण बीजली मेघ सभी कुछ यही पुरुष बना है जो भूतकालमें वर्तमान कालमें हो या भविष्यकालमें होनेवाला हो.''
>
> (भाग.पुरा.२।६।१३-१५).

इस वचनके अवलोकन करनेपर उक्तत्रयी मृषा मानी नहीं जा सकती. निष्कर्षतया त्रिविध परिच्छेदरहित सर्वभवनसमर्थ ब्रह्ममें निजलीलाकी इच्छाके अनुसार प्रकट होनेवाले ब्रह्मात्मक त्रिविध परिच्छेद ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्नतया यदि प्रतीत होते हों तभी उनको मृषा मानना युक्तियुक्त हो सकता है.

ब्रह्मसे प्रकटी त्रिसर्गलीला :

६.अतः अतएव श्रीभागवतीय पंचमस्कन्धमें वर्णित लीलाके स्थानके वास्तविक स्वरूपको अवगत करनेसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि यह स्थानलीला, जिस आश्रयरूप ब्रह्मके भीतर प्रकट हुयी है, उसके साथ इसका सम्बन्ध न तो आत्यन्तिक द्वैतघटित है और न आत्यन्तिक एकत्वघटित है. यह तो ब्राह्मिकी एकताके भीतर प्रकट हुयी ब्रह्मात्मिका अनेकता है. उन अनेक नाम-रूप-कर्मोंके अन्तर्नियमनार्थ

वही उपादानरूप ब्रह्म परमात्मा या सर्वान्तरात्मा होनेके रूपमें प्रत्येक नाम-रूप-कर्मोंके भीतर भी अवस्थित होता है. और यही उसकी स्थानलीला है. वह प्रत्येक नाम-रूप-कर्मोंके भीतर जैसे परोक्षतया अवस्थित होता है, ऐसे ही उन नाम-रूप-कर्मोंके बीच भी वह कभी-कभी प्रत्यक्षतया प्रकट हो सकता है. तब ये सब उसकी अवतारलीलाके स्थल भी बन पाते हैं.

त्रिसर्ग ब्रह्ममें आश्रित है और ब्रह्म त्रिसर्गमें अनुप्रविष्टतया अवस्थित है :

७.अतः स्थानलीलाके भी आश्रयरूप सर्वाधाररूप ब्रह्म और लीलया सृष्ट स्थानोंमें प्रविष्ट या प्रकट होनेवाले उसके सर्वान्तरात्मरूप और भगवदवताररूपों को श्रीभागवत महापुराणमें अन्योन्याश्रित लीलाके रूपमें देखना आवश्यक हो जाता है. इसे ही लक्ष्यमें रख कर कहा गया है कि "जो आध्यात्मिक पुरुष है वही तो आधिदैविक पुरुष भी है किन्तु इन दोके बीच विच्छेद प्रकट करनेवाला पदार्थ आधिभौतिक पुरुष होता है" (भाग.पुरा.२।१०।८) इन आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक पुरुषत्रयीका स्वरूप भी यहीं श्रीभागवतमें निर्धारित कर दिया गया है—

> "द्रव्य कर्म काल स्वभाव जीव सारेके सारे उस परमात्माके अनुग्रहवश आविर्भूत होते हैं उपेक्षावश तिरोभूत. क्योंकि उस एकमेवाद्वितीय देवने नाना बननेको योगनिद्रासे जागनेपर हिरण्मय वीर्यको तीन भागोंमें अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा बांट कर आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक होनेके तीन रूपोंमें स्वयं अपना पौरुष तीन तरहसे विभक्त किया."
>
> (भाग.पुरा.२।१०।१२-१४).

अतः पंचमस्कन्धीय लीलाके रूपमें जो स्थान प्रकट हुवे हैं वे बारहवें स्कन्धमें प्रतिपाद्य आश्रयलीलाके भीतर प्रकट हुवे हैं और वह सर्वाश्रियरूप ब्रह्म भी सर्वान्तरात्माके रूपमें स्थानलीलारूप नाम-रूप-कर्मोंके भीतर परोक्षतया और अपनी योगमाया रूपा अचिन्त्य सामर्थ्यवश उन लीलास्थानोंमें भगवदवताररूपेण अपरोक्षतया भी प्रकट हो कर अवस्थित होता है. अर्थात् स्थान और आश्रय दोनों एकदूजेके भीतर आश्रित भी होते हैं और एकदूजेके आश्रयरूप भी होते हैं. ऐसा भागवतीय प्रतिपादन मूलमें औपनिषदिक रहस्य ही है.

(श्रीभागवतप्रतिपादित स्थानलीला केवल भगवद्ध्यानार्थ है? या भगवान्ने स्वयं परमार्थतः स्थानरूप धारण किया है?)

श्रीभागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धमें प्रतिपादनीय सर्गलीलाके अंगतया सृष्ट पदार्थोंको धर्म अर्थ काम और मोक्ष रूपी चतुर्विध पुरुषार्थोंकी व्यवस्थाके साथ विर्सगलीलाके रूपमें चतुर्थ स्कन्धमें समायोजित किया गया. स्वाभाविकतया इन सृष्ट-विसृष्ट जड़-जीव-अन्तर्यामी रूपोंके हेतु धर्मस्थान अर्थस्थान कामस्थान या मोक्षस्थान की तरह ही अर्धमस्थान अनर्थस्थान अकामस्थान या बन्धस्थान नियत न किये जाते हों तो पुरुषार्थचतुष्टयीकी व्यवस्था भलीभांति कार्यक्षम नहीं हो सकती है. अतः प्रश्न उठ सकता है कि उस परमस्रष्टा द्वारा सृष्ट-विसृष्टका स्थान कहां-कैसा है, ऐसा स्थाननिरूपण स्रष्टाके तात्त्विक स्वरूपके माहात्म्यके ध्यानार्थ प्रतिपादित हुवा है? अथवा सृष्ट-विसृष्ट तत्त्वोंके किसी तरहके स्वगत महत्त्वको लक्ष्यमें रख कर यह प्रतिपादन किया गया है? अर्थात् भगवत्स्वरूपके ध्यानार्थ स्थानरूपोंका प्रतिपादन है कि प्रतिपादित प्रकारसे स्थानोंका ध्यान करनेकी कोई धर्मोपयोगी अर्थोपयोगी कामोपयोगी या मोक्षोपयोगी महत्ता है? अथवा त्रिसर्गके परमस्रष्टाका ध्यान ध्यानकर्ताके वास्तविक और अभीष्ट स्थानके बोधार्थ अपेक्षित है और यह सृष्ट-विसृष्ट पदार्थोंके स्थानका ज्ञान उस परम स्रष्टाके तत्त्वके बोधार्थ अपेक्षित है? अर्थात् इस पंचम स्कन्धमें ध्यानौपयिक तत्त्वप्रतिपादन अथवा प्रतिपादित

प्रकारके सम्यग् बोधानुरूप ध्यानका विधान किया गया है? इन प्रश्नोंका भी औपनिषदिक सन्दर्भमें समाधान खोजना आवश्यक है.

सृष्ट-विसृष्ट स्थानोंका जड़-जीवके रूपमें विभाजन किया जाये तो एक वस्तु जीवकी चेतनामें बाह्य विषयतया भासित होती है और दूसरी उन विविध बाह्य विषयोंके अवभासनके अधिकरणतया प्रकट होता आत्मचैतन्य है. यद्यपि दोनों ही प्रत्यक्षप्रमाणद्वारा अधिगत होनेके कारण श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराणादिके शब्दप्रमाणसे जन्य बोधकी अपेक्षा नहीं रखते, फिरभी इन्हीं प्रत्यक्षप्रमाणाधिगत विषयोंके कोई स्मृतिगम्य भूतकालिक रूप, तो कोई इन्द्रियार्थके संनिकर्षजबुद्धिगम्य वर्तमानकालिक रूप, तो कोई अनुमानादिमतिगम्य भविष्यत्कालिक रूप, तो कोई शाब्दप्रज्ञागम्य कालातीत रूप-गुण-धर्म-अर्थक्रिया भी हो सकती हैं. अतः केवल प्रत्यक्षप्रमाण जागतिक सर्वविध अपेक्षाओंको परिपूर्ण करने पर्याप्त सिद्ध नहीं होता. अतएव कुछ श्रुतिवचनोंका विमर्श अपरिहार्य हो जाता है. यथा :

> ''वह प्राणोंका भी प्राण है, चक्षुका भी चक्षु है, श्रोत्रका भी श्रोत्र है, मनका भी मन है, ऐसा जाननेवाला अग्रिम तथा पुराण रूपी ब्रह्मको निर्धारित कर पाता है. इसका अनुदर्शन तो मनसे ही सम्भव है कि यहां नाना जैसा कुछ नहीं है. जो नाना जैसा कुछ मानता है उसकी मृत्युसे भी अधिक मृत्यु हो जाती है. अतः उसका अनुदर्शन एकधा ही करना चाहिये... उसे भलीभांति बुद्धिसे जान कर अपनी प्रज्ञाका विषय बनना चाहिये. क्योंकि बहुत सारे शब्दों या अर्थों का अनुध्यान करना तो वाणीका अपव्यय है.''
>
> (बृह.उप.४।४।१८-२१).

"केवल उसे जाननेके कारण ही कोई मृत्युका अतिक्रमण कर सकता है अन्यथा और कोई मार्ग मोक्षका है ही नहीं".

(वाज.संहि.३१।१८).

"वह हजारों मस्तक नयन और चरण वाला है. वह सारी भूमिमें व्याप्त हो कर दस अंगुली अधिक परिमाणवाला है. वह पुरुष यह सब कुछ है, चाहे कुछ भूतकालिक हो या भविष्यत्कालिक... उसके एक चरणमें सारे मर्त्य भूत समाविष्ट हो जाते हैं और उसके तीन अमृत चरण द्युलोकमें अवस्थित हैं... उस महान् पुरुषको मै जानता हुं कि वह सारे अन्धकारसे परे आदित्यवर्णी प्रकाशरूप है. वह सारे रूपोंको धारण कर स्वयंको उन नामोंसें अभिहित करता है... इस तरह कोई उसे जान पाये तो अमृत पा सकता है, अन्यथा दूसरा कोई मार्ग मोक्षके लिये विद्यमान नहीं."

(तैत्ति.आर.३।१२।१-७)

इन श्रुतिवचनोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि स्रष्टा और सृष्टि के तात्त्विक स्वरूपोंका ज्ञान जैसे ध्यानार्थ है वैसे ही ध्यानकी तात्त्विक स्वरूपके निर्धारणार्थ ज्ञानशास्त्रीय आवश्यकता भी है ही. फिरभी सृष्टि और उसके अन्तर्गत निर्मित स्थान परिवर्तशील होते हैं जबकि स्रष्टा सनातन अपरिवर्तनशील अविकारी होता है. अतः उसकी प्रमुखता और परिवर्तनशील नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि गौणता है. न्यायमतीय प्रणालीका अनुसरण करते हुवे कुछ कहना चाहें तो यों कहा जा सकता है स्रष्टृत्वप्रकारक ब्रह्मविशेष्यक ज्ञान या ध्यान प्रज्ञात्मिका प्रमुखता लिये होगा जबकि ब्रह्मात्मकताप्रकारक सृष्टिविशेष्यक ज्ञान या ध्यान शाब्दप्रमाजन्य बुद्धिरूप होगा! अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य इस पंचम स्कन्धके मंगलाचरणतया एक उल्लेखनीय विधान करते हैं

''बुद्धिके प्रेरक श्रीकृष्णके चरणकमल हमारे ऊपर ऐसे प्रसन्न हों **कि हम असमर्थ होनेपर भी उनका ध्यान लगाने समर्थ हो पायें''** (त.दी.नि. ३।५।१) महाप्रभुका एक दृढ़तर अभिप्राय यह भी है कि सृष्टि आदिको केवल भगवान्की कृति या कार्य समझने मात्रसे भक्ति सिद्ध नहीं हो पाती परन्तु इन्हें भगवान्की लीलाके रूपमें निहारनेपर अवश्य ही भक्ति सिद्ध हो पाती है (द्रष्ट.भाग.पुरा.१।१।४).

अतः भगवान्के तात्त्विक स्वरूप और भगवल्लीलाके भी तात्त्विक स्वरूपको जानना ध्यानरूप प्रयोजनकी पूर्तिके हेतु है तथा श्रवण कीर्तन स्मरण करनेमें दोनोंकी एकदूजेके लिये उपयोगिता है. साथ ही साथ इतरेतरसापेक्ष गौणमुख्यभाव भी है. महाप्रभुकी इन दशविध लीलाओंके बारेमें व्याख्यारीतिकी कुछ विशेषताओंपर लक्ष्य देनेपर एक और बात उभर कर सामने आती है और वह यह कि इस महापुराणको उपनिषदर्थमीमांसाकी शैलीमें ही नहीं प्रत्युत महर्षि बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंकी मीमांसाकी तरह भी देखना चाहते हैं. अतएव जैसा उन सूत्रोंमें श्रुत्यर्थमीमांसाको प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूपोंमें वर्गीकृत किया गया है. तदनुसार न केवल दशमस्कन्धीय लीलाओंमें ही अपितु दशविध लीलाओंमें भी वह प्रमाणादिचतुष्टयीका प्रारूप खोजना महाप्रभुको आवश्यक लगता है.

महाप्रभु इस विषयमें एक शंका-समाधान करते हुवे यह प्रतिपादन करते हैं कि इस महापुराणमें दस पदार्थोंके निरूपण किये जानेपर शास्त्रभेद तो कहीं गलेपतित नहीं होगा! ऐसी आशंका परन्तु नहीं करनी चाहिये. क्योंकि इस शास्त्रीय तत्त्वका विचार परस्पर विरोधाभासी वचनोंमें अविरोध खोजनेमें पर्यवसित होना चाहिये. वह ब्रह्मको सर्वरूप धारण करनेमें समर्थ माने बिना शक्य नहीं. अतः ब्रह्मके स्वरूपसे अन्यथा प्रकारका यदि कुछ उच्च-नीचभेदवाला प्रतिभान होता हो तो उसका कर्ता भी ब्रह्म ही होता है. इस सिद्धान्तव्यवस्थामें यदि कोई दूषण स्फुरित होते हों दूषण और दूष्य भी स्वयं श्रीहरि ही होते

हैं. क्योंकि सारे विरोधाभास ब्रह्ममें ही शोभित होते हैं. आश्रयरूप ब्रह्मके बारेमें **"यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम्"** कहा गया होनेसे (द्रष्ट.सुबो.२।९।२३). अतएव ब्रह्मके साथ संबद्ध प्रमाण प्रमेय साधन और फल सभी ब्रह्मात्मक होने चाहियें. अब दशम पदार्थरूप ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका आश्रयभूत स्वरूप या लीला के भलीभांति बोध होनेपर ही सारी कि सारी नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टिलीलाका भी भगवद्रूप होना बोधगम्य बनता है. अतः यह अवगत हो जानेपर लीलार्थ परिगृहीत नाम-रूप-कर्मोंके बारेमें ग्राह्य/त्याज्यका विवेक भी उपपन्न हो जाता है (द्रष्ट.सुबो.२।१०।४).

महाप्रभुके ऐसे दृष्टिकोणके बारेमें अनिवार्यतया ज्ञातव्य तथ्य यह है कि ऐसा विवेक यदि बुद्ध्यारूढ़ न हो पाये तो पूर्वोदाहृत **"मनसैव अनुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति... तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणो, न अनुध्यायन् बहून शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्"** (बृह.उप.४।४।१९-२१) वचनमें ब्रह्मके एकधा अनुदर्शनकी जैसी सैद्धान्तिक आवश्यकता प्रतिपादित की गयी उसके ही आधारपर "मृत्योरपि मृत्यु" में भी ब्रह्मभाव रखनेमें आपत्तिजनक कुछ रह नहीं जायेगा, भगवान् स्वयं गीतामें यह स्वीकारते भी हैं ही कि **"अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्च अहम्"** (भग.गीता.९।१९). और तब तो नानात्वदर्शनमें भी आपत्तिजनक कुछ माना नहीं जा सकेगा! क्योंकि स्वयं ब्रह्म ही तो स्वेच्छया नाना बना है, जैसा कि श्रीभागवत महापुराणमें कहा ही गया है **"एको नानात्वम् अन्विच्छन्"** (भाग.पुरा.२।१०।१३). यों ब्रह्मेतर तो कुछ पद-पदार्थ हो ही नहीं सकता तो इतर पद-पदार्थोंके ध्यान धरनेमें भी वाणीका अपव्यय सिद्ध नहीं हो पायेगा. अतः ब्राह्मैकत्वानुध्यानके माहात्म्यनिरूपणमें अनेकता प्रतिफलित होती है और ऐसी अनेकताके रहते एकत्वको परम सत्यतया मान्य रखा नहीं जा सकता, यों उभयतःपाश यहां झलकता है!

अतः इसके समाधानार्थ महाप्रभुके मतके अनुसार यह आवश्यक है क्योंकि अनेकत्वको मायिक न मानना हो तो सभी पदार्थोंमें भगवान्के दशविध धर्म स्वीकारने पड़ेंगे. ये सभी लीलाओंमें भगवान्द्वारा धरे गये भगवदात्मक रूप ही होते हैं. लीलार्थ प्रकट, परन्तु, ऐच्छिक भेदके अनुरोधवश भगवदात्मिका लीलामें भी कुछ भगवान्के कुछ नाम-रूप-कर्म, यथा, व्यामोहिका प्रदर्शित नाम-रूप-कर्म, तामस बाह्य पदार्थ, मन-वाणी-कायाकी आसुरी वृत्ति और इसी तरह अधर्म-नरक आदि ब्रह्मतया ज्ञातव्य होनेपर भी जीवात्माओंके परिमित सामर्थ्यके विचारवश तथा लीलाभेदके अनुरोधवश भी उपादेयतया अग्राह्य होते हैं. अतएव इन्हें ब्रह्मविषयक एकत्वानुसन्धानके अन्तर्गत ब्रह्मात्मक होनेके साथ-साथ लीलानुरोधवश अग्राह्य भी माना गया है. एतदर्थ ही महाप्रभु यह स्पष्टीकरण भी देते हैं कि ब्रह्मतया जगत्को जानना अच्छी बात है, फिरभी जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके बजाय, जिसमें ये नाम-रूप-कर्म स्वयंकी लीलाकामनाके वश प्रकट हुवे हैं, उस ब्रह्मके ही बारेमें हमारे भीतर परम आसक्ति होनी चाहिये (द्रष्ट.सुबो.२।९।३५). अतएव भगवल्लीलाके अन्तर्गत भगवान्के प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलात्मक लीलार्थ परिगृहीत चतुर्विध रूप यथायथ लीलाके अन्तर्गत जीवात्माके परमहितसाधक होनेपर जैसे कभी ग्राह्य होते हैं, वैसे ही लीलार्थ या लीलाके अन्तर्गत जीवात्माका अहित करनेवाले प्रमाणाभास-प्रमेयाभास-दुष्टसाधन-दुःखैकरूपफल अग्राह्य भी माने जा सकते हैं.

भागवतीय दशविध लीलाओंकी प्रमाणादि चतुष्टयरूपता :

१.इसी वैचारिक पृष्ठभूमिपर महाप्रभुने कुछ महत्त्वपूर्ण विधान ऐसे भी उत्कीर्ण किये हैं कि भगवान्की दशविध लीलाओंके अन्तर्गत तृतीय-चतुर्थ-पंचम स्कन्धीय सर्ग-विसर्ग-स्थान पदार्थ सृष्टिलीलामें प्रमेयलक्षणरूप हैं, कारणतत्त्वकी प्रधानताके अनुरोधवश. षष्ठ-सप्तम-अष्टम स्कन्धीय पोषण-ऊति-मन्वन्तर पदार्थ प्रमाणलक्षणरूप हैं, क्योंकि ज्ञेयब्रह्म आश्रयणीयपरमात्मा या भजनीयभगवान् के वास्तविक स्वरूपका ज्ञान

स्वयं भगवदनुग्रहजन्य सत्कर्मवासना और सदाचरण बिना शक्य नहीं. नवम-दशम-एकादश स्कन्धीय ईशानुकथा-निरोध-मुक्ति पदार्थ भक्ति भगवत्सायुज्य या पुनर्ब्रह्मभावापत्ति रूपी हैं अर्थात् साधनलक्षण-फललक्षण-रूप हैं (द्रष्ट.सुबो.२।१०।२).

इस सच्चिदानन्दरूप स्रष्टाकी अपराधीन अनौपाधिक सिसृक्षाके ही वश सदंशमेंसे क्रियाशक्ति प्रकट होती है, चिदंशमेंसे व्यामोहनशक्ति और आनन्दांशमेंसे सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्ति (द्रष्ट.सुबो.२।९।१). अतः अपनी आनन्दात्मिका शक्तिद्वारा भगवान् [१] ब्रह्माण्डके किसी देशविशेषमें, [२] ब्रह्माण्डवर्ती जीवके हृदयमें; अथवा, ब्रह्माण्डसे परे अपने [३] दिव्यस्वरूपमें या [४] दिव्यलोकोमें भी जब आत्मानन्द ब्रह्मानन्द या भजनानन्द प्रदान करना चाहते हैं, तब जीवात्माके भीतर आनन्दांशके प्राकट्यवश आनन्दरूप भगवान् प्रतिष्ठित या प्रविष्ट हो जाते हैं (द्रष्ट.सुबो.२।२।३१). अतएव प्रलयके तीन प्रकारोंके अन्तर्गत अहन्ताममतात्मक संसारका प्रलय ईशानुकथा अर्थात् भक्तिद्वारा भगवत्प्राप्तितया स्वीकारा गया है. देहादिसंघातका प्रलय अर्थात् प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूपेण स्वयं भगवान्के भक्तोंके बाह्याभ्यन्तरमें निरुद्ध हो जानेपर अर्थात् सर्वात्मना प्राप्त हो जानेकी निरोधलीलाके रूपमें स्वीकारा गया है. इसी तरह एकादशस्कन्धीय मुक्तिलीला भी जीवकी मुक्तावस्थारूप लक्षणतया जीवलक्षणरूपा न हो कर मुक्तामुक्त सभी जीवात्माओंके ब्रह्माभिमुख प्रयापणलीलाके ही निरूपणार्थ है. अतः नवम-दशम-एकादश-स्कन्धीय लीला साधनलक्षण-फललक्षण-रूपा हैं. इनसे लक्षित होती आश्रयभावरूपा या आश्रयभावापत्तिरूपा लीला लक्ष्यरूपा है. बारह स्कन्धोंमेंसे प्रथम और द्वितीय अधिकार और साधन के निरूपक अध्याय हैं. अवशिष्ट तृतीयसे एकादश स्कन्ध पर्यन्त लक्षणनिरूपक स्कन्ध हैं. और पूर्वोपात्त नौं लीलाओंसे लक्षित होते बारहवें स्कन्धका प्रतिपाद्य विषय लीला या स्वरूप भी अन्तमें परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके परात्पर स्वरूप और परात्पर लीलाके निरूपणार्थ हैं.

यद्यपि बारहवें स्कन्धका प्रतिपाद्य विषय अपनेसे पूर्ववर्ती नौं

लक्षणप्रतिपादक स्कन्धोंसे लक्ष्यरूप होनेके कारण तुलनात्मिका दृष्टिसे प्रमुख प्रतिपादनीय पदार्थ लगता है, फिरभी सम्पूर्ण शास्त्रके अर्थरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी तुलनामें तो वह भी परिगृहीत लीलारूप न सही परन्तु धर्मरूप या धामरूप ही है. अतः लक्षणीभूत लीलाओंकी तुलनामें वह मुख्य होनेपर भी धर्मिरूप या धामिरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके व्यापिवैकुण्ठमें नित्यलीलावस्थित स्वरूपकी तुलनामें गौण होता है. यह तो श्रीमद्भगवद्गीताके भी एकाधिक वचनोंके आधारपर सुस्पष्ट ही है (द्रष्ट.भग.गीता.१२।१-८,१५।६,१६-१८).

सम्पूर्ण श्रीभागवत महापुराणरूप शास्त्रके बारेमें इस तरहके विवेकके अभावमें निरोधस्कन्धमें प्रतिपादनीय कृष्णलीला भी या तो लक्ष्यीभूत आश्रयस्कन्धोक्त लीलाकी लक्षणरूपा सिद्ध हो जायेगी. और तब या तो आश्रयलीलाको दशम स्कन्धमें और निरोधलीलाको बारहवें स्कन्धमें व्युत्क्रम द्वारा स्वीकारने बाधित होना पड़ेगा. अथवा श्रीकृष्णलीलाकी गौणता दुष्परिहर हो जायेगी. अतः सम्पूर्ण शास्त्रके प्रतिपाद्यार्थरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णमें भक्तिभावके उद्बोधनार्थ अपेक्षित माहात्म्यज्ञान, अक्षरब्रह्मात्मक आश्रयधामके स्वरूपज्ञानद्वारा प्राप्त होता है. उस आश्रयस्वरूप अक्षरब्रह्मके अज्ञान-अन्यथाज्ञान-रहित ज्ञान सिद्ध हो जानेपर, अवतारकालमें साक्षात् प्रकटरूपेण तथा अनवतारकालमें भगवन्नामात्मक श्रीमद्भागवतरूपेण श्रीकृष्णमें सुदृढ़ सर्वतोऽधिक स्नेह प्रकट हो पाता है (द्रष्ट.सुबो.१।१।१). अतः भगवल्लीलार्थ प्रकट होनेवाले नाम-रूप-कर्मोंके न केवल ग्राह्य-त्याज्यका प्रभेद अपितु ग्राह्य नाम-रूप-कर्मोंके बीच भी गौण-मुख्यभावके प्रभेद मान्य करने पड़ते हैं.

इन दसोंके दस स्कन्धोंमें प्रतिपादित होनेवाली लीलाओंमेंसे दशम आश्रयरूपा लीला ब्रह्मकी स्वरूपलक्षणरूपा है तथा अवशिष्ट नवविध लीला तो उपनिषदुक्त उत्पत्ति-स्थिति-लयादि क्रियारूपा या कार्यलक्षणरूपा होती हैं.

श्रीभागवत महापुराण श्रुत्यादिसे अधिगत या अनधिगतार्थ का ज्ञापक है? :

२.इसी तरह महर्षि बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंके स्वोपज्ञ भाष्य होनेके दृष्टिकोणसे श्रीभागवत महापुराणको निहारनेपर ब्रह्म और उसके प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलके स्वरूपोंकी मीमांसा यहां भी खोजनी आवश्यक है. फिरभी श्रीभागवत महापुराणमें आश्रयके रूपमें उसी औपनिषदिक ब्रह्मके औपनिषदिक श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप साधनोंके बजाय स्वयं उस ब्रह्ममें लीलात्मना प्रकट होनवाली दशविध लीलाओंके श्रवण-कीर्तन-स्मरण रूपी साधन और भक्ति या सालोक्यादि अनेकविध मुक्ति रूपी पदार्थ निरूपित हुवे हैं. एतावता न तो प्रस्तुत शास्त्र श्रुति-स्मृति-सूत्रोंका केवल अधिगतार्थज्ञापक होनेसे अनुवाद सिद्ध हो पाता है और न सर्वथा स्वोपजीव्य श्रुत्यादि प्रमाणोंद्वारा सर्वथा अनधिगतार्थका ही ज्ञापक, उनमें उभरनेवाले सन्देहोंके वारक होनेके कारण. अतएव ब्रह्मसूत्रके चार प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूप अध्यायोंका प्रारूप भी भागवतीय दशविधलीलामें महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय तथ्य है.

यहां यह अवधेय है कि औपनिषदिक उत्पत्ति-स्थिति-प्रयाण-लयवाले प्रारूपके अनुसार देखनेपर उत्पत्तिके अन्तर्गत सर्ग-विसर्गलीला, इसमें अंशतः स्थानलीला भी आ जाती है, क्योंकि 'स्थान'पदकी आधार या अधिकरण व्युत्पत्ति (''जहां कुछ अवस्थित होता हो वह 'स्थान' कहलाता है'')के वश उत्पाद्य सारे कार्य उपादानरूप स्थानमें उत्पन्न होते हैं. अतएव स्थानलीला अंशतः उत्पत्तिके भी अन्तर्गत समाविष्ट होती है, क्योंकि जो कुछ उत्पन्न होता है वह इस आश्रयरूप आधारमें ही उत्पन्न होता है. यों स्थानलीला अंशत उत्पत्तिस्थानीय और अंशतः स्थितिस्थानीय भी है. अन्यथा करणव्युत्पत्ति (''जिस साधनके द्वारा कुछ कहीं अवस्थित होता हो वह साधन 'स्थान' कहलाता है'') तथा भावव्युत्पत्ति (''कहीं अवस्थित होनेकी क्रिया 'स्थान' कहलाती है'') द्वारा लभ्य अर्थोंमें स्थानलीला औपनिषदिक स्थितिपक्षके अन्तर्गत आती है.

इस सन्दर्भमें महाप्रभुने स्थानलीलाके जो दो विवरण दिये हैं उन्हें भी जान लेना आवश्यक है : [१.समष्ट्या] देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदसे रहित विष्णुका पुरुषशरीरस्वीकार सर्ग है, पुरुषसे ब्रह्मादिकी उत्पत्ति विसर्ग है तथा उत्पन्न होनेवालोंका तत्तद् मर्यादाके अनुसार स्थापन/पालन स्थानलीला है. [२.व्यष्ट्या] प्रत्येक पदार्थमें कारणतया भगवान्‌की स्थिति सर्ग है, उस कारण पदार्थमें उत्पन्न होनेवाले कार्यका विद्यमान रहना स्थिति है, क्योंकि तन्तुरूप उपादानस्थानमें उपादेयकार्य पटके प्रकट होनेपर अवयविरूप पटमें अवयवरूप तन्तु अपना स्थान प्रकट करते पाते हैं. अतः सभी वस्तुओंमें वस्तुस्वरूपेण और मूलरूपेण भी भगवान्‌के विद्यमान होनेकी मर्यादा स्थितिलीला है (द्रष्ट.सुबो.२।१०।१).

अतएव पंचमस्कन्धसे ले कर दशमस्कन्ध पर्यन्त उपनिषदुक्त स्थितिपक्षका कीर्तन है.

दशमस्कन्धमें जिन जीवात्माओंके बीच परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंके प्रापक साधनतया स्वयमेव निरुद्ध हुवे, उन्हें प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूपा भगवत्प्राप्ति हुयी है. इसी तरह जिन जीवात्माओंके बीच भगवान् स्वसम्बन्धी मोक्षसाधनतया निरुद्ध हुवे उन जीवात्माओंके प्रापंचिक संघात दूर कर अथवा संघातमें निगूढ़ ब्रह्मात्मकताको प्रकट कर मुक्त्याश्रयरूप भगवान् उन्हें प्राप्त हुवे. यों जीवन्मुक्तिरूप होनेसे दशम स्कन्ध अंशतः स्थानलीलाके चरमोत्कर्षके वर्णनतया और अंशतः या गौणरूपेण विदेहमुक्तिके वर्णनतया भी प्रवृत्त माना गया है.

जिन जीवात्माओंके बीच, परन्तु, भगवान् साधनतया निरुद्ध नहीं होते, उन जीवोंकी निरोधरूपा लीलाके प्रकरणमें नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्‌में मृत्यु वर्णित होनेपर भी नाम-रूप-कर्माश्रयरूप भगवान्‌में लय एवं पुनः आश्रयभावापत्ति तो सृष्टिप्रलयके समय ही स्वीकारी गयी है. जो एकादश और द्वादश स्कन्धीय लीलाओंके रूपमें वर्णनीय हैं.

क्या स्थानलीला 'शाखारुन्धती'न्यायेन केवल भगवद्ध्यानार्थ ही भागवतमें योजित की गयी है? :

३.श्रीभागवतप्रतिपादित स्थानलीला केवल भगवद्ध्यानार्थ है? या भगवत्स्वरूप परमार्थतः स्थानरूप भी है?

इन प्रश्नोंके समाधानतया अब यह कहा जा सकता है : स्थानलीला जीवात्माके भीतर भगवान्के भक्त्यात्मक ध्यानौपयिक माहात्म्यज्ञानके वास्ते भी है और सारी कि सारी भगवल्लीलाके आधारभूत परम आश्रयका जो स्वरूप है उसके अनुरूप तथा उसमें प्रकट होनेवाले अनेकविध अवान्तर लीलास्थानोंके अभिप्रेत स्वरूपका भी अपने-आपमें कुछ वैशिष्ट्य भी है ही. अर्थात् भूर्भुवःस्वर्लोक तथा पातालादिलोक और उनमें निवास करनेवाले जीवात्माओंके भी भीतर कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप उपायोंसे अनेकविध जैविक भगवत्स्थानोंके आविष्करणार्थ भी है.

यह 'स्थिति'पदके बारेमें अधिकरणार्थक, करणार्थक; तथा, भावार्थक यों त्रिविध व्युत्पत्तियोंके आधारपर कही जा सकती बात है.

(सच्चिदानन्द और सत्यज्ञानानन्त ब्रह्मसे प्रकट होनेवाला त्रिसर्ग)

'सच्चिदानन्द' पद 'सत्' 'चित्' और 'आनन्द' पदोंके द्वन्द्वसमाससे घटित समाहारका वाचक है.

भगवद्गीताके अनुसार 'सत्' पद पांच अर्थोंमें प्रयुक्त होता है [१] सद्भाव [२] साधुभाव [३] प्रशस्त कर्म [४] यज्ञतपोदानपरता [५] परमेश्वरार्थ कर्मानुष्ठान (द्रष्ट.भग.गीता.१७।२६-२७). इनमेंसे प्रथम अर्थके अभिप्रायवश ही 'सच्चिदानन्द' पदमें योजित हुवा है. इस सद्भावकी व्याख्या भी भगवद्गीतामें "असत् पदार्थ कहीं होता नहीं है और सत् पदार्थका कहीं-कभी अभाव नहीं होता है" कह कर दरसायी गयी है (द्रष्ट.भग.गीता.२।१६). इस दृष्टिसे देखने जानेपर 'अनन्त' पदका जो कुछ विवक्षितार्थ हो

वह 'सत्' पदार्थके अन्तर्निविष्ट है ही. 'सत्य' पदका अर्थ, जबकि, " 'सत्'+'त्यत्'='सत्य' " पूर्वोदाहृत बृहदारण्यकोपनिषद्के **"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे... सच्च त्यञ्च"** (बृह.उप.२।३।१) वचनके आधारपर प्रकट एवं अप्रकट अथवा व्यक्त और अव्यक्त दोनोंका वाचक माना गया है. इसी तरह 'चित्' पद निर्विषयक या सविषयक उभयविध चैतन्यका वाचक हो सकता है; जबकि, 'ज्ञान' पद निर्विषयक चैतन्यका वाचक नहीं हो सकता. इसी तरह 'आनन्द' पद इन्द्रियजन्य सुखदुःखके द्वन्द्वसे अतीत निरुपाधिक हर्षका वाचक होता है. वह सहज एवं नित्य ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य युक्त धर्मिरूप भगवान्में रहता है (द्रष्ट.ब्र.सू.भा.३।२।५ भाग.पुरा.२।९।१६). अन्तमें 'अनन्त' पद तो देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे वर्जित होना है.

अतः करणव्युत्पत्ति और भावव्युत्पत्ति के द्वैविध्यवश जो 'स्थिति' पदके अन्य दो अर्थ होते हैं, उनके बारेमें **"स्थितिः वैकुण्ठविजयः"** (भाग.पुरा.२।१०।४) ऐसा श्रीभागवत महापुराणमें कहा गया है. तदनुसार इस 'वैकुण्ठविजय' पदमें 'वैकुण्ठ' पद लक्ष्मीद्वारा अधिकृत कृत्रिम वैकुण्ठका वाचक नहीं प्रत्युत व्यापिवैकुण्ठका वाचक है. यह वैकुण्ठ कृत्रिम वैकुण्ठसे पर अक्षरब्रह्मस्वरूप स्वीकारा गया है. अर्थात् यह पुरुषोत्तम भगवान्की देश-काल-स्वरूपसे अपरिच्छिन्नता है. इसीका तैत्तिरीयोपनिषद्में **"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म"** (तैत्ति.उप.२।१) वचनद्वारा निरूपण किया गया है. अतएव तैत्तिरीयोपनिषद्में इसे **"ऐसे ब्रह्मको अपनी परमव्योमरूपा हृदयगुहाके भीतर जो बिराजमान जान पाता है उसकी सारी कामनायें ब्रह्मके साथ परिपूर्ण हो जाती हैं"** (वहीं) कह कर, कैसे ऐसे ब्रह्ममेंसे आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी ओषधि अन्न अन्नमय-पुरुष प्राणमय-पुरुष मनोमय-पुरुष विज्ञानमय-पुरुष और इन सभीके भीतर सर्वान्तरतम रूपमें अन्तमें आनन्दमय-पुरुषका वर्णन किया गया है. यों सच्चिदानन्दरूप पुरुषोत्तमका सर्वान्तस्स्थित धामी या धर्मी होना सूचित किया गया है. सत्यज्ञानानन्तरूप अक्षरब्रह्म

जैसे सच्चिदानन्दरूप पुरुषोत्तमका धर्म या धाम है, वैसे ही जगदुपादानरूप भी वही बनता है (द्रष्ट.सिद्धा.मुक्ता.३).

इस अक्षरब्रह्मका ही बारहवें स्कन्धमें प्रलयकी प्रक्रियाके निरूपणके प्रसंगमें सर्वाश्रयतया प्रतिपादन किया गया है. वहां कैसे पांचभौतिक पदार्थ सृष्टिक्रमकी तुलनामें व्युत्क्रमसे अपनी तन्मात्राओंमें, तन्मात्रा इन्द्रियोंमें, वे सभी अहंकारमें, अहंकार प्रकृतिकी गुणत्रयीमें, वह गुणत्रयी अव्याकृतमें लीन हो जाते हैं, यह दिखलाया गया है. सभी तत्त्वोंके स्वस्वकारणावस्थाओंमें लीन हो जानेपर, जो अनादि अव्यक्त नित्य कारण अव्ययरूप होता है, जहां न वाणी, न मन, न प्राण, न महदादि, न सत्त्वरजस्तमोगुण... न आधिभौतिक न आध्यात्मिक और न आधिदैविक, कुछ भी बच नहीं जाता, उसे संसुप्तवत् शून्यवद् अप्रतर्क्य मूलभूत पदके रूपमें बिरदाया गया है (द्रष्ट.भाग.पुरा.१२।४।१४-२१). यह सर्वकारणकारणभूत सर्वाश्रयरूप अक्षरब्रह्म ही 'व्यापिवैकुण्ठ' है जहां सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम बिराजमान हैं. इसपर *विजय प्राप्त करने* का अभिप्राय इसके अवाङ्मनोगोचर अप्रतर्क्य एकमेवाद्वितीय रूपमें निजलीलाको प्रकट करनेकी कामनाके वश वाङ्मनोगोचर प्रतर्क्य अनेकविध नाम-रूप-कर्मोका प्रकट हो जाना है!

(आधिभौतिक सदंश, आध्यात्मिक चिदंश और आधिदैविक आनन्दांश रूपा त्रिविधा सृष्टि)

अतएव ऐसे मूलभूत आश्रयतत्त्वमें अवान्तर स्थानलीला प्रकट हुयी है. उसमें उक्त सच्चिदानन्द पुरुषोत्तमके लीलासंकल्पवश सर्वप्रथम आनन्दांशसे आधिदैविक ब्रह्माण्डमूर्ति अधिदैव प्रकट होता है. उसके बाद चिदंशसे अध्यात्म तथा सदंशसे अधिभूत प्रकट होता माना गया है (द्रष्ट.सुबो.२।१०।१४). इन अधिभूत अध्यात्म और अधिदैव के स्वरूपोंकी विवेचना भी यहां की गयी है : द्रव्य अधिभूत, कर्म अदृष्टादि अध्यात्म, सर्वनियामक भगवच्चेष्टारूप काल आधिदैविक होता है. स्वभाव

नियतकारणोंके स्वरूपसे नियतकार्यस्वरूपोंके परिणामका हेतु होता है. चिदंशभूत जीवात्मा अपने कर्म ज्ञान और भाव के अनुरूप ज्ञाता कर्ता तथा भोक्ता के रूपमें प्रकट होता है. अतः द्रव्य कर्म काल स्वभाव और जीव सभी कुछ लीलासिसृक्षु भगवान् वासुदेवके सृष्ट्युपयोगी रूप हैं (द्रष्ट.सुबो.२।१०।१२).

अतः प्रस्तुत विवेचनाका सारग्रहण करना हो तो महाप्रभुका यह वचन अतीव मननीय है कि श्रीभागवत महापुराणके कथार्थसे अतिरिक्त अर्थात् कथामें निगूढ़ सात अर्थ होते हैं : शास्त्रार्थ स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ अध्यायार्थ वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थ. इनमें प्रतीत होते परस्पर विरोधाभासके परिहार होनेपर ही वास्तविक अभिप्राय इस महापुराणका समझमें आ सकता है. लीलाविशिष्ट परमानन्दरूप श्रीकृष्ण समग्र शास्त्रके प्रमुख प्रतिपाद्य-विषय हैं. इसी तरह प्रस्तुत शास्त्रका प्रयोजन दैवी जीवात्माओंके भीतर श्रीकृष्णभक्तिका प्रादुर्भाव है. अतः सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय रूपी सभी स्कन्धोंके अर्थ भगवल्लीलाके रूपमें अवगत हो पाते हों तो भक्ति प्रकट हो सकती है. इन्हें केवल भगवत्कार्य या भगवत्कृति माननेपर वह सुलभ नहीं. कौतुकतया अर्थात् किसी भी तरहके आयास बिना किया जाता कर्म लीलारूप होता है. मुख्यलीला दस प्रकारकी सर्ग-विसर्गादिरूपा होती हैं. जो तीसरे स्कन्धसे आरम्भ कर बारहवें स्कन्ध तक निरूपित हुयी हैं. इन दशविध लीलाओंके श्रोता-वक्ताओंके उत्तम-मध्यम-आदिम प्रकार प्रथम स्कन्धमें वर्णित हुवे हैं. जबकि द्वितीय स्कन्धमें उस भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनके अंगों या साधनों का निरूपण है. अतः दस लीलाओंकी तुलनामें प्रथम-द्वितीय स्कन्धोंमें वर्णित लीला गौण हैं. अवशिष्ट दस स्कन्धोंमें भी बारहवें स्कन्धकी तुलनामें तीसरे स्कन्धसे लेकर ग्यारहवें स्कन्धकी लीलाकथा गौण हैं, लक्षणरूपा होनेके कारण. बारहके बारह स्कन्धोंमें वर्णित लीला भी पुनः समग्र शास्त्रके प्रतिपाद्य श्रीकृष्णकी लीलाकी तुलनामें गौण ही है.

(''जो आध्यात्मिक पुरुष है वही तो आधिदैविक पुरुष भी है किन्तु इन दोके बीच विच्छेद प्रकट करनेवाला पदार्थ आधिभौतिक पुरुष होता है''(भाग.पुरा.२।१०।८) वचनका औपनिषदिक सन्दर्भ)

'सत्' या 'सत्य', 'चित्' या 'ज्ञान' और 'आनन्द' या 'आनन्त्य' की जो दो तरहकी प्रत्ययत्रयी हैं, उन दोनोंमें कुछ उल्लेखनीय समानता भी है और असमानता भी. चित् या ज्ञान (उदा.आत्मचेतना किसी भी भी प्राणीमें) असत् या असत्य हो नहीं सकते. सत् या सत्य, परन्तु (उदा.पांचभौतिक पदार्थ) अचित् या ज्ञानरहित पदार्थ हो सकते हैं. अतः 'चित्' या 'ज्ञान' कहने-सोचने मात्रसे उनकी सत्ता या सत्यता तो अनुक्तसिद्ध ही होती है. इसी तरह आनन्द (उदा.विषयानन्दवान् ब्रह्मानन्दवान् या भजनानन्दवान्) कभी अचित् हो नहीं सकता 'आनन्द' कहने-सोचने मात्रसे उसका सचेतन या ज्ञानरूप होना अनुक्तसिद्ध हो जाता है. देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न होना अर्थात् 'अनन्त' कहने-सोचने मात्रसे जो भी देश-काल-स्वरूपतः परिच्छन्न पदार्थ हों वे अनन्त पदार्थके ही व्यष्टिरूप न हों तो अनन्त अनन्त ही नहीं रह जायेगा. ऐसी स्थितिमें यथानिर्देश [१]सत्/सत्य [२]चित्/ज्ञान और [३]आनन्द/आनन्त्य रूपी पदार्थोंमें प्रात्ययिक क्रमबद्धता या उत्तरोत्तर अन्तर्भाव द्योतित हो रहा है. हमने यह भी देखा कि कैसे महाप्रभु सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशसे अधिभूत चिदंशसे अध्यात्म और आनन्दांशसे अधिदेव का प्राकट्य स्वीकारते हैं. ऐसी स्थितिमें उपर्युद्धृत भागवतवचनमें आध्यात्मिक-आधिदैविक पुरुषोंको परस्पर अभिन्न दिखला कर उन दोनोंके बीच आधिभौतिकको विच्छेदकर्ता मानना कहां तक प्रामाणिक या युक्तियुक्त हो सकता है? इसका समाधान खोजनेको पुनः उपनिषद्के अभिप्रायका विमर्श ही आवश्यक हो जाता है.

सर्वप्रथम तो ब्रह्मकी देश-काल-वस्तु-कृत परिच्छेदसे रहित चेतनाकी अंशभूता ही जीवचेतना होती है और वह रूपान्तर या कर्मान्तर धारण न करनेपर भी नामान्तरवाली तो कही जा सकती है. अतः

जब तक जीवचेतना सदंशात्मक प्राकृत सूक्ष्म या स्थूल देह के भीतर घिर नहीं जाती तब तक तब तक अंशिभूत चेतनासे उसका विच्छेद सिद्ध नहीं हो पाता. उदाहरणतया सागरकी जलराशीसे उसकी अंशभूता जलराशी सागरके भीतर ही किसी पात्रविशेषमें अन्तर्निविष्ट न हो जाये तब तक विच्छिन्न नहीं हो पाती. अतएव छान्दोग्योपनिषद्में **"इन प्राणधारी भूतोंके तीन बीज होते हैं अण्डज जरायुज और उद्भिज्ज. उस देवताने यह विचार किया मैं स्वयं त्रिविध बनुं इसलिये उसने इस जीवके रूपमें स्वयं प्रविष्ट हो कर नाम-रूपका व्याकरण किया"** (छान्दो.उप.६।३।१-२). इस नाम-रूप-कर्मोके व्याकरणकी प्रक्रियाद्वारा अंशीसे विच्छिन्न होनेकी प्रक्रियाका निरूपण बृहदारण्यकोपनिषद्में बहुत रोचक रीतिसे ध्वनित किया गया है.

वहां यह समझाया गया है कि कैसे [क]चिदंशके शक्तिरूप नाम वाणी मनः संकल्प चित्त ध्यान और विज्ञान उत्तरोत्तर एक-दूजेसे भूयान् होते हैं. इनमें भी पुनः अन्तिम जो विज्ञान है उससे भी भूयान् सदंशके शक्तिरूप [ख]बल जल तेज आकाश स्मर आशा और प्राण होते हैं. ये स्वयं भी उत्तरोत्तर एक-दूजेसे भूयान् होते हैं. अन्तमें प्राणसे भी भूयान् आनन्दांशके शक्तिरूप [ग]सत्य विज्ञान श्रद्धा निष्ठा कृति सुख उत्तरोत्तर एक-दूजेसे भूयान् होते हैं. अन्तमें भूमाको सर्वाधिक भूयान् दिखलाया गया है (द्रष्ट.छान्दो.उप.७।१-२३).

अतः चिदंशभूत जीवात्माकी आध्यात्मिक सूक्ष्मशक्तियां, जो वाणी मन संकल्प चित्त ध्यान और विज्ञान रूपा होती हैं, उनसे जीवात्माके आधिभौतिक प्राकृत स्थूलशरीरमें रही शक्तियां बल स्मर आशा और प्राण आदि शक्तियां तथा स्वयं भौतिक पृथ्वी जल तेज वायु आकाश आदि पदार्थ ही बलवत्तर होनेसे अधिक प्रभावशाली होती हैं. ये ही शक्तियां तथा पदार्थ चिदंश और आनन्दांश की शक्तियोंके बीच परस्पर अधिक सक्षमतया कार्यकारी होनेके कारण अध्यात्म और अधिदेव

के बीच परस्पर व्यवधायिका बन जाती हैं. अतएव तैत्तिरीयोपनिषद्में भी अक्षरब्रह्मसे आधिभौतिक पदार्थोंकी सृष्टि तथा अन्नमय प्राणमय मनोमय तथा विज्ञानमय कोशोंके भी भीतर आनन्दमय आत्माका प्रतिपादनमें वह आनन्दमय परमात्मा विज्ञानमय जीवात्माके केवल भीतर ही हो तो विच्छेद घटित हो नहीं पायेगा एतदर्थ **"को ह्येव अन्यात् कः प्राण्याद् यद् एषः आकाशे आनन्दो न स्यात्"** (तैत्ति.उप.२।७) उसे बाहर भी दिखलाया है. उस बाहर विद्यमान आनन्दमय परमात्मा और जीवात्माके बीच अन्नमय प्राणमय मनोमय आदि कोशोंके विद्यमान रहनेके कारण, जो विच्छेद हुवा, उसे सबसे पहले स्वयं अपने भीतर भी विद्यमान समझा जा सकता हो तभी बाहर भी पहचाना जा पायेगा, यह दिखलाया गया है.

छान्दोग्योपनिषद्में वर्णित सर्वान्तःस्थित भूमापुरुषको निजानन्दरूप स्वमहिमामें प्रतिष्ठित दिखलानेका भी मूल तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि सागरोपम परमात्मासे घटोपम विच्छेदक चित्त-अहंकार-बुद्धि-मन प्राण कर्मज्ञानेन्द्रिय शरीरादि रूपी आत्मेतर करणो और विषयों में सुखार्थी बन कर जीवात्मा अनात्मरूप गो अश्व हस्ती हिरण्य दासदासी भार्या भूमि भवन रूपी विषयोंसे मिलते विविध सुखोंकी महिमामें रमण करने लगता है. परमसुखरूप भूमा पुरुष, जबकि स्वयं इन विषय-विषयी रूपोंमें प्रकट हुवा होनेपर भी प्रत्येक विषय और प्रत्येक विषयी के बाह्याभ्यन्तर भी विद्यमान होनेके कारण अपने अखण्ड बोधके अनुरूप इन्हें अनात्मतया देख नहीं पाता अतः आत्मैकत्वके अखण्ड अनुसन्धानवश निजानन्दमें ही निरत आत्मरत आत्मक्रीड आत्मानन्द स्वराट् रहता है. वह पराधीन नहीं बन पाता (द्रष्ट.छान्दो.उप.७।२५।१-२). अतः जीवात्माओंका रूप धारण करनेवाला परमात्मा अपने मौलिक अंशिरूपमें नहीं परन्तु अपने अंशरूपोंमें ही गो अश्व हस्ती हिरण्य दासदासी भार्या भूमि भवन रूपी विषयोंवाले स्थानोंमें अवस्थित हो जाता है. मूल अंशी तो सर्वथा-सर्वदा स्वाश्रयाश्रय रहता है (द्रष्ट.भाग.पुरा.२।१०।९).

इस अधिदेवरूप परमेश्वरकी स्वाश्रयाश्रयता बृहदारण्यकोपनिषद्में भी स्फुटतया प्रतिपादित की गयी है.

वहां वाचक्नवी गार्गीने याज्ञवल्क्यसे पूछा कि सब कुछ यदि जलमें ओतप्रोत हो तो वह जल तत्त्व कहां ओतप्रात है? जल वायुमें, वायु अन्तरिक्षमें, इस तरह सर्वान्तमें ब्रह्मलोक आनेपर जब वह कहां प्रतिष्ठित है यह पूछा गया तब महर्षि याज्ञवल्क्यने ब्रह्मलोकको प्रश्नातीत देवता कह कर अप्रश्नार्ह घोषित किया. अर्थात् वह अपनेसे भिन्न किसी आश्रयमें स्थित नहीं होता (द्रष्ट.बृह.उप.३।६।१).

इस तरह श्रीभागवत महापुराणके उस स्वाश्रयाश्रयका निरूपण बृहदारण्यकोपनिषद्में भी उपलब्ध होता है.

पुनश्च वाचक्नवी गार्गीके एक बार और जिज्ञासा करनेपर कि ''जो द्युलोकसे ऊपर भी हो और पृथ्वीलोकसे नीचे भी हो, साथ ही साथ द्युलोक और पृथ्वीलोक के भीतर भी हो; और जो भूत वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालमें परिच्छिन्न भी न होता हो, वह कहां ओतप्रोत रहता होगा? इस प्रश्नका उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्यने 'आकाश' कह कर दिया. पुनश्च वह आकाश कहां ओतप्रोत है? ऐसे प्रश्नका उत्तर 'अक्षर(ब्रह्म)में!' कह कर दिया (द्रष्ट.बृह.उप.३।८।३).

इस अक्षरके स्वरूपके निरूपण करते समय महर्षि याज्ञवल्क्य इस अक्षरको द्रव्योंके परिमाणोंसे रहित अस्थूल अनणु अह्रस्व अदीर्घ दिखलाते हैं. इसी तरह पंचमहाभूतोंके गुणोंसे भी रहित दिखलानेको अलोहित अस्नेह अच्छाय अतमस् अवायु अनाकाश कहते हैं. द्रव्यके निषेध कर देनेके कारण द्रव्योंके व्यक्तिशः नहीं पर उनके संघात या गुण रूप भी न होनेके कारण असंग अरस अगन्ध अचक्षुष्क अश्रोत्र अवाग् अमन अतेजस्क अप्राण अमुख अमात्र अनन्तर अबाह्य

भी होता है. न वह किसीको अपना अन्न बनाता है और न कोई उसे अपना अन्न बना सकता है. ऐसा विधान करते हैं.

अतएव महाप्रभु कहते हैं "श्रीकृष्ण परब्रह्म है, बृहद् अक्षरब्रह्म सच्चिदानन्दक=सत्यज्ञानानन्तरूप होता है. उस अक्षरब्रह्मके पुनः दो रूप होते हैं : एक रूपमें वह अनन्त नाम-रूप-कर्मात्मक जगद् बन जाता है और दूसरे रूपमें इन सबसे अतिविलक्षण भी रहता है" (सिद्धा.मुक्ता.३).

अक्षरब्रह्मके द्वैविध्यको भलीभांति समझना हो तो उपर्युद्धृत "*न कोई उसे अपना अन्न बना सकता है और न वह स्वयं किसीका अन्न बन सकता है*" वचनके सर्वथा विपरीत अन्य दो श्रुतिवचनोंको निरख लेना भी उपयुक्त होगा :

"चाहे कुछ भूतकालीन हो भविष्यत्कालीन हो सब कुछ यह पुरुष ही होता है. वह ऐसे अमृतत्वका स्वामी है कि जो खाये जानेपर भी तिरोहित नहीं हो पाता. इतना सारा विश्व उसकी महिमा है वह स्वयं तो इससे कहीं अधिक है, क्योंकि उसके एक चरणमें यह सारा विश्व समाया हुवा रहता है और उसके तीन चरण तो द्युलोकमें रहते हैं... उसके एक चरणमें वह सब कुछ बना है जो साशन=अन्नभक्षी होता है और अनशन=अन्नाभक्षी होता है."

(ऋक्संहि.१०।९०।२-४).

"मैं ही अन्न हुं और मैं ही अन्नाद भी... मेरा भक्षण करनेवाले अन्नका मैं भक्षक हुं. यों मैं ही सारा भुवन बन गया हुं. इस सुन्दर वर्णकी ज्योतिको जान पानेवाला ही समझ पाता है".

(तैत्ति.उप.३।१०।६).

"मृत्युके उपसेक द्वारा ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही उसकेभक्ष्य बनते हैं, उसे कौन जान सकता है!"

(कठोप.१।२।२५).

इससे सिद्ध होता है कि श्रीभागवत महापुराणके बारहवें स्कन्धकी आश्रयलीलामें अक्षरब्रह्मका स्वरूप संसुप्तवत् शून्यवद् अप्रतर्क्य सर्वविलक्षण स्वरूप समझाया गया है. परन्तु प्रस्तुत पांचवें स्कन्धमें प्रतिपादनीय स्थानलीलामें उसी अक्षरब्रह्मकी सर्वकार्यकारणरूपता सर्वाधाराधेयरूपता सर्वान्तर्यामिशरीररूपता सर्वभक्षकभक्ष्यरूपता सर्वलयशेषरूपता प्रतिपादनीय मानी गयी है.

उस शून्योपम स्वाश्रयाश्रय अक्षरब्रह्मको कोई शून्य ही न मान ले एतदर्थ यह सब प्रतिपादित किया गया है. अतएव इस अक्षरके नियन्त्रणमें सूर्यचन्द्रलोक द्युलोक-पृथ्वीलोक आधृत हैं, निमेष मुहुर्त अहोरात्र पक्ष मास ऋतु संवत्सर रूपी काल इसपर आधृत हैं. इस अक्षरके नियंत्रणमें बरफीले पर्वतोंसे नीचे बह कर आनेवाली नदियां कुछ पश्चिम ता कुछ अन्यान्य दिशाओंमें बहती हैं. इस अक्षरमें सायुज्यादि फलकी कामनाओंके वश दुष्कर दान-प्रतिग्रहादि धर्मोंका अनुष्ठान सम्पन्न हो पाता है (द्रष्ट.बृह.उप.३।८।८-९).

अतएव सृष्टिलीलाके प्रयोजनवश जो स्थान प्रकट हुवा वह आश्रयस्वरूप लीलामें अवस्थित होता है. फिरभी ऐसा नहीं कि वह केवल आश्रयस्वरूपके भीतर ही प्रकट होता हो. क्योंकि लीलार्थ सृष्ट स्थानमें स्वाश्रयाश्रय ब्रह्म जैसे उपादानतया रूपाधारतया अभिव्यापकतया और अन्तर्यामितया भी अवस्थित रहता है, उसी तरह अक्षरब्रह्मका धर्मि-धामि-रूप परब्रह्म भी, स्वयंसे विच्छिन्न जीवात्माओंके बीच, लीलावतारतया भी प्रकट हो सकता है. अतः उस भागवतोक्त स्वाश्रयाश्रयरूप ब्रह्मके सर्वाधाररूप होनेका पक्ष मीमांस्य बनता है.

(आधाररूपताकी मीमांसा)

संस्कृतभाषाके व्याकरण शास्त्रके अनुसार मूलतः किसी पदार्थके आधार होनेकी परिकल्पनाके दो निकष स्वीकारे गये हैं : [१]किसी भी क्रियाको सम्पन्न करनेवाले कर्ताका जो आधार हो वह उस क्रियाका भी आधार बन जाता है. अथवा [२]क्रियाद्वारा अभीप्सित वस्तुरूप कर्मका जो आधार होता है वह उस कर्मके बारेमें की जाती क्रियाका भी आधार बनता ही है (द्रष्ट.सिद्धा.कौमु.सूत्र ''आधारोऽधिकरणं'' १।४।४५). ऐसे आधारको व्याकरणशास्त्रमें अधिकरण-कारक माना गया है.

अर्थात् कोई क्रिया स्वरूपलाभ कर पाती है तो वह विभिन्न कारकों द्वारा ही कर पाती होनेसे, कर्ता या कर्म के जैसे आधारके बिना क्रिया स्वरूपलाभ ही न कर पाती हो, ऐसे आधारको 'अधिकरण' कहा जाता है.

अतः सर्ग-विसर्ग-स्थानादि लीलाके कर्ता परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण किस अधिकरणमें सर्गादि लीला करते हैं? इस प्रश्नके समाधान पानेके हेतु प्रवृत्त होनेपर कहा जा सकता है कि स्वधामरूपा देश-काल-वस्तु-दृष्ट्या स्वयंकी धर्मरूपा अपरिच्छिन्नतामें अर्थात् अक्षरब्रह्ममें. जैसे जलनिधि सागरके भीतर जलकी अन्तर्धारा प्रकट होती है; अथवा, वातावरणमें जैसे वात्या प्रकट हो जाती है. इसी तरह सर्ग-विसर्ग-स्थान आदि लीलारूप क्रियाके कर्मतया, जिन नाम-रूपादिको भगवान् अपने भीतर प्रकट करते हैं, उनकी उत्पत्त्यादि क्रियाके आधार भी उसी सच्चिदानन्द ब्रह्मके धाम/धर्मरूप अक्षरब्रह्मके सत्य-ज्ञान-आनन्त्य(देशकालवस्त्वपरिच्छिन्नता) रूपी सदंश चिदंश और आनन्दांश बनते हैं.

सिद्धान्तकौमुदीकार इस अधिकरणकारक आधारके तीन प्रभेद समझाते हैं : औपश्लेषिक (उदा.''कटे आस्ते''), वैषयिक (उदा.''मोक्षे इच्छा अस्ति'') और अभिव्यापक (उदा.''सर्वस्मिन् आत्मा अस्ति'').

इनमें उपश्लेष या संयोग तो किन्हीं दोके बीचमें ही सम्भव होनेसे, स्वयं अपने द्वेधा विभाजनसे पूर्व, स्वाश्रयाश्रयरूप एकमेवाद्वितीय ब्रह्ममें सम्भव ही नहीं. इसी तरह व्याप्य और व्यापक के भेदके भी प्रकट होनेसे पूर्व अभिव्यापकतारूपा अधिकरणता भी सम्भव नहीं. अतः अवशिष्ट रहती है वैषयिकी अधिकरणता. इस वैषयिकी अधिकरणताका ही निरूपण बृहदारण्यकोपनिषद्में किया गया है :

> ''यह दृश्यमान जगत् पहले पुरुषविध आत्मा ही केवल था. अपने आत्मानुवीक्षणमें उसने अपनेसे अन्य कुछ न देख पानेके कारण ''मैं तो हुं'' कह कर 'अंहं'नामा बन गया... उसने अपने 'अहं'नामा रूपसे अतिरिक्त दूसरे (अहंकारापेक्षित त्वंकार और तदाकार) रूपोंकी कामना की और उसने अपने-आपको दो रूपोंमें बांट लिया... तब जो अव्याकृत स्वरूप था उसका नाम-रूपोंमें व्याकरण हो गया... सो वह अपनेद्वारा व्याकृत नाम-रूपोंके भीतर प्रविष्ट हो गया... यह ब्रह्म जो पहले था उसने अपने-आपको पहले ब्रह्मतया जाना कि ''मैं ब्रह्म हुं'' (अर्थात् 'अहं' तो असंख्य नामोंमें एक नाम है, जबकि ब्रह्म होना उसका स्वरूप ही है) अतः वह सब कुछ बन गया... अतः आज भी जो कोई अपने-आपको ''मैं ब्रह्म हुं'' ऐसे जान पाता है, वह सब कुछ बन जाता है.''
>
> (बृह.उप.१।४।१-१०)

अतएव श्रीभागवत महापुराणमें भी यह कहा गया है कि ''महाप्रलयमें और कृतयुगके आदिमें ज्ञान और अर्थ दो नहीं प्रत्युत एक ही तत्त्व थे; अथवा विकल्परहित केवल ज्ञानमय अर्थ ही एकमात्र था. वह अवाङ्मनोगोचर निर्विकल्प एकाकी सत्य अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया द्वारा द्विधा—ज्ञान और अर्थ के दो रूपोंमें—विभक्त हो गया.

उन दो रूपोंमेंसे एक प्रकृतिरूप अर्थ कार्यकारणभावात्मना पुनः द्विधा विभक्त हो गयी. तब जो ज्ञानरूप तत्त्व था वह पुरुष बन गया... उस प्रकृतिके सत्त्व रजस् और तमस् तीन गुण फिर प्रकट हुवे'' (भाग.पुरा.११।२४।२-५). अतः ब्रह्मका औपश्लेषिक या अभिव्यापक अधिकरणात्मक स्वरूप तो सृष्टिकालिक ही हो सकता है. प्राक्कालिक अधिकरणता तो वैषयिकी शक्य हो सकती है.

यों एक बार ऐच्छिक द्वैत प्रकट हो जानेपर तो अन्य भी अनेक प्रकारकी अधिकरणता या आधाररूपता ब्रह्ममें प्रकट होने लगती हैं. अतएव **''जनिकर्तुः प्रकृतिः''** (पाणि.सू.१।४।३०) सूत्रके भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं कि जननक्रियाकी आश्रयरूपा जो प्रकृति हो उसकी 'अपादान' संज्ञा होती है. यहां भाष्यकार शंका-समाधान करते हैं कि प्रकृतिरूप उपादानकारणसे विकृतिरूप कार्यका यद्यपि आत्यन्तिक अपक्रमण तो सिद्ध नहीं हो पाता, फिरभी प्रकृतिसे विच्छिन्न हुवे बिना भी आपेक्षिकतया कारणसे कार्यका बाहर आविर्भाव तो सिद्ध होता ही है (द्रष्ट.पातं.महाभा.१।४।३०). अतः उपादेय कार्यका अपने उपादानकारणमेंसे किसी तरह बाहर निकलना और निकलनेके बाद भी किसी तरह उपादानकारणमें स्थित रहना, ऐसा तथ्य स्वीकारते ही पंचमीकारकके स्वरूपमें भी एक तरहकी विलक्षण आधारता प्रकट होने लगती है. अतः उन अनेकविध आधारोंके प्रकारोंके विमर्शार्थ अब प्रवृत्त हुवा जा सकता है. बहुत सारे आधार मूलतः कारणगत विविधताके वश विविध प्रकारके आधार बनते हैं. तदर्थ कारणके विविध रूप जो पातञ्जलयोगसूत्रके भाष्यमें परिगणित हुवे हैं उनपर दृष्टिपात अपेक्षित है.

(कारणके नौं प्रकारोंके कारण आधारके भी नौं प्रभेद)

पातञ्जलयोगसूत्रके भाष्यकार कहते हैं **''उत्पत्ति स्थिति अभिव्यक्ति विकार/विकृति प्रत्यय आप्ति वियोग/वियुक्ति अन्यता और धृति के**

प्रभेदवश कारण नौं प्रकारके माने जाते हैं'' (पातं.यो.सू.भा.२।२८). अतः उत्पादक स्थापक अभिव्यञ्जक प्रकृति प्रत्यय प्रापक वियोजक पृथक्कारक तथा धारक कारणोंके प्रभेदवश आधारोंके भी इतने प्रकार सोचे जा सकते हैं. इनकी इतरेतरव्यावर्तक उदाहरणोंके साथ की गयी विवेचना वहीं आकरस्थलपर देख लेनी उचित होगी, विषयान्तर और विस्तारभीति के वश उन्हें यहां संकलित न करना ही उचित है.

आधार या अधिकरण की मीमांसामें 'स्थान' पदकी, जैसा कि निरूपण हो ही गया है, करणार्थक अधिकरणार्थक और भावार्थक तीनों तरहकी व्युत्पत्ति शक्य हैं.

<u>भावार्थक व्युत्पत्तिके अनुरोधवश आधाररूप स्थानलीलाका स्वरूप</u> :

१.इनमें 'स्थान' पदकी भावार्थक व्युत्पत्ति स्वीकारनेपर तो स्थितिरूपा भगवान्की लीलाको भी 'स्थान' कहा जा सकता है. उसके दो प्रभेद मौलिक सर्वाश्रयाश्रयस्वरूप एक स्थान और दूसरा स्थान उसके भीतर, जैसाकि **''स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलं, पादो अस्य विश्वा भूतानि''** (ऋक्संहि.१०।९०।१-३) श्रुतिवचनमें निरूपित हुवा है, तदनुसार भूमि आदि लोकात्मक स्थान उस परम तत्त्वके परमात्मस्वरूप भगवत्स्वरूप और लीलावतारस्वरूप और लीलार्थ सृष्ट अनेकविध जीवस्वरूपों के आधारतया प्रकट हुवे स्थान होते हैं.

इन अवान्तर स्थानोंकी सृष्टि यदि मिथ्या या मायिक मानी जाये तो मूल सर्वाश्रयाश्रय रूप स्थानको अधिष्ठान मानना पड़ेगा और अवान्तर स्थानोंको उस अधिष्ठानपर मिथ्यारोप. अतः स्पष्ट है कि यहां भी पुनः तीन-चार तरहकी सम्भावना प्रकट हो जाती हैं : [१]शांकर वेदान्ताभिमत मिथ्याधारकतारूप अधिष्ठानस्थान [२]विज्ञानभिक्षुवेदान्ताभिमत गगनोपमा वास्तविक असंगाधारकतारूप आधारस्थान [३]काश्मीरी प्रत्यभिज्ञामताभिमत ज्ञानभित्तिपर उभरे वास्तविक तथा सर्वथा अभिन्न ज्ञेयचित्रोपमा सृष्टिके आधारस्थान [४]वाल्लभ वेदान्ताभिमत अविकारी-

उपादानरूप सुवर्ण और तदुपादेय-तदात्मक कुण्डलादि-आकृतिके सदृश अक्षरब्रह्मोपादानात्मक सृष्टिरूप-उपादेयका आधारस्थान.

इन चतुर्विध वेदान्तके प्रस्थानोंके अनुरूप स्वाश्रयाश्रय ब्रह्मको परमाधाररूप स्थान मान कर उसमें प्रकट होनेवाले अवान्तर लोकात्मक स्थानोंका अपने आधारके साथ यथायथ अनेकविध सम्बन्ध और स्वरूप शक्य हैं, यथा उत्पादक स्थापक अभिव्यञ्जक प्रकृति प्रापक वियोजक पृथक्कारक तथा धारक रूपोंमें आधारकारणोंको सोचा जा सकता है. क्योंकि अवान्तर जो स्थानादि लीला प्रकट हुयी हैं उनकी उत्पत्ति स्थिति अभिव्यक्ति विकृति प्रत्यय वियोग/वियुक्ति अन्यता और धृति स्वाश्रयाश्रयरूप ब्रह्ममें विभिन्न केवलाद्वैतवादी औपाधिकद्वैताद्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवादी द्वैतवादी विशेषाद्वैतवादी अविभागाद्वैतवादी अथवा शुद्धाद्वैतवादी विभिन्न वेदान्तप्रस्थानोंमें यथायथ स्वीकारी गयी है.

करणार्थक व्युत्पत्तिके अनुरोधवश स्थितिकरणरूपा स्थानलीलाका स्वरूप :

२.इसी तरह ब्रह्म परमात्मा भगवान् अवताररूप और जीवात्माओं के उपयुक्त बहुविध करणोंके प्रभेदवश स्थानलीलाके भी बहुविध प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं. यहां विभिन्न वेदान्तप्रस्थानोंके विस्तारको छोड़ कर केवल वाल्लभ वेदान्तके अनुसार विवेचना करनी उचित होगी.

सर्वप्रथम सच्चिदानन्द ब्रह्मदृष्ट्या सृष्टिके प्राकट्यमें ब्राह्मिकी आविर्भाव-तिरोभावात्मिका तथा सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्तियोंके करणतया प्रयुक्त होनेके कारण अपने चिदंश तथा आनन्दांश को तिरोहित करनेकी क्रियाके कारण मूलस्वरूपसे कार्यसृष्टिकी ऐच्छिकी वियुक्ति और अन्यता प्रकट होती है. उसके बाद निजस्वरूपान्तःस्थित अनन्तानन्त नाम-रूप-कर्मोंके साथ सदंशमें योजनात्मिका अभिव्यक्ति उत्पत्ति स्थिति विकार/विकृति अन्यता का ब्रह्म आधारस्थान बनता है. यह सम्पन्न हो जानेपर पुनः अपने कार्यरूपोंमें प्रविष्ट होनेके कारण परमात्मतया स्थिति और धृति का भी आधारस्थान अपने अन्तर्यामी रूपमें वह बनता है.

इस तरह जो परमात्मा द्वारा निज शरीरतया स्थापित और विधृत जीवात्मा होते हैं उनको उनके धर्माधर्मके फलरूप अर्थानर्थ, विहित-निषिद्धकाम सुखदुःख, और अनेकविध मोक्ष रूपी फलोंके प्रदानार्थ अपेक्षित ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य तुष्टि-दया-क्षमा-कृपा आदि शक्तियोंको करणतया व्यापारित करके वह पालन करता है. स्वयं उन-उन जीवात्माओंके लिये प्राप्ति या अप्राप्ति का कारणाधार बनता है.

इसी तरह जीवात्मसमुदायके अन्तर्गत भी कर्म ज्ञान भक्ति वैराग्य तप योग आदि जीवात्मनिष्ठ करणोंसे तत्तत् साधक यथायथ अपनी कृति मति रति आदिमूलक साधनाओंमें भगवान्‌को प्रतिष्ठापित कर सकता है. ऐसी स्थितिमें जीवात्मा भी आप्तिकारण या आप्तिका आधार बन पाती है.

अधिकरणार्थ व्युत्पत्तिके अनुरोधवश आधाररूप स्थानलीलाका स्वरूप :

३.अधिकरण दो तरहके जो हैं वे तो हमने देख-समझ लिये फिरभी सृष्ट विसृष्ट स्थान आदिके अभिन्ननिमित्तोपादानतया ब्रह्मका आधारस्थानीय होना. उत्पत्ति अभिव्यक्ति प्रत्यय के कारणतया भी पुनः उपादानरूपा आधारस्थानता आती है. स्थिति धृति वियुक्ति अन्यता के कारणतया अन्तर्यामिभूत कर्ताकी निमित्ताधारता आती है. सृष्ट-विसृष्ट-स्थान आदिमें भगवान् जब अपने दिव्य गुण क्रिया स्वरूपाविर्भाव या स्वरूपतिरोभाव आदि अचिन्त्यसामर्थ्यके वश प्रकट करते हैं तो औपश्लेषिक=संयोगरूपा आधारस्थानता, इसी तरह इनके ब्रह्मात्मक स्वरूपका ज्ञान-ध्यान आदि करने जीवात्माके समक्ष प्रकट होते हैं, साक्षात् स्वरूपमें अथवा साधनाचरणके रूपमें, तब भी वैषयिक प्रत्ययकारणाधारता भलीभांति बुद्धिगम्य बनायी जा सकती है.

संक्षेपमें ब्रह्म परमात्मा भगवान् अपने अभिव्यापकताके स्वरूपके अनुसार सर्वत्र सृष्टिरूपी स्थानमें अवस्थित रहते हैं. इसे शुद्धाद्वैतवेदान्तमें तादात्म्यरूपेण ही मान्य किया गया है.

(महाप्रभुविरचित भागवतार्थप्रकरणके आधारपर पंचमस्कन्धसारांश)

स्थूलजगत्को स्थूलवपु हरिका पहचाना
स्कन्ध द्वितीयमें, ध्यान वही अब है अपनाना।
ध्यान करने असमर्थ स्वतः हम जीव सदा हैं
बुद्धिप्रेरक-कृष्णकृपावश कर सकते हैं॥

सर्ग-विसर्गलीलाके बाद पंचमस्कन्धमें भगवान्की स्थानरूपा लीलाका निरूपण किया गया है. स्वयं श्रीभागवतपुराणमें स्थानलीलाको **"स्थिति या स्थान रूपी लीला वैकुण्ठपर विजय है"** इन शब्दोंमें परिभाषित किया गया है. 'विजय' पदका अर्थ होता है, किसीको अपने आधीन बनाना. अतः सर्गलीलाके अन्तर्गत प्रकट किये पदार्थोंको, जिन्हें विसर्गलीलाके अन्तर्गत यथोचित रूपमें समायोजित भी किया गया, उन पदार्थोंको उनकी मर्यादाके अनुरूप स्थापित करना स्थानलीलामें प्रतिपादनीय माना गया है. प्राकृत पदार्थ, क्योंकि, चौबीस प्रकारके होते हैं, अतः प्राकृत पदार्थोंपर विजय भी १ से २४ यों चौबीस अध्ययोंमें प्रतिपादित हुयी है.

प्राकृत पदार्थोंके बीच अर्थात् सृष्टि रूपी स्थानमें स्वरूपतः प्रकृतिसे अतीत ईश्वर जीव यों दो रूपोंमें भगवान् लीलया अवस्थान करते हैं. तदर्थ अन्तिम दो २५-२६ वें अध्याय भी योजित हुवे है.

इस तरह कुल मिला कर यों छब्बीस अध्यायोंवाला यह पंचमस्कन्ध है.

रहनेकी क्रियाको जैसे 'स्थान' कहा जाता है, वैसे ही जिस साधनके अवलंबनद्वारा अथवा जहां रहा जाता हो, उस साधन या देश को भी 'स्थान' कहा जाता है. एतदर्थ देश-काल-स्वरूपके त्रिविध प्रभेदोंका ज्ञान आवश्यक होता है. तदन्तर्गत स्थान भूः भुवः और

स्वः यों तीन तरहके देशात्मक होते हैं. वेदमें ''बारह महिने **पांच ऋतु तीन लोक और आदित्य**'' यों कालको कुल मिला कर इक्कीस प्रकारका माना गया है. इसी तरह पूर्वोक्त ईश्वर-जीवके प्रभेदवश स्वरूप दो प्रकारके होते हैं. यों इस स्कन्धमें छब्बीस अध्यायोंके योजनमें छब्बीस संख्याका प्रयोजन समझा सकता है. इन सभी स्थानोंमें सर्वत्र-सर्वदा भगवान्‌के अलावा तो अन्य कोई रह नहीं सकता. अतः सभीके उपादान होने तथा नियामक होने से भगवान् सर्वत्र-सर्वदा-सर्वरूपेण स्थित हो पाते हैं इसे स्थानलीला समझी जाती है.

यहां प्रकरणोंका विभाजन इस तरह किया गया है कि स्थूलदृष्ट्या स्थानलीलाका विचार करनेपर अध्याय १ से अध्याय १५ तक स्वरूपस्थिति निरूपित हुयी है. इसी तरह अध्याय १६ से अध्याय २६ पर्यन्त देशस्थिति प्रतिपादनीय है. अतः प्रमुख प्रकरण दो ही बनते हैं. यहां कालमें स्थितिका निरूपण नहीं किया गया है. क्योंकि जिस कालमें सब कुछ अवस्थित वह काल स्वयं तो भगवान्‌में ही उनकी चेष्टाके रूपमें स्थित रहता है.

अतः स्वरूपद्वारा स्थिति और देशमें स्थिति, यों स्थानलीलाके दो प्रमुख प्रकरण बनते हैं. इनमें स्वरूपस्थिति पुनः षड्विध भगवद्गुणोंकी स्थितिके रूपमें और अष्टांगयोग तथा ज्ञान की सिद्धिके रूपमें अभिप्रेत है. अतः इसके दो अवान्तर प्रभेद दिखलाये गये हैं.

(स्थानलीलान्तर्गत स्वरूपस्थितिके मुख्य प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्‌की अपने छह गुणोंसे स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ १-६ अध्यायोंवाला अवान्तरप्रकरण)

अपने गुणोंद्वारा भगवान्‌की स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ, क्योंकि भगवान् ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूपी छह गुणोंसे युक्त हैं अतः, छह अध्याय इस अवान्तर प्रकरणमें समायोजित हैं.

(१) छह भगवद्गुणोंमें से ऐश्वर्य तथा वीर्य रूपी दो गुणोंद्वारा

श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिका निरूपण तो तो प्रथम प्रकरणमें ही प्रियव्रत राजाके स्वरूपमें भगवान्के स्थापक ऐश्वर्य तथा वीर्य के वर्णनद्वारा प्रथम अध्यायमें किया गया है.

(२) अपने श्री रूपी गुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें आग्नीध्रके स्वरूपमें अपनी स्थापिका श्रीका निरूपण द्वितीय अध्यायमें किया गया है.

(३) अपने यशोरूपी गुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें नाभि राजाके स्वरूपमें अपने स्थापक यशका निरूपण तृतीय अध्यायमें किया गया है.

(४) अपने धर्मी रूपमें श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें प्रजाके स्वरूपमें अपने स्थापक धर्मिरूप ऋषभावतारका निरूपण चतुर्थ अध्यायमें किया गया है.

(५) अपने ज्ञान रूपी गुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें ऋषभपुत्रोंके स्वरूपमें अपने स्थापक ज्ञानका निरूपण पांचवें अध्यायमें किया गया है.

(६) अपने वैराग्य रूपी गुणद्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपेण स्थितिके प्रकरणमें योगिप्रभृति सभी लोगोंके स्वरूपमें अपने स्थापक वैराग्यका निरूपण छट्ठे अध्यायमें किया गया है.

इसके बाद दूसरे प्रकारकी स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ दूसरा अवान्तर प्रकरण आता है.

(स्थानलीलान्तर्गत स्वरूपस्थितिके मुख्य प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्की अष्टांगयोग तथा ज्ञान द्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ ७-१५ अध्यायोंवाला अवान्तरप्रकरण)

योग अष्टांगोंवाली साधना है. अतः तदनुरूप योगद्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ द्वितीय प्रकरणमें आठ अध्यायोंको तथा मध्यमें एक ज्ञानके द्वारा स्वरूपस्थितिके वर्णनार्थ यों कुल नौ अध्यायोंवाला यह अवान्तरप्रकरण है.

(१) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें भरतके स्वरूपमें प्रजापालनादि धर्म, योगसाधना और भक्ति का निरूपण सातवें अध्यायमें किया गया है.

(२) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें प्रारब्धादिके वश योगसाधनाके विघात हो जानेपर भी भरत, जो सर्वसाधनोंसे सम्पन्न मुमुक्षु थे, उनका मनकी चंचलताके प्रवाहमें बह जानेपर भी हरिभक्तिद्वारा उन्हें ज्ञानप्राप्त होनेका निरूपण आठवें अध्यायमें किया गया है.

(३) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें मनकी स्थिरता भगवत्प्राप्तिके योग्य ब्राह्मणदेह मिलनेपर भी प्रतिबन्धक अध्यापन वृषलके हाथोंसे मृत्यु आदिसे हरिभक्ति ही मुक्ति प्रदान करती है, इसका निरूपण नौवें अध्यायमें किया गया है.

(४) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें मर्यादामें कर्म आदिकी बलिष्ठता दिखलानेको भरतको ज्ञानी होनेपर भी जन्मान्तर लेना पड़ा और यह जतानेको ज्ञानी होनेके कारण रहूगणको ज्ञानोपदेशके निरूपणके प्रसंगमें गुरुके प्रति प्रणति और प्रश्न का निरूपण दसवें अध्यायमें किया गया है.

(५) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें पूर्वजन्मसिद्ध ज्ञानके बोधक उपदेशका निरूपण तथा योगानुसारी विज्ञान तथा मनोनिग्रह का निरूपण ग्यारहवें अध्यायमें किया गया है.

(६) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें पूर्वजन्मसिद्ध ज्ञानके बोधक उपदेशके प्रसंगमें भगवान्‌से अतिरिक्त पदार्थोंको अवस्तु दिखला कर उत्कृष्ट वैराग्यका निरूपण बारहवें अध्यायमें किया गया है.

(७) श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके अवान्तरप्रकरणमें

पूर्वजन्मसिद्ध ज्ञानके उपदेश देनेके प्रसंगमें अधिकारके परीक्षक होनेके निरूपणमें भगवान्से अतिरिक्त सारे पदार्थ अन्तमें दुःखप्रद ही होते हैं ऐसे निरूपण किया गया. अतः ऐसे उत्कृष्टतर वैराग्यका निरूपण तेरहवें अध्यायमें किया गया है.

(८) श्रीकृष्णकी ज्ञानद्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ इस अध्यायमें ज्ञानमार्गीय पुरञ्जनोपाख्यानके रूपकवाली परोक्षकथा राजा परिक्षित भलीभांति समझ नहीं पाये, एतावता उनका भक्तिमार्गीय उत्कर्ष दिखलाते हुवे भरतके दो पूर्वजन्मोंकी सार्थकताका निरूपण इस चौदहवें अध्यायमें किया गया है.

(९) पुनः श्रीकृष्णकी योगद्वारा स्वरूपस्थितिके निरूपणार्थ भरतके वंशकी उत्तमताका निरूपण इस पंदरहवें अध्यायमें किया गया है.

इस तरह तीन तरहकी स्वरूपस्थितिके निरूपणमें कुल मिला कर पंदरह अध्यायोंका संनिवेश हुवा है. इसके बाद दूसरा मुख्य प्रकरण देशस्थितिका प्रारम्भ होता है.

(स्थानलीलान्तर्गत द्वितीय मुख्य प्रकरण देशस्थितिका है अतः तदन्तर्गत तीन अवान्तर प्रकरणोंमें प्रथम अवान्तरप्रकरण १६-२० अध्यायोंका)

जैसा कि कहा जा चुका तदनुसार भूः भुवः स्वः यों देशके तीन तरहके प्रभेद होते हैं. अतः तदनुसार भूलोक प्रधानतया पंचमहाभूतोंसे घटित होता है. अतः इस अवान्तरप्रकरणमें पांच ही अध्याय तदनुरूप समायोजित हुवे हैं.

(१) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत भूमिके परिमाण तथा स्वरूप सोलहवें अध्यायमें निरूपित हुवे हैं.

(२) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत भूमिके नवखण्डोंमें से एकखण्डमें गंगाजलके सम्बन्धके कारण भूमिमें आगन्तुक धर्मकृत उत्कर्षका निरूपण हुवा है. भगवान् श्रीहरिकी पूजाके कारण इलावृत खण्डके उत्कर्षका वर्णन सत्रहवें अध्यायमें किया गया है.

(३) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत भद्राश्व आदि छह खण्डोंके उत्कर्षका वर्णन अट्ठारहवें अध्यायमें किया गया है.

(४) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत गुणमार्गद्वारा हरिपूजनका उत्तरोत्तर उत्कर्ष निरूपण करके दो प्रदेशोंमें अर्थात् पर्वतोंमें से उद्भूत होनेवाली नदियोंके जलके कारण तथा कर्मभूमि होनेके कारण भी सर्वोपजीव्य होनेसे तथा देवताओंकेलिये भी प्रशंसनीय होनेके कारण भारतवर्ष रूपी भूप्रदेशका परम उत्कर्ष उन्नीसवें अध्यायमें वर्णित हुवा है.

(५) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत भूमि रूपी अवान्तर मध्य स्थानके वर्णनके अन्तर्गत प्लक्ष आदि द्विपोंके प्रमाण तथा लक्षण का निरूपण बीसवें अध्यायमें किया गया है.

(स्थानलीलान्तर्गत २१-२३अध्यायोंवाला पांचवा प्रकरण)

भुवर्लोकमें प्रकृतिके तीन सत्त्व-रजस्-तमो गुणोंकी प्रधानता होनेके कारण इस प्रकरणमें तीन अध्याय समायोजित हुवे हैं.

(१) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-ऊर्ध्वदेशरूप द्युलोकमें स्थितिका तथा द्युमर्यादाका निरूपण करते हुवे सूर्यलोकका वर्णन इक्कीसवें अध्यायमें किया गया है.

(२) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-ऊर्ध्वदेशरूप द्युलोककी मर्यादाका निरूपण बाईसमें अध्यायमें किया गया है.

(३) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-ऊर्ध्वदेशरूप द्युलोककी मर्यादाके निरूपणमें शिशुमार रूपी तारामण्डल संस्थान तेईसवें अध्यायमें वर्णित हुवा है.

(स्थानलीलान्तर्गत २४-२६ अध्यायोंवाला छट्ठा प्रकरण)

स्वर्लोकमें भी प्रकृतिके उक्त तीन गुणोंकी प्रधानता रहती है. अतः यहां भी तीन अध्याय समायोजित हुवे हैं.

(१) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अवान्तर-अधोदेशरूप तथा स्वर्गलोकरूप देशोंकी मर्यादाके निरूपण चौबीसवें अध्यायमें किये गये हैं.

(२) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत अन्तर्गत अवान्तर-अधोदेशरूप पाताल आदि देशोंमें भी सुखके हेतुओंका निरूपण पच्चीसवें अध्यायमें किया गया है.

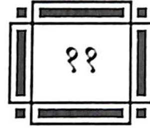
(३) श्रीकृष्णकी देशस्थितिके मुख्यप्रकरणके अन्तर्गत निषिद्ध कर्मोंके कर्ताओंको कर्मफलतया अवान्तर-नरकदेशकी यातना तथा उसकी मर्यादाका निरूपण छब्बीसवें अध्यायमें किया गया है.

इस तरह स्वरूपस्थिति और देशस्थिति दोनों ही तीन-तीन प्रकारकी होती हैं अतः यहां इस स्कन्धमें कुल मिला कर छह प्रकरणोंका संनिवेश है.



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥



उपसंहार *

(मंगलाचरण)

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥
यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं।
मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः ॥
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं।
वन्दे महापुरुषमात्मनिगूढबोधम् ॥

(उपक्रम)

महाप्रभु वल्लभाचार्यके दृष्टिकोणसे भागवत श्रीकृष्णका नामात्मक स्वरूप है. अपने प्रथम ग्रन्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्धके मङ्गलाचरणमें ही महाप्रभु इस बातको सुस्पष्ट करते हैं :

"रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः"

(त.दी.नि.१-१)

तो जो भागवतके वर्ण-पद-वाक्यात्मक शब्द हैं उनका corresponding meaning श्रीकृष्ण और उनकी विविध लीला हैं. एक श्रीकृष्ण और उनकी

* भागवतसेमिनार म.स.वि.वि (बडौदा) में वक्तव्य

दशविध लीलाओं का corresponding verbal expression श्रीभागवतके वर्ण पद और वाक्य हैं. स्वयं "**यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं...तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलम्**" (भाग.पुरा.१२।८।४९) निरूपणद्वारा भागवतमें भी यही कहा जाना अभिप्रेत है. क्योंकि श्रीमद्भागवत पुराणको जिस भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तोंकी लीलात्मक व्याख्या करने प्रवृत्त हुवा मानते हैं वे दोनो व्याख्येय ग्रन्थ निगमरहस्य प्रकाशनार्थ ही प्रवृत्त हुवे ग्रन्थ हैं.

निगमतत्त्वका रहस्य उपनिषद्के "नेति नेति" वचनको उद्धृत करके वैसे बहुधा एक ही दिशामें लिया जाता है जो दिशा श्रीशंकराचार्यके द्वारा दिखलायी गयी दिशा है. एक, परन्तु, दूसरी दिशा और भी है 'नेति नेति' वचनके अभिप्रायको समझनेकी. क्योंकि "**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च एव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं स्थितं च, यत् च, सत् च, त्यत् च... अथातः आदेशो 'न' इति 'न' इति 'नहि' एतस्माद् इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति**".(बृह.उप.२।३।१-६) यानि मूर्तामूर्त मर्त्यामृत स्थित-यत् या सत्-त्यत् दोनोंमेंसे ब्रह्म कुछ भी न हो, ऐसा ब्रह्म नहीं है मगर दोंनो प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारके आधारपर ब्रह्मका निरूपण पूर्ण नहीं माना जा सकता, ऐसा तात्पर्य भी लिया जा सकता है. "**'नहि' एतस्माद् इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति**". जब किसी एक रूपको पकड़ कर हम चलते हैं यानि, ब्रह्मको मूर्त ही मान कर चलते हैं. तो शास्त्र यों कहता है: **'नेति'**. जब ब्रह्मको अमूर्त ही मान कर चलते हैं तो पुनः शास्त्रको कहना पडता है : **'नेति'** इस अर्थमें भी वीप्सा स्वीकारी जा सकती है. यह भी एक दिशा है **'नेति नेति'** वचनके अभिप्रायको खोजनेकी.

"**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मर्त्यं च अमृतं च**" वचनोक्त दो दिशाओंमेंसे मैने आज तक एक ही दिशा पढ़ रखी थी कि प्रमाणभूत शास्त्र और शास्त्रीय प्रमेय अमृत होते हैं. यह सच हैं कि मैंने अमृत-ब्रह्मकी

एक दिशा पढ़ रखी थी परन्तु भागवतके विद्वान् मनीषिओंके मुखसे एक मर्त्य-ब्रह्मकी दिशा भी आज सुननेको मिली ! post-mortemकी... "नेति-नेति..'नहि' एतस्माद् इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति !"

श्रीभगवत्प्रसादभाईने जिस तरहसे मेरा परिचय दिया, उतना कोई विशिष्ट विद्वान् मैं हूं नहीं. मैंने तो एक ही दिशामें थोड़ा बहुत अध्ययन किया है जो मैं आपके सामने प्रस्तुत करना चाहूंगा. अन्यथा ज्ञान तो अगाध होता है, यह तो सर्वथा स्वीकरणीय वास्तविकता है. अस्तु.

(भागवतपुराणके प्रमुख विषयके निर्धारणार्थ स्वगतप्रमाण)

जो विषय आपके सामने मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं वह यह है कि समग्र भागवतका as suchविषय क्या है और भागवत स्वयं इस बारेमें हमें क्या कहना चाहती है. मुख्यतया तीन स्थलोंपर, भागवतमें, इस बारेमें निरूपण उपलब्ध होता है.

सबसे पहला उल्लेखनीय श्लोक यों हैं—

(१.स्वगतप्रमाण)

अत्र [१]सर्गो [२]विसर्गश्च [३]स्थानं [४]पोषणम् [५]ऊतयः ।
[६]मन्वन्तर [७]ईशानुकथा [८]निरोधो [९]मुक्तिः [१०]आश्रयः ।।
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानाम् इह लक्षणम् ।।

(भाग.पुरा २।१०।१-२)

यहां लक्ष्यीभूत द्वादश स्कन्धके वर्ण्य-विषय [१०]आश्रयतत्त्वके विशोधनके लिये नौ तरहके [१-९]लक्षणरूप विषय भागवतके तृतीय स्कन्धसे प्रारम्भ कर एकादश स्कन्धतक निरूपित हुवे हैं, स्वयं भागवतमें ही ऐसा अपना अभिप्राय निरूपित हुवा है.

अब देखिये कि किस तरहका विशोधन हमें कराना है, विशोधन कई तरहसे हो सकता है : विशोधन पारमार्थिक तत्त्वका व्यावहारिक आरोपके निरसनद्वारा हो सकता है. यानि व्यवहारका निरसन करके; या व्यवहारका बाध करके; अर्थात् परमार्थको उभार कर सामने ला करके, आरोपके निषेधद्वारा किया जा सकता है, उदाहरणतया रजतका निषेध करके शुक्तिका विशोधन किया जाता है. यह व्यवहारसे परमार्थका विशोधन है.

वास्तविक हेय वस्तुओंके त्यागद्वारा भी उपादेय वास्तविकताका विशोधन सम्भव है. किसी उपादेय वास्तविक वस्तुकी प्राप्तिद्वारा उपेक्ष्य अनेक वस्तुओंकी उपेक्षा करके प्राप्तव्यैक्यसे भी विशोधन हो सकता है. उदाहरणतया हीरा जिस आवरणमें घिरा हुवा होता है उसे तराश कर बाहर निकालना हीरेका विशोधन है.

बहुधा अनेकविध गौण प्रत्यय हमनें वस्तुके बारेमें घड़ रखे होते हैं. वे आवश्यक नहीं कि सभी भ्रान्तिरूप ही हों मगर फिरभी हमें एक प्रमुख प्रत्यय कभी ऐसा प्राप्त हो जाता है कि बहोत सारे गौण प्रत्ययोंको वास्तविक होनेपर भी छोड़नेको तैयार होना पड़ता है. उदाहरणतया हाल ही में दक्षिणमें किसी परिवारमें पीढ़ी दर पीढ़ी घरमें पूजनीय शिला शालिग्राम होनके बजाय विश्वका सबसे कीमती माणिक रत्न निकला जो पूजनीय शिलाके बहाने परिवारने चार-सौ पांच-सौ वर्षों तक सम्हाल कर धर रख्खा!

विशोधन कभी-कभी निरपेक्ष वस्तुका सापेक्ष गुणधर्मोंसे भी हो सकता है. उदाहरणतया कोई व्यक्ति अपने सामाजिक या पारिवारिक परिवेशमें किसी तरहके सापेक्ष गुणधर्मों प्रकट करता होनपर भी अपने-आपमें कुछ अन्य प्रकारके निरपेक्ष गुणधर्मोंको प्रकट करनेवाला भी हो सकता है.

अतः भागवतमें लक्ष्यतया वर्णित आश्रयतत्त्वको उनमेंसे किसी एक रूपमें हमको पहचानना पड़ेगा कि भागवतके तृतीयस्कन्धसे लेकर एकादशस्कन्ध तकके नवविध प्रत्यय जो हैं वे क्या द्वादशस्कन्धके वर्ण्यविषयपर हमारी कल्पनासे प्रसूत आरोपरूप हैं, अथवा वे कोई हेय, गौण या सापेक्ष गुणधर्म हैं और अपने प्रमुखरूपमें या निरपेक्षतया आश्रयतत्त्व वैसा नहीं हैं. यों आश्रय तत्त्वके विशोधनके अनेक प्रकार हो सकते हैं.

अब जैसे "**लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**" हम कहते हैं तो वस्तुसिद्धि वस्तुका विशोधन है और लक्षण और प्रमाण उसमें विशोधनका काम करते हैं. ताकि वस्तुका संशय-भ्रान्तिरहित सम्यग्बोध हमें हो जाये.

उसके बाद दूसरा एक श्लोक ओर भी आश्रयतत्त्वके बारेमें आता है किः-

(२.स्वगतप्रमाण)

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।।

(भाग.पुरा.२।९०।७)

आभास और निरोध जिससे होता है उसे हम 'आश्रय' कहते हैं. अब देखिये यह भागवत अपने-आपमें अपना मुख्य विषय क्या मानती है यह प्रश्न है तो आभास और निरोध जिससे हो रहा है उस परब्रह्म परमात्माको 'आश्रय' कहा जा रहा है. सामान्यतः हम समझ सकते हैं "**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**" (ब्र.सू.१।१।१) "**जन्माद्यस्य यतः**" (ब्र.सू.१।१।२) 'अस्य' जगत्‌के 'जन्मादि' जन्म स्थिति और लय जहां या जिससे होते हैं वह ब्रह्म हैं. यहां लक्षणसे लक्ष्यका

विशोधन किया जाता दिखलायी देता है. जैसे आज हमने सुबहके सेशन्में देखा, **'जन्माद्यस्य यतः'** की मीमांसाके वख्त.

(३.स्वगतप्रमाण)

एक ओर निकष दिया गया है यहां और वह यों है :

योऽध्यात्मिकोयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥
(भाग.पुरा.२।१०।८-९)

यहां आध्यात्मिक और आधिदैविक के बारेमें तो अभेदका विधान हो रहा है और जो आधिभौतिक है उसे आध्यात्मिक और आधिदैविक के बीच विच्छेदकर्ताके रूपमें दिखलाया जा रहा है. विच्छेद कई तरहसे हो सकता है. कल्पित-आरोपित औपाधिक स्वाभाविक वास्तविक ऐच्छिक आदि. पर जो मुख्य बात है जिसपर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा वह यह कि **''एकम् एकतराभावे यदा न उपलभामहे त्रितयं तत्र यो वेद.''**वैसे श्रीमध्वाचार्यजीने यहां दूसरा पाठ माना है. **''एतदेकतमाभावे यदा नोपलभामहे''**. यहां परन्तु उस पाठभेदकी चर्चाका अवसर नहीं है.

'एकम् एकतराभावे' पाठको ही थोडी दैरके लिये हम प्रामाणिक पाठ मान कर चलें तो **'एकम् एकतराभावे यदा न उपलभामहे'** के बारेमें श्रीधरस्वामी कहते हैं कि दृश्यके अभावमें केवल चेतना द्रष्टा नहीं हो पाती. द्रष्टाके साथ जो भी दर्शनके करण होते हैं उनके बिना वह दृश्यको देख नहीं सकता. अतः दृश्य भी सिद्ध नहीं हो पाता. अर्थात् दृश्य जो न हो तो दृष्टि भी सिद्ध नहीं

हो पाती है. तो ये तीनों ही द्रष्टा दृष्टि और दृश्य परस्परसापेक्ष होनेसे एकतरके न होनेपर तीनों ही नहीं रह जाते हैं.

यहां प्रयुक्त शब्द ''**एकतराभावे एकं न**'' के वास्तविक अभिप्रायकी मीमांसा आवश्यक लगती है. किसी एकके न रहनेपर अर्थात् दृश्य या दृष्टि या द्रष्टा मेंसे किसी एकके नहीं रहनेपर क्या तीनों ही नहीं रह जाते हैं? क्या ऐसा अभिप्राय यहां विवक्षित है? क्योंकि शब्दशः ''**एकतराभावे एकं न उपलभामहे**'' कहा जा रहा है कि ''**त्रितयं न उपलभामहे**''.Mathematically : 3-1=0 गणित विचारणीय अवश्य लगता है; क्योंकि ''३-१=२'' होगा. तीनोंको, परन्तु, सापेक्ष माननेके कारण तीनों ही नहीं रहजाते यह '**एकम् एकतराभावे यदा नोपलभामहे**' वचन का जो एक सीधा अन्वयार्थ स्फुरित होता है वह तो नहीं है. वह तो यों ही है कि '**एकं न उपलभामहे**'.

(द्रष्टा या दृश्य में से एकतरकी अनुपलब्धि प्रमाणवृत्तिसे या अविद्यावृत्तिसे)

वैसे शाङ्करोंने अनुपलब्धिको अभावके ज्ञानमें प्रमाण माना है सो 'अनुपलब्धिप्रमाणेनतु त्रयाणाम् अभावम् उपलभामहे' स्वीकारना पडेगा. अतः सारे चैतन्यरूप ब्रह्ममें तो यह लक्षण जा नहीं पायेगा और हम प्रमाताओंमें अतिव्याप्त हो जायेगा. क्योंकि अनुपलब्धिसे अभाव तो गृहीत होता है. '**एकतराभावे यदा एकं न उपलभामहे**' तब '**त्रितयं न उपलभामहे**' अन्वय कैसे हो सकता है? '**एकम् एकतराभावे यदा नोपलभामहे**' केन प्रमाणेन नोपलभामहे अनुपलब्धिप्रमाणेन. '**त्रितयं तत्र यो वेद**'. केन प्रमाणेन वेद? तो ये जो भी लौकिक प्रमाण हैं, व्यावहारिक प्रमाण हैं, उनसे तो वह उपलब्धि होनी सम्भव नहीं है, आश्रयतत्त्वको भी. उसे जो उपलब्धि होगी वह तो स्वप्रकाशनसे अर्थात् स्वपरप्रकाशनसे, ही होगी. तो '**त्रितयं तत्र यो वेद सआत्मा स्वाश्रयाश्रयः**' ऐसे लक्षणवाले तत्त्वकी, अनुपलब्धिप्रमाणसे, हमें भी उपलब्धि हो रही है, तो हममें भी स्वाश्रयाश्रय आत्मात्म सिद्ध हो जायेगा.

'हमें' का मतलब अपने जीवात्माओंका जो अधिष्ठानभूत साक्षिचैतन्य उसकी बात मैं नहीं कर रहा हूं, प्रमातृचैतन्यकी बात कर रहा हूं. क्योंकि उसमें ही अनुपलब्धि प्रमाणसे त्रितयकी उपलब्धि सम्भव है. अतः यह प्रश्न पर्याप्त विचारणीय लगता है.

(आश्रयतत्त्वका श्रवण-मनन-निदिध्यासन अथवा श्रवण-कीर्तन-स्मरण)

और दूसरी एक बात यहां जो खास समझनेकी है कि भागवतके प्रारम्भमें जैसे यह कहा गया कि **"सर्वात्मा हरि ईश्वरः श्रोतव्यःकीर्तितव्य च स्मर्तव्य च इच्छता अभयम्"**(भाग.पुरा.२।१।५). वैसे उपनिषदोंमें **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"**(बृह.उप.२।४-।५) कहा गया है. आत्माके दर्शन श्रवण मनन और निदिध्यासन यों उपदिष्ट थे परन्तु आत्माको यदि लीलाकर्ताके रूपमें देखना है तो श्रवण-मनन-निदिध्यासन पर्याप्त नहीं होते. भागवत कहती है : **"श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्य च इच्छता अभयम्"** (भाग.पुरा.तत्रैव) श्रवण कीर्तन और स्मरण करना पड़ेगा. यह औपनिषद उपायोंका लीलोपयोगी रूपान्तरण है. बात वही की वही है अब आत्मस्वरूपदर्शन और आत्मलीलादर्शन इसमें थोड़ासा हमें भेद सोचना पड़ेगा. वहां श्रवणके बाद मनन है, यहां श्रवणके बाद कीर्तन है. वहां मननके बाद निदिध्यासन है, यहां कीर्तनके बाद स्मरण आता है. जैसे आज प्रातःकालीन सत्रमें अकुण्ठस्मृतिरूप विषयकी चर्चा चल रही थी. वह अकुण्ठस्मृति उसकी होनी चाहिये जिसे श्रीरामानुजाचार्य **'ध्रुवा-स्मृति'** कहते हैं उस तरहसे. तो आश्रयतत्त्वकी अकुण्ठस्मृति चलनी चाहिये. तब वह उस आत्माका लीलानुसन्धान बनेगा. यदि लीलानुसन्धान न करना हो तो तब तो उपनिषदें ही पर्याप्त हैं. फिर तो भागवतकी कोई अपेक्षा ही नहीं है. तो इस **"तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरि ईश्वरः"** में कुछ पद जो बहुत महत्त्वपूर्ण आये हैं वे हैं **'सर्वात्मा हरिः ईश्वरः'** इनपर ध्यान देनेसे एक बात समझमें आती है कि —

सर्वेषाम् आत्मत्वेन ईश्वरो हरिः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः

अथवा

सर्वेषाम् अधिष्ठानत्वेन ईश्वरो हरिः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः

अथवा

सर्वेषां शरीरित्वेन ईश्वरो हरिः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः

अथवा

सर्वेषां कर्तृत्वेन ईश्वरो हरिः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः

अथवा

सर्वेषाम् उपादानत्वेन ईश्वरो हरिः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः.

ये सारे प्रकार श्रवण-मनन-निदिध्यासनके आत्मचिन्तनमें और आत्मदर्शनमें पर्यवसित होते हैं मगर आत्माकी जो लीला है **"यद् दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः"** (भाग.पुरा.१-२।८।४९) तो 'यत्र यतन्तो अजपराः कवयो मुह्यन्ति' यह ऐसा जो मोह प्रकट होता है इस मोहके निराकरणके लिये ही भागवत एक उपाय प्रस्तुत करती है कि श्रवण कीर्तन और स्मरण हमें करना चाहिये.

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोः।
चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः॥
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपि ईश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः॥

(भाग.पुरा.१०।८७।२१)

इस न्यायसे उस लीलाका लीलाविशिष्ट परमात्माके स्वरूपका, कोई महत्त्व है. वैसे तो लीलाका स्वरूप ब्रह्मसूत्रमें भी बताया गया है **"लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्"** (ब्र.सू.२।१।३३) में अन्य भी सभी भाष्यकारोंने इस लीलातत्त्वको वेदान्तमें इसी तरह मान्य रखा है. वहां,

मगर, लीलातत्त्वके श्रवण-मनन-निदिध्यासन अभिप्रेत हैं. भागवत उसी लीलातत्त्वका श्रवण-कीर्तन-स्मरण करनेका उपाय हमें समझाना चाहती है. तो इससे कुछ अन्तर हो रहा है कि नहीं हो रहा, यह भी हमें देखना होगा यह भागवतप्रतिपादनीय आत्माके स्वरूपके निर्धारणमें हमें सहायक होगा या नहीं होगा वह चिन्तन ही अपना अन्तिम ध्येय है.

एक बात और भागवतने स्वयं अपने विषयके बारेमें बताई है :

(४. भागवततात्पर्य निर्धारणार्थ चतुर्थ स्वगतप्रमाण)

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतिर्न तु पारमार्थ्यम्॥

(भाग.पुरा.१२।३।१४)

यहां भागवतमें अनेकानेक महापुरुषोंकी कथा कही गई '**कथा इमास्ते कथिता महीयसाम्**' और वह कथा कैसी कि '**विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्**' पोस्टमार्टम्के रूपमें. पर यह पोस्टमार्टम् किस विवक्षासे किया गया है? तो भागवत कहती है ''**विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतिः नतु पारमार्थ्यम्**''. विज्ञानकी विवक्षासे और वैराग्यकी विविक्षासे. अथवा विज्ञान और वैराग्य के वृद्ध होनेकी सारी कथाका श्रवण अभी ही हम कर चुके हैं. यह भी सहायक हो सकता है इस प्रसङ्गमें इस बातका निर्धारण करनेमें कि जो नौं लक्षण हैं वे लक्षण विज्ञानवैराग्यविवक्षासे कहे गये हैं. तो यहां उन नौं लक्षणोंकों किस रूपमें लेना? अर्थात् उस सर्वाश्रयीभूत सर्वात्माके '**सर्वेषाम् आत्मत्वेन किं विज्ञानम्**'? अर्थात् विषयनिर्धारणार्थ हमारेलिये दो निकष होंगे : एक तो '**सर्वेषाम् आत्मत्वेन विज्ञानम्**' अथवा '**तदितरेषु सर्वेषु अनात्मत्वेन वैराग्यम्**'. अब ये दोनों बातें यदि हम सर्वात्मना सच मान लेते हैं

तो देखो कैसा विरोधाभास उभर कर आ रहा है! विज्ञानवैराग्यविवक्षया यदि यह कथा है तो जो नवलक्षणरूपा कथा

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

या तो नौकी नौं कथाओंको आत्मत्वेन हमें जानना या स्वीकारना पड़ेगा. अर्थात् सभी कथाओंमें निरूपित भगवत्स्वरूपको **'सर्वेषाम् आत्मत्वेन विज्ञानम्'** रूपमें लेना पड़ेगा. यानि कि **''सदेव, सौम्य! इदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किञ्चन, अतो अन्यद् आर्तम्''** अथवा **''सर्वेषु अनात्मत्वेन वैराग्यम्''**अर्थ लेनेपर न तो श्रवणकी न कीर्तनकी और न स्मरणकी ही कोई महत्ता रह जायेगी. दोनों बातोंमें कुछ न कुछ चक्कर पड़ रहा है. यह हम सबको विचारना पड़ेगा कि सर्वेषु अनात्मत्वेन वैराग्यम् कैसे होगा और सर्वेषु अनात्मत्वेन वैराग्य नहीं हुवा तो इन दोंनो वचनोंकी संगति कैसे बैठेगी! **'विज्ञानवैराग्यविवक्षया'** यों जो कथनीय कीर्तनीय और स्मरणीय सर्वात्मा है उसके सर्वात्मत्वका निर्वाह कैसे करना यह बड़ी समस्या बन जाती है! सारे वेदान्तोंके अपने-अपने मॉडेल् हैं जो मैंने आपके सामने प्रस्तुत किये. विज्ञेय आत्माको अधिष्ठानत्वेन मान लो और उसपर होते आरोपोंको वैराग्यार्ह. उस आत्माको प्रकाशकत्वेन मान लो, अर्थात् आत्मा स्वप्रकाश है तो आत्मेतर सारे परतःप्रकाश्य वैराग्यार्ह हैं. एक शरीरी विज्ञेय है. तो अन्य सारे शरीर वैराग्यार्ह हैं एक कर्ता विज्ञेय है तो अन्य सारे कार्य वैराग्यार्ह हैं. एक उपादान विज्ञेय है तो अन्य सारे उपादेय वैराग्यार्ह हैं.

इस प्रतिपादनद्वारा जो बात मैं आपके ध्यानमें लाना चाहता हूं वह यह कि यदि हम ऐसा मान कर चलते हैं कि एक पारमार्थिक अधिष्ठान है और उसके अलावा जो कुछ है वह उसपर आरोपित

मिथ्या प्रत्यय होता है. तो ये नौं लक्षण जो हैं वे परमात्मापर किये गये आरोप सिद्ध होते हैं. अविद्याके आरोप हों, या शुद्धसत्त्वप्रधान मायाके आरोप हों, या मलिनसत्वप्रधान मायाके आरोप हों, या उपासनार्थ कल्पित आरोप हों, जैसे भी आरोप हैं इन सारे आरोपोंका अधिष्ठान वह आत्मा है. **'तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः'** वचनोक्त हरि यदि इन ओरोपोंका अधिष्ठान हो तो एक संगति हमें यहां ओर बैठानी पड़ेगी और वह ऐसी संगति जो हमारी इस धारणा में आड़े आती है कि जो भागवतका मूलभूत उपदेश तो चतुश्लोकीमें नारायणने ब्रह्माजीको कहा है; और वहां यह बात स्पष्टतया कही गयी है —

(एतावदेव जिज्ञास्यम्!)

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मन।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

(भाग.पुरा.२।९।३५)

(तात्पर्यविषयविशोधनकी केवलाद्वैती प्रक्रिया)

जो अन्वयव्यतिरेकसे सर्वदा सर्वत्र होता है वही जिज्ञास्य है. स्वाभाविकतया जो सर्वात्मा है वह जिज्ञास्य है इसमें तो कोई संशयका प्रश्न नहीं है. जिज्ञास्य तो सर्वात्माको होना है. यदि वह अन्वयव्यतिरेकसे सब जगह है तो स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता उसकी गलेपतित होती है. वस्तुतः नौ लक्षणोंको स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगी होना चाहिये था. उसके बजाय यहां तो वह सर्वात्मा स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगी बन गया! क्योंकि जहां वह दिखलाई देता है वहीं वह नहीं भी होता है, भागवतमें कहा गया है :

प्रविष्टानि अप्रविष्टानि तथा तेषु न तेषु अहम्॥

(भाग.पुरा.२।९।३४)

"तेषु न तेषु अहम्" तो "यत्र अहम् अस्मि तत्रैव अहं नास्मीति स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता" श्रीमधुसूदन सरस्वतीद्वारा मिथ्यात्वका सुपरिभाषित लक्षण अद्वैतसिद्धिमें तो ऐसा ही मिलता है. अतः यदि जिज्ञास्य पदार्थ 'तेषु न तेषु' है तो लक्षण मिथ्या होनेके बजाय लक्ष्य मिथ्या होने जा रहा है! यह एक गम्भीर समस्या हमारे सामने उठ खड़ी होती है. हमें धैर्यपूर्वक विचार करना पड़ेगा. श्रीगौतमभाई अच्छी बात कह रहे हैं : 'यही तो विरुद्धधर्माश्रयता है'. पर विरुद्धधर्माश्रय सिद्ध हो जाये तब तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है. 'तथा तेषु न तेष्वहम्' यह तो एक वह मॉडल् है जहां अधिष्ठान और आरोप के भावसे यानि कि सर्वात्मत्वविज्ञान और अनात्मत्वमूलक वैराग्य की विवक्षा उन सारें नौं के नौं स्कन्धोंमें स्वीकारनी पड़ेगी. यह एक समस्या हमारे सामने आती है.

(तात्पर्यविशोधनकी विशिष्टाद्वैती प्रक्रिया)

उसी तरहसे शरीर-शरीरिभावके सन्दर्भमें भी हम थोडासा कुछ विचार कर सकते हैं. और वह विचार यह है कि जैसे शरीर-शरीरिभावको ले कर चलें तो वहां यह कहा गया है : "'दशमस्य' = आश्रयस्य परब्रह्मणो 'विशुद्ध्यर्थं' = शोधनार्थं सम्यक्प्रतिपत्त्यर्थं प्राधान्यात् तदर्थेन प्रतिपादनात् न शास्त्रभेदः". शास्त्रभेद क्यों नहीं हुवा? इसलिये क्योंकि आश्रयतत्त्वकी सम्यक् प्रतिपत्ति करनी है. यहां विशोधनका मतलब मिथ्या आरोपके बाधपूर्वक अधिष्ठानका तत्त्वज्ञान नहीं. यहां तो शरीरको जब हम आश्रयतत्त्वाधीन, आश्रयतत्त्वायत्तस्थितिक, आश्रयतत्त्वायत्तप्रवृत्तिक; तथा, आश्रयतत्त्वके शरीर होनेके रूपमें समझेंगे तो शरीरीका हमें सम्यक्तया बोध होगा. अन्यथा शरीरीका सम्यक्तया बोध ही नहीं होगा. यह दूसरी रीति विशोधनकी है.

इस विशोधनकी रीतिमें एक बात खास ध्यानमें लेने लायक है कि "भगवान् आत्मा एते शरीरात्मकाः" मगर ध्यानसे हम देखें

तो द्विविध प्रकारके ज्ञान विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायने भी मान्य किये हैं: परोक्ष और अपरोक्ष. तो **'एकम् एकतराभावे यदा नोपलभामहे, त्रितयं यत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः'**

वचन फिरसे यहां अनुसन्धेय बन जाता है कि **'यद्यपि अपरोक्षज्ञानेन एकं नोपलभामहे तथापि परोक्षज्ञानेन तु नूनम् उपलभामहे'**. तो प्रत्यक्षेण यदि उपलम्भ न भी होता पर परोक्षोपलम्भ तो शक्य ही है. ऐसी स्थितिमें त्रितयका ज्ञान तो हमें भी होता ही है. अब सावधानीके साथ देखिये यह शर्त है :**'यदा एकं न उपलभामहे तदा त्रितयं यो वेद'**. अन्यथा इदानीन्तु वयमपि त्रितयम् उपलभामहे. यह इसकी बहोत स्पेसिफिक् शर्त है. अर्थात् एकतराभावे एकं न उपलभामहे तदा त्रितयं यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः. तो जो बात आपके सामने प्रस्तुत करना चाहूंगा कि 'एकतराभावे' की स्थिति दो स्थितिओंमें आती है. यानि **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति''** के बाद या तो **'यत्प्रयन्ति'** की एक स्थिति आती है अथवा दूसरी **'अभिसंविशन्ति'** स्थिति आती है. अर्थात् या तो जब स्थूल चिदचिद्का प्रलय हो जाता है तब, या कोई जीवात्मा मुक्ति पा लेती है तब, एकतराभावकी स्थिति आती है. उसके बिना तो 'एकतराभावे' की स्थिति आ नहीं सकती. क्योंकि इदानीन्तु वह स्थिति आ नहीं सकती क्योंकि तीनों हैं ही. द्रष्टा भी है, दृश्य भी है और ससाधना दृष्टि भी हैं. कुछ लोग इसे आधिदैविक सूर्यादि देवताके रूपमें लेते हैं. जिस तरहसे लेना हो वह एक अलग कथा है. सृष्टिकालमें, मगर, तीनों उपलब्ध हैं. सृष्टिसे प्राक् तीनों उपलब्ध नहीं हैं सो **'एकतराभावे एकं नोपलभामहे'** बात वहां भी बनती नहीं है. तो 'एकतराभावे' का वहां सवाल ही पैदा नहीं होता है. स्थूल दोंनों ही तब नहीं है. चित् भी नहीं है और अचित् भी नहीं है. और **''त्रितयं तत्र यो वेद शरीरीतु तदानीं आत्मानं आत्मेतरं सूक्ष्मं अचित् चित् च इति त्रितयं वेद.''** उसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि **'शरीरी तु वेद'**

मगर यह स्थिति आती कब है? यह हमें देखना पड़ेगा कि या तो द्रष्टा मौजूद है और दृश्य लीन होने जा रहा है तब **'एकमेकतराभावे'** की स्थिति आयेगी या द्रष्टा स्वयं लीन हो रहा है पर दृश्य मौजूद है. तब **'एकमेकतराभावे'** की स्थिति आती है. **'तदा त्रितयं यो वेद'** यानि कि द्रष्टाको भी दृश्यको भी और दृष्टिको भी तीनोंको जो जानता है उस अवस्थामें उसे स्वाश्रयाश्रय आत्मा स्वीकारना पड़ेगा.

(द्रष्टा या दृश्यमें से एकतरका अभाव, मुक्ति/लय, विनाश या बाध?)

यह ध्यानपूर्वक देखने लायक कथा है कि मुक्तिका जहां तक सवाल है, वहां द्रष्टाका बाध हो रहा है या नहीं? यदि बाध होता हो तो स्वाश्रयाश्रय कौन है जो देखता है द्रष्टाको. तब तो एकतराभावरूपा मुक्ति हुयी की नहीं हुयी? क्योंकि फिर प्रतिभास होना गलेपतित हो जायेगा. और जहां तक विशिष्टाद्वैतके दृष्टिकोणका सवाल है वहां यह बात काफी हद तक मानी जा सकती है कि एकतरके अभाव हो जानेपर जब एकका उपलम्भ न होता हो तब तीनोंका जिसे ज्ञान हो उसे आश्रय समझ लेना चाहिये. द्रष्टा, परन्तु, जब स्वयं बाधित हो रहा हो तो तब तीनोंको कौन-कैसे जान पायेगा? क्या आश्रय? वह तो जान ही नहीं पायेगा क्योंकि द्रष्टा तो बाधित हो गया! बाधितानुवृत्तिसे जाने जानेकी बात विशिष्टाद्वैतमें तो सोची भी नहीं जा सकती है. इस बाधितानुवृत्तिका बहुत सुन्दर विवेचन अद्वैतिओंने किया है **''बाधार्थसामानाधिकरण्य''** इसका उदाहरण **''यः चोरः स स्थाणुः''** जैसे हम किसी सुनसान मार्गपर जा रहे हों और अन्धेरेमें हमको कोई चोर या डकैत जैसा रास्ता रोक कर खड़ा हुवा दिखलायी दे परन्तु उसके पास पहोंचनेपर बैटरी/टोर्च् जोड़ लेनेपर हम कह देते हैं कि 'अरे भाई जो डकैत रास्ता रोक कर खड़ा हुवा था वह तो यह सूखे पेड़का तना है'. यह बाधार्थसामानाधिकरण्य अर्थात् जो डकैतरूप अर्थ बाधित हो गया है उसे ही पुनः पेड़के तनेके रूपमें भी स्वीकारा जा रहा है. ऐसा सर्वाश्रयभूत, सर्वसाक्षीभूत,

सर्वाधिष्ठानभूत परमात्मामें सम्भव नहीं है. बाधार्थसामानाधिकरण्य प्रतिभास तो प्रमाताको ही हो सकता है साक्षीभूत चैतन्यमें बाधार्थसामानाधिकरण्य प्रतिभास नहीं होता है. बाधित वस्तु त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगी हो जाती है. नहीं तो स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता ही सिद्ध नहीं होगी, यदि बाधार्थानुवृत्ति हो तो. प्रमाताको बाधार्थानुवृत्ति हो सकती है साक्षिचैतन्यमें बाधितार्थकी यदि प्रतीति हुई तो बाधितार्थ प्रतीत होने लग जायेगा. क्योंकि प्रतीतिके अलावा तो न द्रष्टाका कोई स्वरूप होता है, न दृश्यका कोई स्वरूप; और, न दृष्टि-करणका ही कोई स्वरूप.

(तात्पर्यविषयके विशोधनकी केवलद्वैती प्रक्रिया)

आत्माको यदि हम कर्ता मान लेते हैं तो एक बात विचारनेकी हमारे सामने आती है कि **'सर्वात्मा'** पदको श्रीमध्वाचार्यजीने और विजयध्वजने दोनोंने गौणप्रयोग ही माना है. श्रीमध्वाचार्यका तो स्वयंका श्रीभागवततात्पर्य उपलब्ध है उसमें यह उल्लेख मिलता है.

द्वैतवेदान्तमें आत्मा इस रीतिसे व्याप्त है जैसे आकाश. 'तथा तेषु न तेष्वहम्' उस अर्थमें भी सर्वात्मत्व सत्य माना है. जैसे बिल्डिंग्में जो यह आकाश है ऐसे सर्वव्यापी होनेके कारण परमात्मा सिर्फ कर्ता ही नहीं है सर्वव्यापी भी है. सर्वव्यापी होनेके कारण जो भी कुछ यह नवलक्षणलक्षित लीलायें सर्ग-विसर्गादिकी उनमें है और होते हुवे भी वह आकाशकी तरह नहीं भी हो सकती है, व्यापक होनेके कारण. यहां परन्तु एक बात समझ लेनी चाहिये कि किसी तत्त्वका व्यापक होना उसके आत्मतत्त्व होनेका प्रमाण होता तो आकाश भी हमारी आत्मा होती. किसी तत्त्वका व्यापक होना आत्मत्वका परिचायक होता तो आकाशको हमारी आत्माके रूपमें मानना पड़ेगा. आकाश तो हमारी आत्मा होता नहीं है आकाश हमारे भीतर हो तो भी. केवल व्यापकता आत्मत्वका परिचायक नहीं होती. यहां

यह कहा गया है कि '**सर्वात्मा**' और '**तथा तेषु न तेषु**' यह अपन् प्रिज्यूम् करके चलें. क्योंकि तेषु कथं? आत्मतया! न तेषु कथम्? न तेषु अहम् में श्रीमध्वाचार्यजी का जो स्टेन्ड है वह काफी जस्टिफाईड है कि उनमें व्यापक होनेके कारण वह है भी और नहीं भी है. भीतर भी है और बाहर भी है "**अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः**" तो व्यापक होनेके कारण वह भीतर भी है बाहर भी है. मगर आत्मत्वमें कुछ न कुछ लक्षणा-गौणी वृत्ति करनी पडेगी. क्योंकि बिना लक्षणा-गौणी किये केवल व्यापक होनेसे आत्मत्वका निर्वाह थोड़ा दुःशक लगता है. यह सारी जो कठिनाईयां हैं उसको समझना है.

(तात्पर्यविषयविशोधनार्थ अवशिष्ट द्वैताद्वैती विशेषाद्वैती अविभागाद्वैती प्रक्रिया)

श्रीभास्कराचार्यकी तो कोई टीका भागवतपर अॅवेलेबल् नहीं है और न श्रीकरकी, जो कर्णाटकके शैव हुवे. इसी तरहसे काश्मीरवाला शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन है और विज्ञानभिक्षुका जो आकाशोपम ब्रह्मप्रतिपादक अविभागाद्वैतदर्शन तदनुसारी व्याख्या भी मिलती नहीं है. सभी मूर्त पदार्थोंका आकाश एक असंसृष्ट आधार होता है. वह मूर्तपदार्थसे संसृष्ट आधार नहीं है. श्रीपति भगवत्पादाचार्यने इस बातका बहोत सुन्दर विवेचन किया है कि कुछ वेदान्ती संसृष्टोपादानवादी होते हैं और कुछ असंसृष्टोपादानवादी. हमारे यहां शुद्धाद्वैतवादमें उसे इस तरहसे वर्गीकृत किया जाता है : विकृतपरिणामवाद और अविकृतपरिणामवाद. विकृतपरिणाम और अविकृतपरिणाम का जो प्रभेद है उसे हम कैसे समझें? इसका एक सीधा सा वर्गीकरण शाङ्करोंने भी "**सतत्त्वतो अन्यथाप्रथा 'विकार' इति उदीरिता अतत्त्वतो अन्यथाप्रथा 'विवर्त' इति उदीरिता**" दिया है. अतत्त्वतः अन्यथाप्रथा विवर्त है और सतत्त्वतः अन्यथाप्रथा विकार है. हमारी धारणाके अनुसार इसके अलावा भी एक प्रकार है कि कुछ कार्य अपने कारणके मौलिक रूपको छोड़ कर कार्यतया प्रकट होते हैं जैसे दूधमेंसे दही. कुछ कार्य अपने

कारणगत मौलिक रूपके त्याग बिना कार्यरूपेण प्रकट होते हैं जैसे सुवर्णमेंसे आभूषण. इसे 'अविकृतपरिणाम' हम कहते हैं. केवलाद्वैतवादमें परन्तु विकार और विवर्त में यह व्यावहारिक प्रभेद तो मान्य रखा ही गया है. जब व्यावहारिक प्रभेद मान्य रखा है फिरभी जो विकार हो वह अनित्य होता है और जो अनित्य हो उसे अधिष्ठानारोप्यभावमें फिट कर देना थोड़ी धांधली लगती है. क्योंकि थोड़ी धीरजसे, जैसे वेद कहता है ''अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्'' (तैत्ति.आर.३।१३।३). अजायमानो बहुधा कथं विजायते? कुछ धीरज रखे बिना बात समझमें नहीं आयेगी. और वह धैर्य क्या है वह सोचनेके लिये मुझे लगता है कि यह जो सारे मॉडल् हैं, उपादान-उपादेयभावके वे बहोत ज्यादा सहायक हो सकते है. इस अर्थमें, अब वह असंसृष्ट हो, जैसे रामानुजमत और माध्वमत केलिये श्रीपतिभगवत्पादाचार्य कहते हैं कि वे असंसृष्टपरिणामवादी हैं. विज्ञानभिक्षु भी असंसृष्टपरिणामवादी हैं. अथवा संसृष्टोपादानोपादेयभाव भी हो सकता है. इस सन्दर्भमें मैं कहना चाहूंगा कि हम संसृष्टपरिणामवादी हैं. तो संसृष्टपरिणाम हो असंसृष्टपरिणाम हो जैसा भी परिणाम हो परन्तु मुख्य मुद्दा इसमें समझनेका यही आता है कि जैसे लहरें समुद्रमें पैदा होती हैं. लहरोंसे समुद्र संसृष्ट ही होता है. लहरें समुद्रका एक संसृष्टपरिणाम है. समुद्र अपने मौलिक रूपको छोड़ कर वर्षा बनता है वैसे लहररूप धारण करते समय अपना मौलिक रूप समुद्रको छोड़ना नहीं पड़ता. अतः संसृष्टोपादान होनेके साथ-साथ अविकृतपरिणामतया समुद्रमें लहरें प्रकट होती हैं. इसके विपरीत जिस आकाशमें घट पैदा होता है उससे वह आकाश संसृष्ट नहीं होता, असंसृष्ट रहता है. ऐसे दो मोडल् सजेस्ट किये जा सकते हैं. तो उपादान-उपादेयभावमें असंसृष्ट लेना संसृष्ट लेना यह फिरसे विचारणीय विषय है.

(सर्वेषाम् उपादानत्वेन आत्मरूपो हरि श्रोतव्यः)

पर मैं यह प्रस्तुत करना चाहूंगा कि उपादान-उपादेयभावमें यदि

संसृष्टि हम लेते हैं तो दोनों बातका निर्वाह सहजतया हो सकता है. इस तरह कि वह आत्मा भी बन पायेगा और अधिष्ठान भी, कर्ता भी बन सकता है और कार्य भी. शरीर भी बन जानेपर शरीरी भी रह ही सकता है. क्योंकि "तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्, तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्"(तैत्ति.उप.२।६) तो यह मॉडल् जब हम पकड़ते हैं तो जो कुछ बना है वह वही तो बना है! और महाप्रभु बहोत सुन्दर एक प्रतिपादन इस बारेमें करते है कि "प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिगोचरा परस्परं विरुद्धा ते न एकशेषं भजन्ति हि उभयो वैदिकत्वेन कः स्याद् अत्र नियामकः विचारकानां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा क्रियाविद्यापरत्वे तु विकल्पेनैकवाक्यता. दुष्टोऽप्याश्रीयते पक्षो विकल्पाख्यः श्रुतेर्बलात्. तथैव भगवद्रूपं यथा हस्तादयः पृथक्. यथा सर्वाविरोधः स्यात् तथैवाऽत्र विचारणम्. सर्वरूपसमर्थत्वमतो ब्रह्मणि गीयते. अन्यथा प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदतः. तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः. यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यं चाऽपि हरिः स्वयम्. विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते. योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहमिति. " (भाग. सुबो. २।९।३२) यदि कहीं विरोध खडा हो रहा है तो कर्ममें जैसे "उदिते जुहोति"-"अनुदिते-जुहोति" में विकल्प मान्य कर लिया जाता है. वैसे ही ब्रह्मनिरूपणमें भी यदि कहीं विरोधाभास प्रतीत होता हो तो ब्रह्मस्वरूपमें भी विकल्पेन उभयथा स्वीकार करना चाहिये. क्योंकि हम कौन कहनेवाले होते हैं कि ब्रह्मको कैसा होना या कैसा नहीं होना चाहिये!

(उपसंहार)

हम जब भी कुछ कहने जायेंगे कि ब्रह्म कैसा है तो या तो हम ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्रोंका पोस्ट्मार्टम् कर देंगे या फिर ब्रह्मको केवल अमृत मान कर ही चलेंगे. "अथात आदेशो 'नेति-नेति' न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परम् अस्ति" जब हम कोई भी एक स्टेन्ड्

लेंगे तो फिरसे उपनिषद् हमें यह कहेगा कि भाई इतना ही नहीं है बहुत कुछ आगे भी है. सितारोंसे आगे जहां और भी है अभी इश्कके इम्तहां और भी हैं...





न्यायालयसंघटना तत्सभ्यानां च कर्तव्यानि

(स्मार्ताधुनिकप्रणाल्योः तौलनिको विमर्शः)

(मंगलाचरणम्)

धर्म्यं वा न्याय्यमपिवा यत्कृपाप्रेरणाद् जनः।
मार्गमाप्नोति सर्वान्तर्यामिणं तमुपास्महे॥

(उपक्रमः)

जडवस्तुस्वभावेन जातं कर्म क्रियोच्यते।
ज्ञानेच्छायत्नजा या तु क्रिया सा हि कृतिर्मता॥
कृतिः परस्मै चेद् या तु परेष्टानिष्टकारिणी।
व्यवहारपदवीमाप्ता विचार्यविषयात्र वै॥
पुरा तु राजा राज्यं वा दण्डो वा दाण्डिकोऽपि वा।
व्यवहारे न कोऽप्यासीद् धर्मनीताः प्रजाः स्वतः॥
धर्मस्य निष्ठाशक्त्योर्हि ह्रासश्चात्र युगे-युगे।
शास्त्रेषु श्रूयते तत्र मीमांस्यं स्यात् कलौ नु किम्!॥

इदम् अत्र अवधेयं भवति : कीदृशो हि व्यवहारो धर्म्यो वा न्याय्यो वा कीदृशस्तु पुनः अतथा इति एतादृश्यां विप्रतिपत्तौ समुद्गतायां सत्यां द्वयोः पुरुषयोः वा तत्समुदाययोः वा मिथो विवदमानयोः कतरस्तावत् इतरस्य कृते वस्तुतो हि अनिष्टं व्यवहारं करोति कतरो हि तथा

अकुर्वत्यपि इतरेस्मिन् मिथ्याभियोगपूर्वकं स्वयं वा स्वीयं समुदायम् वा आहूय अन्यं वा कञ्चिद् राजानं वा दण्डाधिकारिमण्डलं वा आवेद्य तं पुरुषान्तरं तत्समुदायान्तरं वा दण्डयितुम् उद्यतो भवति चेत् तदा तत्र अनिष्टकारिणो वा मिथ्याभिसंशिनो वा अनुचितप्रवृत्त्युपशमाय केनचिद् ग्रन्थनिबद्धतया तदनिबद्धतया वापि [१] धर्म्यव्यवहारविधिना वा न्याय्यव्यवहारविधिना वा भवितव्यम्. [२] प्रजासु विवदमानयोः हि मध्ये धर्म्याधर्म्यसन्देहोपस्थितौ प्रजापालनौपयिकविधिविज्ञस्य निर्णयशक्तिनापि भवितव्यम्. [३] विवादोपशामकनिर्णयानुरोधेन निरपराधरक्षणाय तथाच अपराधिने खलु दण्डप्रदानाय शक्तिमत्तयापि केनचिद् भवितव्यम् इति, यथा आधुनिके युगे Divisions of the triple pawers of the Legislation, Judication and Exicution. इति अभिगम्यते, एकस्य कदाचित् क्वचित् पक्षपातित्वेऽपि अन्यस्य तादृग्भावाभावसम्भवेन न्यायरक्षासम्भवात्. एवमेव अस्माकं राष्ट्रेऽपि पुरा ईदृशी व्यवस्था न नाभिकल्पिता. तथाच उच्यते :

(त्रिधा संविभागः प्रजापालनौपयिकसामर्थ्यानाम्)

''अराजके हि लोके अस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् रक्षार्थमेव सर्वस्य राजानम् असृजत् प्रभुः... तस्माद् धर्मं यम् इष्टेषु स व्यवस्येद् नराधिपो, अनिष्टं चापि अनिष्टेषु, तं धर्मं न विचालयेत्. तस्य अर्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्मम् आत्मजं ब्रह्मतेजोमयं दण्डम् असृजत् पूर्वम् ईश्वरः. तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्माद् न चलन्ति च. तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां च अवेक्ष्य तत्त्वतः यथा अर्हतः संप्रणयेद् नरेषु अन्यायवर्तिषु. स राजा पुरुषो दण्डः, स नेता शासिता च सः, चतुर्णाम् आश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः, दण्डएव अभिरक्षति, दण्डः सुप्तेषु जागर्ति, दण्डं धर्मं विदुः बुधाः. तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेण अभिवर्धते, कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते... सो असहायेन मूढेन

लुब्धेन अकृतबुद्धिना न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च, शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता''.

(मनुस्मृ.७।३-३१)

प्रशासकस्य प्रजाशासनयोग्यतायोग्यते :

एतादृशो राज्यकर्तुः राजपदार्हतानर्हतेअपि शास्त्रे सविस्तरं सुचिन्तितैव. तथाहि :

''त्रैविद्येभ्यः त्रयीं विद्यां, दण्डनीतिं च शाश्वतीं, आन्वीक्षिकीं च आत्मविद्यां, वार्तारम्भान् (कृषिवाणिज्यपशुपालनादि-वार्ताः) च लोकतः (अभ्यसेत्). दश कामसमुत्थानि तथा अष्टौ क्रोधजानि च व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्. कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः वियुज्यते अर्थधर्माभ्यां क्रोधजेषु आत्मनैव तु. [१] मृगया [२] अक्षो [३] दिवास्वप्नः [४] परिवादः [५] स्त्रियो [६] मदः [७] तौर्यत्रिकं (स्वकर्तव्यपराङ्मुखकरेण तौर्यत्रिकरंजनातिरेकेन) [८] वृथाट्या च कामजो दशको गणः. [१] पैशून्यं [२] साहसं [३] द्रोहः [४] ईर्ष्या (अन्यगुणासहिष्णुता) [५] असूया (परगुणेषु दोषाविष्करणम्) [६] अर्थदूषणं [७] वाग्दण्डजं च [८] पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणो अष्टकः''.

(मनुस्मृ.७।४३-४८).

एवम् प्रजाप्रशासनौपयिकगुणसम्पन्ने दुर्गुणैश्च रहिते पुरुषे सर्वाण्यपि प्रशासनौपयिकसामर्थ्यानि एकनीडतापन्नानि सन्त्यपि तेनैव खलु प्रशासकेन संविभाज्य संस्थापनीयानि इत्यपि सिद्धान्तः.

[३] विवादोपशामकनिर्णयानुरोधेन निरपराधरक्षणाय तथाच अपराधिने खलु दण्डप्रदानाय क्रियाशक्तिः :

''मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्

सचिवान् सप्त च अष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्. अपि यत् सुकरं कर्म तदपि एकेन दुष्करं, विशेषतो असहायेन किन्तु राज्यं महोदयं, तैः सार्धं चिन्तयेत् नित्यं, सामान्यं सन्धिविग्रहं स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च. तेषां स्वं-स्वम् अभिप्रायम् उपलभ्य पृथक्-पृथक् समस्तानां च कार्येषु विदध्याद् हितम् आत्मनः. सर्वेषान्तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्य(सन्धिं च विग्रहं चैव यानम् आसनमेव च द्वैधीभावं संश्रयं च)संयुतम्. नित्यं तस्मिन् समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निक्षिपेत्. तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत्''.

(मनुस्मृ.७|५४-५९)

[२] प्रजासु विवदमानयोः हि मध्ये धर्म्याधर्म्यसन्देहे प्रजापालनौपयिकविधिविज्ञस्य निर्णयशक्तिः :

एवं प्रशासनकर्मणा प्रजापालनपरो हि प्रजासु मिथः प्रवर्तमानेषु व्यवहारेषु च क्वचित्-कयोश्चिद् मध्ये विवादोद्भवे तदुपशमनाय तत्परो न भवति चेद् अन्ततो प्रजासु राज्ञि निष्ठाक्षयः क्लेशाय च राष्ट्रोपद्रवायैव च स्यादिति स्मृतिकारैः सर्वोपद्रवोपशमनाय अष्टादश व्यवहारेषु विवादास्पदानि पदानि प्रतिपादितानि :

''तेषाम् आद्यं [१] ऋणादानं [२] निक्षेपो [३] अस्वामिविक्रयः [४] सम्भूय च समुत्थानं [४] दत्तस्वानपकर्म च [५] वेतनस्यैव च अदानं [६] संविदः च व्यतिक्रमः [७] क्रयविक्रयानुशयो, विवादः, [८] स्वामि-पालयोः [९] सीमाविवादधर्मः [१०] पारुष्ये [११] दण्डवाचिके [१२] स्तेयं च [१३] साहसं चैव [१४] स्त्रीसंग्रहणमेव च [१५] स्त्रीपुंधर्मो [१६] विभागः [१७] द्यूतम् [१८] आह्वयएव च पदानि अष्टादश एतानि व्यवहारस्थितौ इह. एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणां धर्मं शाश्वतम्

आश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम्''.

(मनुस्मृ.८।४-८).

इत्थम्भूतेषु व्यवहारास्पदेषु विषयेषु मन्वर्थमुक्तावलीकर्ता कुल्लूकः कथयति ''व्यवहारदर्शनं च इदं प्रजानाम् इतरेतरपीडायां तत्त्वनिर्णयेन रक्षणार्थम्'' (मनुस्मृ.कुल्लू.८।१) इति. तस्माद् हेतोः स्मृतिकारः प्रतिपादयति :

''प्रत्यहं देशदृष्टैः च शास्त्रदृष्टैः च हेतुभिः अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक्... एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणां धर्मम् आश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम्. यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनं तदा नियुञ्ज्याद् विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने. सो अस्य कार्याणि सम्पश्येत् सभ्यैरेव त्रिभिः वृतः, सभामेव प्रविश्य अग्र्याम् आसीनः स्थितएव वा. यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्राः वेदविदः त्रयो राज्ञः च अधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणः तां सभां विदुः. धर्मो विद्धस्तु अधर्मेण सभां यत्र उपतिष्ठते, शल्यं च अस्य कृन्तन्ति विद्धाः तत्र सभासदः. यत्र धर्मो हि अधर्मेण सत्यं यत्र अनृतेन च हन्यते प्रेक्षमाणानां हताः तत्र सभासदः. धर्मएव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः. तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो अवधीत्''.

(मनुस्मृ.८।३-१५).

[१] धर्म्यव्यवहारविधानरूपा वा न्याय्यव्यवहारविधानरूपा वा शक्तिः :

एतेन सिध्यति यद् एकराजप्रणाल्यामपि पुरा राज्ञः सम्भूयन्यायनिर्णयकारित्वमेव आसीत्. न पुनः वैयक्तिकी मनस्विता नापि ब्राह्मणानामपि तथा वैयक्तिकी मनस्विता शास्त्रे क्वचिद् अनुज्ञप्ता. यस्माद् ब्राह्मणैरपि तन्मुखेभ्यः शुश्रूषितो धर्मनिर्णयः धर्मादिशास्त्राणि अवलम्ब्यैव श्रावणीयः आसीत् न मनस्वितया. ततएव अग्रे स्मृतिकारः सार्धद्विशताधिकेषु व्यावहारिकेषु पदेषु धर्मविधिं प्रतिपादितवान्.

(साम्प्रतिके युगे तु)

नैकस्य धर्मशास्त्रस्य जनाः सर्वेऽनुगामिनः ।
इति हेतोर्न्यायगृहे ये हि न्यायाधिकारिणः ॥
मृष्ट्वा हि लौकिकं न्यायं निर्णयन्ति यथातथा ।
अपि धर्मस्य विषये नेष्टा धर्मज्ञता ततः ॥
एकस्यार्थे तु यो धर्मोऽपरस्यार्थे तथा न सः ।
तस्मादेकस्य वेत्तापि ह्यन्यस्मै न भवेत्तथा ॥
तस्माद् धर्म्याधर्म्ययोर्हि न्याय्यान्याय्यत्वनिर्णये ।
न्यायशास्त्रं लौकिकं हि व्यवहारनियामकम् ॥
वृत्तं यद् धर्मशास्त्रैकगम्यत्वेनाभिमानितम् ।
तस्माद् जातो व्युत्क्रमो हि तत्र चिन्ता प्रवर्तते ॥

ततो अधुना इदं तावद् अनुसन्धेयं भवति यद् अस्माकं राष्ट्रस्य संविधानप्रस्तावनायां (Preamble) उपलभ्यते.

(सामाजिकार्थिकराजनयिकन्यायः, समानं विचाराभिव्यक्तिविश्वासश्रद्धाधर्मेषु स्वातन्त्र्यं, सर्वेषां कृते पदावसरयोः तौल्यम्, व्यक्तिगौरवपुरस्सरो सर्वेषु भ्रातृभावः इति संविधानोक्तो राष्ट्रधर्मः)

"WE THE PEOPLE OF INDIA, having solemnly resolved to constitute India into a [1][SOVERIGN SOCIALIST SECULAR DEMOCRATIC REPUBLIC] and to secure to all its citizen:

JUSTICE, social, economic and political;

LIBERTY of thought, expression, belief and faith and worship.

EQUALITY of status and of opportunity; and to promote among them all

FRATERNITY assuring the dignity of the individual

and [2][unity and integrity of the Nation]:
IN OUR CONSTITUENT ASSEMBLY this twenty-sixth day of Novemer, 1949, do HEREBY ADOPT, ENACT AND GIVE TO OURSELVES THIS CONSTITUTION.
[[1-2] are amendments for 'sovereign democratic republic' and 'unity of the Nation'].

अत्र ये सर्वसुजनाभिनन्दनीयाः श्रुतिरम्याः उद्देश्याः, नामशः, [१] सामाजिकार्थिकराजनयिकन्यायः [२] विचाराभिव्यक्तिविश्वासश्रद्धाराधनास्वातन्त्र्यं [३] सर्वेषामपि जानानां कृते पदावसरयोः साधारण्यम् [४] व्यक्तिमाहात्म्याश्वासनपूर्वकभ्रातृभावाभिवर्धनेन [५] राष्ट्रैक्य-सामरस्ययोः प्रवर्धनम् इति. तेषाम् एतेषाम् महनीयोद्देश्यानां पूर्तये सर्वैरपि भारतीयैः स्वनिर्मितं स्वविहितं स्वेभ्यः च उपायनीकृतं नूतनं बृहत्कायं संविधानम् इति स्थितिः.

(इह मीमांस्याः विसंवादाः)

तत्र या खलु तदा संविधाननिर्मात्री समितिः आसीत् तस्याः निजात्मप्रत्यभिज्ञानं, नैजो भवितव्यतासंकल्पः चापि इत्थं परिभावितः "WE THE PEOPLE OF INDIA, having solemnly resolved to constitute India into a SOVERIGN SOCIALIST SECULAR DEMOCRATIC REPUBLIC and to secure to all its citizens" . तस्माद् येषां किल भारतराष्ट्रं "SOVERIGN SOCIALIST SECULAR DEMOCRATIC REPUBLIC" इति भावयितुं संकल्पो द्योतितः ते किं वैदिकशैववैष्णवजैनबौद्धसिक्खादिभारतप्रभवधर्मानुयायिभिः निजात्मनो भिन्नमेव प्रत्यभिजज्ञुः ? उत अभिन्नं ? यद्वा भेदाभेदौ अनपेक्ष्य केवलं भारतीयमेव अभिमन्यन्ते स्म ?

तत्र आद्ये तु कल्पे तेषां यः संकल्पः सो हि न तावत् सर्वेषां भारतीयानाम् आसीदिति "WE THE PEOPLE OF INDIA" इति

वचनस्य नैरर्थक्यमेव आपद्येत. द्वितीये तु कल्पे संविधानसमितेः भारतप्रभवविभिन्नधर्मानुयायिभिः साकम् अभेदे तु सो अभेदः कथंकारम् अवधारितः ? किं तैस्तैः धर्मानुयायिभिः सा समितिः स्वप्रतिनिधितया निर्वाचिता आसीद् इति हेतुना ? उत अनिर्वाचितापि सा संविधाननिर्मात्री समितिः स्वतएव स्वस्याः अधिनायकतां गणयामासेति ? यदितु अनिर्वाचिता आसीत् तदातु प्रजातन्त्रताभावकैः प्रजातन्त्रारम्भएव तदानीं अप्रजातान्त्रिकः प्रजातन्त्रमूलोच्छेदको अभिगमो अभ्यादृतइति वैषम्यम् आपद्यते. ततश्च अवशिष्यते तृतीयः कल्पो यद् भारतप्रभवधर्मानुयायिजनताभिः साकं स्वस्य भेदाभेदनिरपेक्षतया सा संविधाननिर्मात्री समितिः निजात्मानं "WE THE PEOPLE OF INDIA" इति मन्वाना आसीद् इति. तत्र इदम् अवधेयं भवति यद् भारतीयप्रजायाः, अस्मिन् विधाने प्रजातन्त्रसंविधानाभ्युगमरूपे स्वराष्ट्रं "SECULAR DEMOCRATIC REPUBLIC" भवेद् इति यश्च अभिसंकल्पः प्रद्योतितः, तत्र 'सेक्युलरिज़म्' नाम कश्चन धर्मान्तरो वा सर्वधर्मप्रतिपक्षिवादो वा इति विचिकित्सायां 'रिकवरी ऑफ् फैथ्' इति ग्रन्थस्य १८४ तमे पृष्ठे बहुकालं राष्ट्राध्यक्षतामपि अलंकुर्वाणाः डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् महोदयाः प्रतिपादयन्ति —

> "When India is said to be a Secular State, it does not mean that we reject the reality of unseen spirit or the relevance of religion to life or that we exalt irreligion. It does not mean that secularism itself becomes a positive religion or that the state assumes divine prerogatives... We hold that not one religion should be given preferential status... This view of religious impartiality, or comprehension and forbearance, has prophetic role to play within the National and International life".

(इह सिद्धान्तव्यवहारयोः विरोधाभासः)

ननु जानन्त्येव सर्वे यद् एतद् विधानं यद्यपि कियत्कालं यावद् राष्ट्राध्यक्ष्यम् आवहतः कस्यचन पुरुषधौरयेस्यैव तथापि न एतदुक्तौ विधिभारः कश्चन वर्तते! तस्मादेव हेतोः प्रजातन्त्रात्मके राष्ट्रे बहुलजनसमुदायस्य स्वधर्मप्रचारप्रसारार्थं न्यासनिर्माणे न्यासपञ्जिकायां संख्याक्रमो (Registration) न प्रदीयते, प्रदीयते चेत् न्यासस्थायिकोषतया धनसंग्रहाय करमुक्तिः न प्रदीयते. सेयं हि अल्पजनसमुदायस्य कृते सर्वथा कियती किल सुलभा! बहुलजनसमुदायेन तावद् विद्यालयः चिकित्सालयो अनाथालयो मुद्रणालयो वा धर्मप्रचारप्रसारसाधनतया संस्थापयितुं न शक्यते, यस्माद् अल्पजनसमुदायस्य तत्र एकाधिकारइव आलक्ष्यते. बहुलजनसमुदायस्य धर्मस्थलान्यपि सर्वकारिजनैः (by the government servents) व्यवस्थाप्यन्ते. एतद्वैपरीत्येन अल्पजनसमुदायस्य धर्मस्थलानि हस्तक्षेपानर्हतया तदनुयायिभिरेव व्यवस्थापनीयानि अभिमन्यन्ते. एतान् च विवादास्पदीभूतान् विषयान् यदि न्यायालये न्यायनिर्णयार्थं नीयन्ते चेत् तदा निर्णयकर्तारो न्यायविधिज्ञाअपि धर्मशास्त्रविधेः बहुचिन्तां न कुर्वन्ति लौकिकन्यायविधिदक्षाः हि ते. क्वचिद् आग्रहावेदनेऽपि धर्मनिरपेक्षस्य न्यायविधेरेव अभिप्रायमीमांसया विवादास्पदीभूतस्य अदृष्टजनकधर्मरूपता आहोस्विद् लौकिककर्मरूपता वा इति निश्चिन्वन्ति नतु धर्मशास्त्रानुरोधेन.

तदेतद् "**त्रैविद्येभ्यः त्रयीं विद्यां... च आत्मविद्यां**" (यथापूर्वोदाहृतस्थले) तथाच "**धर्मो विद्धस्तु अधर्मेण सभां यत्र उपतिष्ठते, शल्यं च अस्य कृन्तन्ति विद्धाः तत्र सभासदः. यत्र धर्मो हि अधर्मेण सत्यं यत्र अनृतेन च हन्यते प्रेक्षमाणानां हताः तत्र सभासदः. धर्मएव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः. तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो अवधीत्**" (यथापूर्वोदाहृतस्थले) इति वचनानां हन्त! अवहेलनैव प्रतिभाति आधुनिकन्यायाधीशानां नियुक्तौ धर्मनिरपेक्षप्रजातन्त्रे अनुष्ठीयमाना.

एतेन अस्माकं राष्ट्रस्य संविधाने प्रदत्तमपि सर्वेभ्यो धर्मानुयायिभ्यः

स्व-स्वधर्मानुष्ठानस्य तत्प्रचारप्रसारयोः च स्वातन्त्र्यं, तत्र पदावसरयोः हि साधारण्यं च इति संविधानग्रन्थगतएव सिद्धान्तो नतु क्रियान्वितये अनुपाल्यमानो धर्मः इति प्रतिभाति. नहि अल्पजनसमुदायधर्मानुयायिनामिव अकुण्ठितं स्वातन्त्र्यं बहुजनसमुदायधर्मानुयायिनां खलु एतस्मिन् विषये प्रत्युत "to secure to all its citizens : JUSTICE... LIBERTY of thought, expression, belief and faith and worship... EQUALITY of status and of opportunity; and to promote among them all FRATERNITY assuring the dignity of the individual" इति सांवैधानिक्या घोषणयापि वदतोव्याघातरूपा आभाति.

(बहुजनसमुदायीया आधुनिकान्यायजा पीडा)

१.एतादृश्याः प्रशासननीत्या व्यथिताः सन्तः रामकृष्णमिशनीयाः संन्यासिनः स्वस्य अल्पजनसमुदायतायाः पक्षं पुरस्कृत्य न्यायालयेषु आवेदितवन्तः. अन्ततस्तु प्रधानतमन्यायालयेऽपि पराजिताएव अभूवन्. तेषां व्यथा तु तत्सञ्चालितचिकित्सालयविद्यालयादिषु छद्मसाम्यवादीयाः जनाः प्रवेशं प्राप्य प्रत्यभिज्ञाताअपि सेवातो अनिष्कासनीयाः आसन् इति तदीयाएव सन्तः तत्संस्थाविरोधिनोऽपि भूत्वा नैजं साहसं प्रदर्शयन्ति स्म इत्येव आसीत्.

२.सिक्खधर्मानुयायिनोऽपि स्वेषाम् अल्पजनसमुदायतायै बहुकलहं कृत्वा इदानीं तूष्णीम्भावं भजमानाः संवृत्ताः. तेषां समस्यातु यत्र-तत्र विद्यमानानां तद्गुरुद्वाराणां व्यवस्थाकोषयोः केन्द्रैक्येन व्यवस्थापनम् आसीत् तत्र प्रशासनेन अनुमतिः न प्रदीयते स्म.

३.जैनाअपि एतस्मादेव हेतोः स्वेषां अल्पजनसमुदायतायां मिथः "*स्याम् अस्मि, स्याम् नास्मि, स्याम् अस्मि च नास्मि, स्याम् अवक्तव्यः च*" इत्येवमादिस्वसप्तभंग्या विवादं कुर्वाणाः सञ्जाताः इति अनुभूयन्ते.

४.केरलादिप्रान्तेषु सर्वकारिजनाः (government servents) धर्मविरोधिनः साम्यवादिनो भूत्वापि अस्माकं धर्मस्थलानां व्यवस्थापकाः भवितुम् आग्रहिलाः सन्त्येव इति श्रूयते. नहि ते ईशवीयमोहम्मदीयधर्मस्थलव्यवस्थापनाय कदापि कुत्रापि अनुज्ञप्ताः. इति चित्रेयं खलु अस्माकं राष्ट्रे "EQUALITY of status and of opportunity" इतिविषयिणी क्रियान्वितिः! इह अस्माकम् अपराधस्तु एतावानेव यद् वयं बहुलजनसमुदायधर्मानुयायिनो भवामः इति.

५.तत्रैव केरलप्रदेशे अल्पजनसमुदायस्य तु प्रजातन्त्रीयसंविधानविरोधोऽपि नापराधितायै भवति. यथाहि राष्ट्रगीतस्य अस्वीकाररूपो वा सो भवेत्, काश्मीरप्रदेशाद् हठाद् अस्मद्धर्मानुयायिनां अल्पजनधर्मानुयायिजनैः निष्कासनं वा भवेद्. श्रीजगन्नाथपुरिस्थ-गोवर्धनपीठाधिष्ठितानां श्रीमन्निरञ्जनदेवतीर्थस्वामिनां राष्ट्रगीतविषये निजमतभेदोच्चारणेनैव राजद्वारिपुरुषैः पोलिसाह्वयः प्रेषितः आसीत्, चत्वारिंशत्-पंचचत्वारिंशद्वर्षप्राचीना इयं वार्ता.

६.तामिलनाडु-आन्ध्र-कर्णाटक-केरलप्रदेशेषु विद्यमानानि बहूनि अस्माकं धर्मस्थलानि तत्ततन्त्रागमैः प्रतिष्ठापितानि, तद्वैपरीत्ये तु देवप्रतिष्ठानिरासकानीव अवकल्पितान्यपि न जाने तत्ततन्त्रोक्तां व्यवस्थां कियद् अनुसरन्ति कियत् च न इति.

७.अस्माकं वाल्लभे सम्प्रदाये प्रायो निरपवादतया स्वस्वगृहेष्वेव भगवदर्चनम् अवश्यककर्तव्यताकं स्वार्थप्रतिष्ठापितायाः भगवन्मूर्तेरेव "**तस्मात् सर्वजनैः सेव्यः परार्थः पुरुषोत्तमः. (परन्तु) ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्राद्यैः स्व-स्वसद्मनि स्थापितो देवदेवस्तु 'स्वार्थः' इति अभिधीयते. पश्वारामगृहक्षेत्रपुत्राद्याः स्वार्थसम्पदः तन्मात्रदानात् तद्देवः 'स्वार्थः' सम्परिकीर्तितः. परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवद्**" (श्रीप्रश्नसंहि.५३।५५-५७) इति तन्त्रोक्ताराधनप्रणाडीप्रामाण्यात् स्वगृहरूपाराधनस्थलेष्वेव सिद्धान्तितो अस्ति. तस्याम् एतस्याम् आराधनायां स्वार्थप्रतिष्ठापितायाः भगवन्मूर्तेः

दर्शनाय "अलंकृत्यैव स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्" (साध.दीपि.१०८), "अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम् एतेन अपराधेन वार्षिकसेवानिष्फलता" (षट्षष्ठिः भगवत्सेवापराधाः) इति उभयविधवचनाभ्याम् अस्मन्मार्गानुगामिजनता अस्मद्गृहेषु आगच्छति स्म, तदतिरिक्तेभ्यः अस्वीयेभ्यो भक्तेभ्यो वा स्वीयेभ्यो अभक्तेभ्यो वापि भगवन्मन्दिरे प्रवेशदर्शनादिः वर्जितएव आसीद्. अतोहि अस्माभिः स्वगृहेष्वेव अनुष्ठिते भगवदाराधने शिष्यभावेन समागतेभ्यो जनेभ्यो गुरुसेवांगरूपतयैव कासुचिद् भगवद्भजनौपयिकासु आनुषंगिकासु बहिरंगक्रियासु अनुमतिरपि प्रदीयते स्म. नहि कदाचिदपि भगवद्भजने अन्तरंगक्रियासु कोऽपि अधिकारो अस्मत्परिवारबहिर्भूतानाम् अस्मन्मार्गानुगामिनामपि आसीत्. तथापि जनताद्वारा जनतायै जनप्रतिनिधिभूतैः एतन्मार्गाचार्यैः क्रियमाणा भगवदाराधनेति जनतायाएव तद् आराधनास्थलं भगवद्विग्रहोऽपि न गुरूणां नापि नैजम् आराधनास्थलम् इति आधुनिकन्यायविद्भिः निर्णीतम्.

तदेवं नूनं पञ्चरात्राद्युक्ताराधनाशास्त्रसिद्धोऽपि भगवद्विग्रहदेवालययोः स्वार्थपरार्थप्रभेदः आधुनिकन्यायव्यवस्थया गोमयपायसन्यायेन दुरुट्टंकितव्याख्यया भृशम् अवहेलितएव. तदेतद् अस्माकं सम्प्रदायस्य प्रधानपीठान्तर्गतभगवदाराधनास्थलविषयके प्रधानतमन्यायालयीये (in the Judgement of The Supreme Court of India) निर्णये —

> "(Havelies)... though thy are grand and majestik inside, the outside appearance is always attempted to resemble that of a private house. This feature can, however, be easily explained if we recall the fact that during the time when Vitthalnathji with his greate missionary zeal spread the doctrine of Vallabh, Hindu temples were constantly faced with the danger of attack from Aurangzeb...".
>
> (T.G. Vs. State of Raj. SC AIr 1962 para 21).

इति प्रधानतमन्यायालये मान्यैः प्रमुखतमन्यायाधीशैः श्रीगजेन्द्रगडकरमहोदयैः अस्मद्धर्मसिद्धान्तस्वीकाराचरणस्वातन्त्र्यापहाराय निर्धारितम्. यद्यपि ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये अन्येष्वपि च ग्रन्थेषु श्रीमदाचार्यचरणैः तद्ग्रन्थव्याख्यातृभिरपि —

> १. ''स्वगृहेष्वेव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तः तयैव निर्वृत्या मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्ते... तेन भगवद्भजनएव तत्रापि पुष्टिमार्गएव श्रुतेः भरः... पूर्वम् उत्कटभगवद्भाववतां तदर्थं (गृह)त्यागं निरूप्य ... पश्चाद् यद् निरूपितवान् तेन तादृग्भाववतैव (गृह)त्यागः कार्यः. तद्रहितेन तु गृहएव उक्तरीत्या प्रभुभजनं कार्यम्''.
>
> २.(मूलं) ''बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो अव्यावृत्तं भजेत् कृष्णम्'' (व्याख्या) ''यद् गृहे स्थित्वा अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः आत्मधर्मो अयम् इति ज्ञात्वा... तदपि भजनं स्वधर्मत्वेन कर्तव्यं ननु धर्मत्वेन तथा सति अन्यशेषत्वेन अभक्तित्वं स्यात्... अत्र गृहस्थानविधानेन स्वगृहाधिष्ठितस्वरूपभजनपरित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति इति सूचितम्''.
>
> (ब्र.सू.भा. ३।४।४७ , भक्तिवर्धि.तट्टीका बालकृ.२).

इति धर्मविधितया उद्घुष्टएव अयम् अस्माकं सिद्धान्तः. सम्प्रदायप्रवर्तकाचार्यैस्तु सर्वेषामपि एतन्मार्गानुयायिनां कृते स्व-स्वगृहेष्वेव भगवदाराधनस्य धार्मिकी आवश्यकता निरूपिता. तथापि आधुनिकाः न्यायनिर्णायकाः मोगलराज्ञः औरंगज़ेबस्य भयाद् एवं कृतं स्याद् इति तर्कयन्ति.

तदिह सामाजिकापराधे सामाजिको विधिः (Civil Law) , साहसिकापराधे साहसिको विधिः (Criminal Law) विमृग्यो भवति; तथापि धार्मिके कर्तव्ये धार्मिकस्य विधेः भारो नानुमन्यते आधुनिकन्यायविद्भिः

इति चित्रम्! ननु को नाम इह न जानाति श्रीमद्वल्लभाचार्यात्मजविठ्ठलनाथचरणाः अकबरराज्ञः समकालिकाः आसन् इति. अकबरराज्ञः पुत्रो जहांगीरनामा, तत्पुत्रः शाहजहांनामा, तत्पुत्रश्च ओरंगज़ेबो अभवद्. श्रीवल्लभात्मजानां श्रीविठ्ठलनाथानां जन्म १५१५ खैस्तवर्षे लोकत्यागस्तु १५८७ खैस्ते वर्षे अभवत्. ओरंगज़ेबस्तु सप्ततिवर्षानन्तरं १६५७ खस्ते वर्षे सिहासनम् अध्यारुरोह! ततोहि कथन्नु सप्ततिवर्षानन्तरभाविनीं विपत्तिम् आलोच्य श्रीमदाचार्यात्मजैः स्वगृहएव भगवदाराधनस्य सिद्धान्तः प्रस्थापितः इति कल्पयितुं शक्यम्? हन्त! कोनु एवं वक्तुं प्रभवेद् ऋते धर्मनिरपेक्षन्यायवेत्तारम्!

यद्यपि अस्मिन्नेव न्यायनिर्णये "If Dr. Bandarkar's work in the section dealing with Vallabh is considered as a whole, it would be clear that these observations are incidental and can not be taken to indicate the learned doctor's conclusions" (ibid. para 61) इति न केवलम् अस्माकं मतं प्रत्युत अस्मन्मताध्येतॄणाम् इतरेषामपि विदुषां भाण्डारकरसदृशानां वचनानि अन्यथैव नीतानि उपलभ्यन्ते. सर्वथा तु अस्मत्साम्प्रदायिकाः देवालयाः स्वार्थप्रतिष्ठापितभगवद्विग्रहाणामेव आराधनाय सन्ति इत्यस्य विषयस्य धार्मिकसिद्धान्ततायां न शंकालेशोऽपि.

एतद्वैपरीत्येन आंग्लानां प्रशासनकालेऽपि नैकैः न्यायालयनिर्णयैः —

"This conclusion that a temple, which is managed out of the funds collected from the public, is the Maharaja's property may seem startling, but it is not non the less inevitable by reason of the particular tenets of the sect... The Maharaja having already acquired property rights by what was done by himself and his devotees... The latter (devotee public) may disallow the tenets if they deem hard or unjust... But so far as

the existing temple and it's property are concerned, they are not at liberty to question the Maharaja's title to them".

(1st june 1927 in civil Suit no.2 of 1927 by The Dist.Judge N.S.Lokur)

इत्येवमादयो अनेके न्यायनिर्णयाः घोषिताः आसन्. तथापि स्वातन्त्र्योत्तरकाले स्वार्थप्रतिष्ठापितायाः भगवन्मूर्तेः परार्थप्रतिष्ठापितदेवमूर्तेः च मिथः प्रभेदं ज्ञातुम् अक्षमैः सर्वकारिजनैः न्यायालयैः च अस्मद्धर्मसिद्धान्तावहेलनम् यत् कृतं तद् अस्मत्सम्प्रदायोपदेशकानां तथाच अस्मत्सम्प्रदायानुगामिनां च श्रद्धायाः विलोपनाय अतीवनैष्ठुर्यम् आचरितम्.

तस्माद् इदानीं स्वसिद्धान्तं स्वीकर्तुम् उपदेष्टुं आचरितुं च भीरवः एतन्मार्गीयाचार्याअपि "... **देवद्रव्योपजीविनं... स्पृष्ट्वा सचैलम् अम्भो अवगाह्य अग्निम् उपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेद्**" (गो.पुरुषोत्तमकृतद्रव्यशुद्धौ) इति वचनविरुद्धायाअपि देवलकतायाः अंगीकरणे न कमपि दोषं मन्वते! "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः" इति आभाणकपण्डिताः सन्तः श्रीवल्लभभणितार्थनिष्ठाराहित्यात्! ततश्च तेऽपि स्वार्थप्रतिष्ठापितान् अस्मत्सम्प्रदायिकदेवालयान् स्वसिद्धान्तोपेक्षया परार्थप्रतिष्ठापितदेवालयत्वेन प्रस्थापयन्तः प्रचारयन्तः च सञ्जाताः, राज्यविरोधे सर्वनाशं मन्यमानाः.

यद्यपि बहुषु सार्वजनिकन्यासनियमेषु "The maintainance of a public trust shall include—the runing of it in accordance with the tenets of the religion or persuation represented by the public trust and with underlying the foundation there of" (Raj.Public Trust Act Sect.61/j/expl.1) इति उच्चैः घोषयन्ति किन्तु न्यायालयेषु "Some temple of this cult may have been private in past and some of them may be private even today. Whether or not a particular temple is a public temple

must be necessarily be comsidered in the light of the relevant facts related to it" (T.G. Vs. State of Raj. SC AIr 1962 para 23). इति व्यावहारिकं तथ्यं परमं निकषं मन्यन्ते नतु सैद्धान्तिकं तत्त्वम्. हन्त! इयं दुर्दशा अस्माकं भाग्यहीनानां राष्ट्रेऽस्मिन् बहुलजनसमुदायधर्मानुगामिनाम्!

एतत्साम्प्रदायिकदेवालयानां सार्वजनिकन्यासतया अधिग्रहणाय एतत्साम्प्रदायिकसिद्धान्तोपेक्षया एतन्मार्गीयगुरूणां गृहाणि देवालयीयं न्यासं घोषयन्ति तत्र पुनः एतन्मार्गीयगुरूणां दायभागित्वं (Right of succession) स्वीक्रियते. तादृगधिकारवतां पुनः सार्वजनिकदेवालयीकृतेषु गुरुगृहेषु व्यवस्थाधिकारोऽपि (Right for the management of the trust-property) न निराक्रियते. अथच न्यासितांगीकारेऽपि पुनः अंशतो लाभग्रहणाधिकारोऽपि (Beneficiary right) न निषिध्यते. त्रयोऽपि एते अधिकाराः पुनः वंशानुगतिकाः (Hereditary) एव अभ्यादृताः. हन्त! एवं जगति सर्वमान्यन्यासस्वभाववैपरीत्यांगीकारेऽपि हठात् सार्वजनिकदेवालयीकृतेषु आचार्यगृहेषु मूलाचार्योपदिष्टस्य "स्वगृहएव भगवदाराधनं कर्तव्यम् इति" भक्तिमार्गीयसिद्धान्तानुसरणस्य स्वातन्त्र्यमेव आधुनिकैः न्यायालयैः निरस्तं नच अन्यत् किञ्चिद्!

ये इदानीम् अल्पजनसमुदायवन्तो धर्मसम्प्रदायाः सन्ति ते भविष्यति काले यदि बहुलजनसमुदायवन्तो भवेयुः तदा राज्याधीनानि अस्माकं धर्मस्थलानि तदधीनान्येव भवेयुः इति किं-किं प्रतीपं नाचरितं भवेद् इति आधुनिकन्यायप्रणाल्याः बहुजनधर्मविरोधिनीत्या!

अस्मद्राष्ट्रस्य संविधाने २५तमे विधानवचने धार्मिकस्वातन्त्र्यविषये विवरणं किमपि दीयमानम् एवम् उपलभ्यते तथाहि—

"(1)Subject to public order, morality and health and to the other provisions this part, all persons are equally entitled to freedom of conscience

and the right freely to profess, practise and propagate religion.

(2)Nothing in this article shall affect the operation of any existing law or prevent the state from making law —regulating or restricting any economic financial, political or other secular activity which may be associated with religious practice."

अस्मत्सम्प्रदाये स्वगृहएव भगवद्भजनं साम्प्रदायिकगुरुभिः सम्प्रदायानुगामिभिः चापि कर्तव्यम् इति तु धार्मिकी अवश्यकर्तव्यतैव अस्ति. यतोहि सम्प्रदाये निजगुरोः आवासे सम्प्रदायानुगामिनः नियमेन आगच्छन्ति द्रव्यादिकमपि प्रयच्छन्ति. तस्माद् वाल्लभसम्प्रदाये उपदेशकानां गुरूणां आचार्यगृहाणि सार्वजनिकदेवालयत्वेन निर्धार्यन्ते !

तत्र इदम् आलोचनीयं भवति यद् राजनयिकानामपि गृहेषु तेषाम् अनुगामिनः किमु न आगच्छन्ति? भिषजामपि गृहेषु बहुधा रुग्णाः जनाः आगच्छन्तो द्रव्यादिकमपि प्रयच्छन्त्येव. तथैव तौर्यत्रिकनृत्यचित्रशिल्पादिशिक्षकानामपि गृहेषु बहवः तत्तद्विद्याधिगमकामाः स्त्रिपुरुषाः समागच्छन्त्येव. तथापि तानि स्थलानि न पुनः सार्वजनिकानि मन्यन्ते. सत्सु एतेषु हि अस्मत्साम्प्रदायिकाचार्यगेहेषु साम्प्रदायिकजनतायाः आगमनं द्रव्यप्रदानं च तेषां स्थलानां सार्वजनिकत्वं कुतः आपादयति ?

नचापि अद्यावधि वाल्लभसाम्प्रदायिकानि गुरुगृहाणि धार्मिकस्थलानि जनतासु सुव्यवस्थायाः वा नीतिमत्तायाः वा स्वास्थ्यस्य वा बाधकानि इति विधायिकायां सभायां कुत्रापि घोषितम् उपलभ्यते. तथापि राष्ट्रस्य संविधानेन प्रदत्तं सर्वेषां तुल्यं स्वातन्त्र्यं "Subject to public order, morality and health ... all persons are equally entitled to freedom of conscience and the right freely to profess, practise

and propagate religion" इति वचने उपलभ्यमानं संविधानव्याख्याकारिषु न्यायालयेषु न समाद्रियते. तत् कस्य हेतोः ? इति बहुधा विचारितेऽपि एकएव दोषो बुद्धौ आभासते यद् वयं बहुलजनसमुदायान्तर्गता भवामः इति. यतोहि अल्पजनसमुदायधर्मानुगामिनान्तु अस्मिन्नपि विषये संविधानविहितं स्वातन्त्र्यं विधायिका कार्यपालिका न्यायपालिका च सन्निष्ठया निर्वहन्त्येव. नहि-नहि तत्र ईर्ष्यासूयादिना तान् निराकर्तुं कश्चन वाञ्छति तथापि बहुलजनसमुदायस्य कोऽपराधो अतिरिक्तो यत् तस्य एतादृक् स्वातन्त्र्यं धर्मनिरपेक्षवादिभिः न अभिमन्यते ? कुतो हि अल्पजनसमुदायतुल्यएव अधिकारो बहुजनसमुदायधर्मेभ्यो न प्रदीयते ? इत्येव तावद् मीमांस्यं भवति.

सर्वम् एतत् न्यायालयेषु न्यायाधिकारिभिः सह धार्मिकानां विवादे समुपस्थापिते तेषां धर्मशास्त्रविषयिण्याः यदि न हेयताबुद्धेः तदा उपेक्षणीयताबुद्धेस्तु प्रमाणतया नूनम् आभाति.

यद्यपि सर्वपल्ली श्रीराधाकृष्णन् महोदयाः "We hold that not one religion should be given preferential status... This view of religious impartiality, or comprehension and forbearance, has a prophetic role to play within the National and International life". इति कथयामासुः तथापि कस्मैचिदपि धर्माय प्रामुख्येन अभीष्टतमता संविधाने नापि द्योतिता चेद् व्यवहारो बहुधा अन्यथैव प्रतिभाति यद् बहुजनसमुदायस्य धर्माणां कृते प्रच्छन्ना काचन अनभीष्टता हृदये बद्धमूलैव भाति. न कस्मिन्नपि धर्मे पक्षपातः इति तु यद्यपि सत्यं तथापि बहुजनसमुदायस्य धर्माणां कृते यावती अपक्षपातिता भृशं द्योत्यते तावती अल्पजनसमुदायस्य धर्माणां कृते कुत्र द्योतिता ?

एतेन अस्मिन् राष्ट्रे तथा जगति अन्यराष्ट्रेष्वपि या हि दिव्यसन्देशवाहकभूमिका एतादृशस्य संविधानप्रस्तावनागता to secure to all its citizen JUSTICE, social, economic and political; LIBERTY

of thought, expression, belief and faith and worship. EQUALITY of status and of opportunity; and to promote among them all FRATERNITY assuring the dignity of the individuals" इत्येवं मन्त्रोपमा शब्दराशी या घण्टाघोषेण बोधिता तस्याः नैरथर्क्यापादको अभिप्रेतार्थरूपो हि अधिष्ठातृदेवो मा-मा तिरोभवतु इति सर्वबुद्धिप्रेरकः परमात्मैव अत्र आश्रणीयो मन्ये यथाहि अवोचन् श्रीमदाचार्यचरणाः —

"अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेषु अव्रतयोगिषु।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्णएव गतिः मम!"



